आत्म-निवेदन

बिड़ला परिवार, उनके सम्बन्धियों, उनके इष्टमित्रों एवं उनके विश्वस्त प्रबन्धकों ने अपने नितान्त व्यक्तिगत संस्मरण और निजी पत्राचार मुझे कृपापूर्वक इस पुस्तक के लिखने के निमित्त उपलब्ध कराये हैं। उनके प्रति आभार प्रकट करके मैं जी. डी. बाबू के प्रति उनके सहज पूज्यभाव की गरिमा को कम नहीं करना चाहता। इस अमूल्य सामग्री के उपयोग में मुझसे जितनी अपूर्णताएं हुई हैं, उनके लिए क्षमायाचना करना अवश्य मेरा धर्म है और मुझे भरोसा है कि मुझे क्षमा मिलेगी क्योंकि–

'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'

(चलने में मनुष्य का पैर कभी-कभास भूल से फिसल ही जाता है)

लेखक
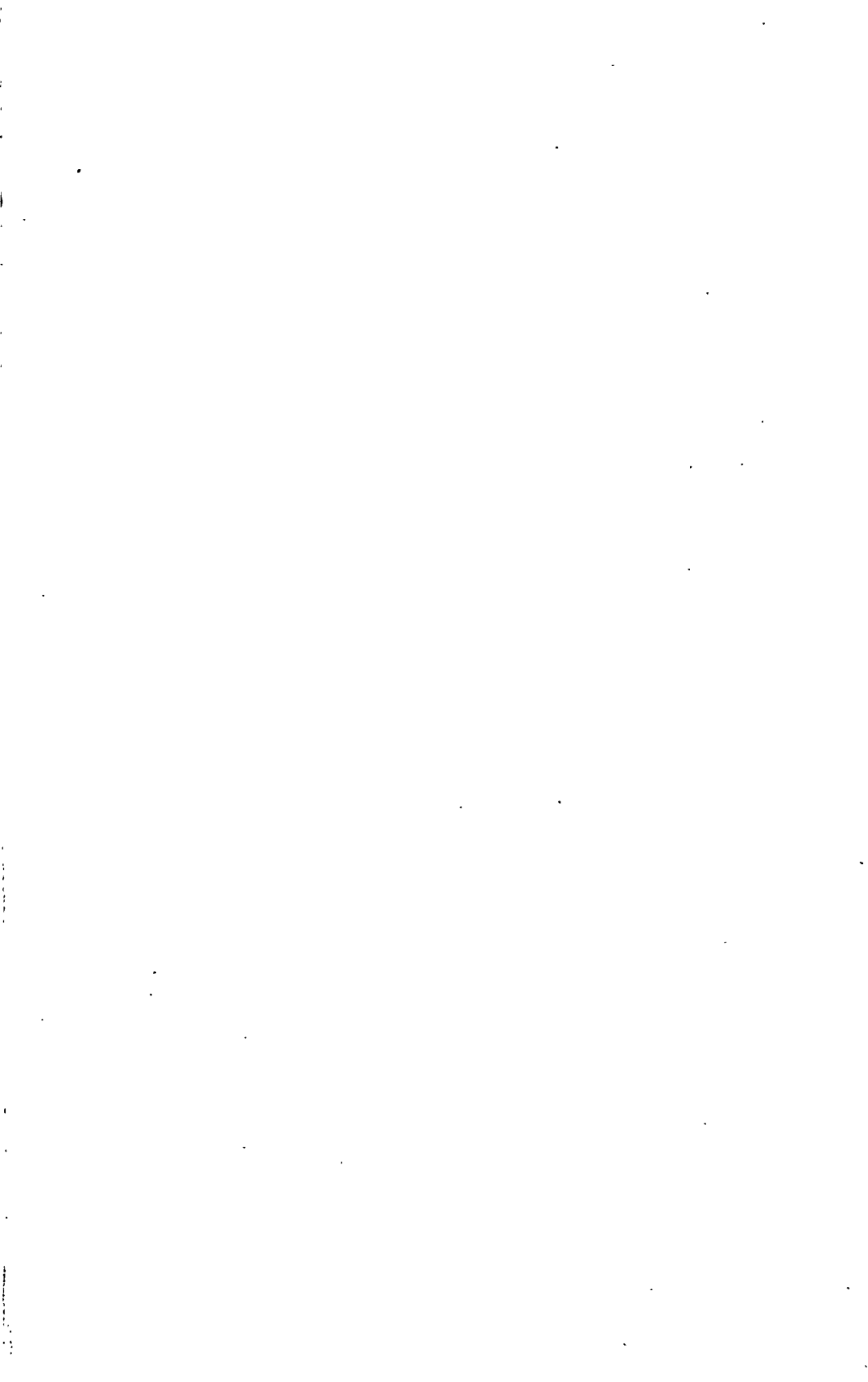
अनुक्रमाणिका

आत्म-निवेदन

प्रथम खण्ड : जीवन-चरित

द्वितीय खण्ड : जीवन-दर्शन

आर्थिक क्रान्ति का अग्रदूत

स्वाधीनता-यज्ञ

सारस्वत पुरुष

मूल्यांकन

आत्म-निवेदन

कृष्णं वंदे जगद्गुरुम् की विमोचित प्रति पर
पूज्य बाबूजी का आशीर्वाद

श्रद्धेय जी. डी. बाबू

रहस्यमय बने रहेंगे—
यही तो आपने कहा था !

घनश्यामदास बिड़ला के बारे में सबसे अच्छी किताब कोई लिख सकता था तो स्वयं घनश्यामदास बिड़ला ही। दो कारणों से यह बात कहता हूँ। पहली यह कि अपने घरेलू सेवक हीरा से लेकर अपने राजनीतिक आराध्य महात्मा गाँधी तक विभिन्न प्रकार के लोगों के बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह प्रमाणित करता है कि व्यक्ति-चित्र आँकने में वह बेजोड़ थे। दूसरी यह कि उन्होंने अपना अन्तरंग किसी को बनाया तो अपने को ही—स्वयं उनके शब्दों में, ''जी. डी. इज़ माई बेस्ट कम्पनी।''

आत्मचरित लिखने की बात शुरू में उनके मन में उठी भी थी। 'वे दिन' नाम से अपने बचपन के संस्मरण उन्होंने लिखे और छपवाये। फिर 2 जनवरी '63 को पिलानी के सहलजी के नाम अपने एक पत्र में उन्होंने ऐसा संकेत दिया कि ढाई-तीन सौ पृष्ठ तक का संस्मरणात्मक ग्रन्थ अगर कभी फुरसत मिली, तो लिखूँगा।

किन्तु न केवल यह योजना साकार नहीं हुई, बल्कि उन्होंने किसी दूसरे को भी उनका जीवन-चरित लिखने की योजना साकार नहीं करने दी। घनश्यामदासजी जीवन-चरित लिखे जाने के हर प्रस्ताव पर वही टिप्पणी करने लगे, जो कभी महामना मदनमोहन मालवीय ने अपना जीवन-चरित लिखने-लिखवाने के उनके प्रस्ताव पर की थी—''जीवन-चरित पढ़ना है तो श्रीमद्भागवत पढ़ो मेरे जीवन में क्या रखा है?'' घनश्यामदासजी ने बराबर यह

कहा है कि एक व्यक्ति के रूप में उनका कोई विशिष्ट स्थान नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए। इस नाते वह आत्मचरित लिखने के विरोध में थे। किसी भी सामान्य नर का जीवन-चरित उनकी दृष्टि में महत्वहीन था—

"यदि गंगाजल मिलता है तो गन्दे पोखरे का पानी क्यों पीना चाहिए? ऐसे उदात्त चरित्रों को छोड़कर अन्य सामयिक और अनित्य जीवन-साहित्य से जन-समूह को क्या उपलब्धि हो सकती है?"

आगे चलकर जी.डी. बाबू ने (मैं उन्हें पारिवारिक-औद्योगिक परिवेश में प्रचलित इसी नाम से याद करने की अनुमति चाहूँगा, क्योंकि घनश्यामदासजी कहने की शुष्क औपचारिकता मेरी लेखनी से सध नहीं पायेगी) आत्मकथा-लेखन को दार्शनिक स्तर पर अस्वीकार कर दिया—"मित्रों का आग्रह हुआ कि जीवन-वृत्त लिखूँ तो वह कौन-से 'मैं' का। कई मृत्युएँ मेरी हो चुकी हैं और कई जन्म भी हो गये। नये-नये रंग आये और वे सब भी चले गये, तो फिर कौन-सा वह 'मैं' था असली कि जिसकी मैं गाथा गाऊँ? जब कोई लेखक अपने विचारों को लिपिबद्ध करने बैठता है तब उसका दिमाग साफ होना चाहिए। उलझन में पड़ा हुआ लेखक लिखेगा भी क्या? दूसरा प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि अपना जीवनवृत्त लिखने का तात्पर्य क्या है? मात्र मनमोदन? कुछ मित्रों ने यह भी कहा कि मेरी जीवन-कथा नयी पीढ़ी के लोगों के लिए दीपशिखा का काम करेगी। मनमोदन की बात में कुछ तथ्य है सही, पर मनमोदन शिक्षाप्रद हो सकता है ऐसा मानना मेरी मूर्खता होगी। मनमोदक और शिक्षाप्रद इन दोनों में पूरा मेल नहीं है। बात यह है कि अपना जीवन-चरित लिखनेवाला व्यक्ति कितना भी सम्मानित क्यों न हो, यदि वह यह मानता है कि मेरी आत्मकथा लोगों के लिए एक दीपशिखा का काम देगी और जनसमूह के लिए मार्ग-प्रदर्शन करेगी तो वह अपने जीवन का झूठा मूल्यांकन करता है और अपने आपको धोखा देता है।"

आत्मकथा को जी. डी. बाबू ने आत्म-विज्ञापन का पर्याय ठहराया और इस ओर ध्यान दिलाया कि जिस दौर में लगभग एक ही-सा माल तैयार करने वाली कम्पनियों में अपने माल को सर्वश्रेष्ठ ठहराने का चलन शुरू हुआ, उसी में भेंटवार्त्ताओं, वक्तव्यों और जीवनियों और आत्मकथाओं के माध्यम से अपनी तारीफ करने-करवाने की होड़ शुरू हुई। बहुपठित जी.डी. बाबू के ध्यान में निश्चय ही अमेरिकी लेखक नार्मन मिलर की आत्मकथा का शीर्षक रहा होगा—'एडवरटाइजमेंट फॉर माईसेल्फ' (आत्म-विज्ञापन)।

अपने काम को बोलने देने और स्वयं अनाम रहने की प्राचीन भारतीय परम्परा की भी जी.डी. बाबू ने दुहाई दी—"न तो व्यासजी ने अपने बारे में कभी कुछ लिखा और न उपनिषदों के रचयिताओं ने ही अपना कोई इतिहास लिखा। यह निष्क्रियता की भावना प्राचीन काल में हजारों वर्ष तक हमारे यहाँ चलती रही।"

सच पूछिए तो जी. डी. बाबू में अनाम रहने का यह आग्रह तब भी रहा होगा जब वह अपने संस्मरण लिखने के पक्ष में थे। आमतौर से लोग-बाग संस्मरण लिखते हुए, याद किए जानेवाले व्यक्तियों के साथ-साथ, अपने को भी याद कर लेते हैं, प्रातः-स्मरणीयों का उल्लेख करते हुए स्वयं अपना भी स्मरण कर लेते हैं, किन्तु जी. डी. बाबू की लेखनी को इससे सख्त परहेज रहा। गाँधीजी के विषय में उन्होंने कई पोथियाँ लिखीं, लेकिन इन पोथियों में स्वयं जी. डी. के विषय में मुश्किल से, सो भी बहुत ढूँढ़ने पर, चन्द पृष्ठों की सामग्री मिल पायेगी। निस्सन्देह घनश्यामदास बिड़ला को लेखक के रूप में उत्तम पुरुष एकवचन से भयंकर एलर्जी रही।

दृष्टव्य है कि जी. डी. बाबू अपने विषय में लिखने के मामले में जितने कृपण थे, उतने ही अपने विषय में कुछ बोलने के मामले में भी। उनका आग्रह था कि अपने विषय में कुछ भी कहना एक अनधिकार और अर्थहीन चेष्टा है। किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन दूसरे ही कर सकते हैं। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में एक भेंटवार्त्ताकार से उन्होंने कहा—"आप मुझसे व्यक्तिगत प्रश्न न कीजिए। मैं अपने बारे में बात नहीं करना चाहता। अगर आपके पूछने पर मैं कहता हूँ कि मैं एक नेक आदमी हूँ तो एक बेवकूफी की बात होगी। सम्भव है कि मैं नेक न हूँ। मेरी नेकी-बदी का फैसला तो दूसरे लोग ही कर सकेंगे। अपने गुण-दोषों का फैसला खुद करूँ, अपने बारे में खुद फतवा दूँ, यह मुझे सुहाता नहीं।"

जी. डी. बाबू ने व्यक्तिगत स्मृतियों तक का महत्त्व नकार दिया था—"मेरे-आपके संस्मरणों का क्या महत्त्व है। यह 66 करोड़ की आबादीवाला देश है। हर व्यक्ति की रामकहानी है, स्मृतियाँ हैं, आत्मकथा है। लेकिन उससे आता-जाता क्या है? कुछ नहीं! अगर आप यह कहते हैं जी. डी. के जीवन का इसलिए महत्त्व है कि उसने दूसरों को प्रभावित किया है तो मैं आपसे यह कहना चाहूँगा कि कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके जीवन से कुछ अन्य व्यक्ति प्रभावित न हुए हों। संसार में हर चीज दूसरी चीजों से जुड़ी हुई है और हर व्यक्ति एक-दूसरे पर असर डाल रहा है।"

जी. डी. बाबू ने तो जी. डी. बाबू के विषय में नहीं लिखा, दूसरे भी उनके विषय में विशेष कुछ लिख नहीं पाये। उनके समकालीनों और सहयोगियों के संस्मरणों में उनकी कार्य-पद्धति और उनके लोक-व्यवहार का ब्यौरा भले ही उपलब्ध हो, कोई अन्तरंग चित्र हमें नहीं मिलता। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि अपनी बहुमुखी प्रतिभा के आग्रह से अनेकानेक क्षेत्रों में कार्यरत रहने के कारण उनके पास इतना समय ही नहीं था कि किसी से सच्चे मानों में अन्तरंग हो सकें। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि सामन्ती प्रभाव से राजस्थानी परिवारों में पिता-पुत्र जैसे निकटतम रिश्तों तक में एक स्वस्थ दूरी बराबर बनाये रखी जाती थी, यहाँ तक कि आत्मीयजनों से भी अंग्रेजी के 'फ्रेंक' वाले अर्थ में खुले होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। तीसरा कारण निश्चय ही यह रहा कि जी. डी. बाबू की दूसरी पत्नी का भी देहान्त तब हो गया जब वह मात्र 32 वर्ष के थे। पत्नी के अभाव में घरेलू वातावरण वैसा नहीं बन पाता, जिसमें व्यक्ति अपने बच्चों के साथ दिल खोलकर बात कर सके। यह भी उल्लेखनीय है कि पिता के सम्बन्ध में जानकारी का एक बहुत बड़ा स्रोत, खासकर भारतीय घरों में, माँ ही होती है। इसलिए मातृहीन बच्चे अक्सर अपने पिता को पूरी तरह जान नहीं पाते। भारतीय घरों में व्यक्ति का सबसे आत्मीय रिश्ता अपनी माँ से या पत्नी से होता है। घनश्यामदासजी के विषय में उनकी माताजी अथवा उनकी पत्नी के संस्मरणों का उपलब्ध न होना उनके जीवन-चरितकार का काम बहुत कठिन बना देता है। जी. डी. बाबू के विषय में अन्तरंग संस्मरणों के अभाव का आखिरी मगर अहम कारण यह भी हो सकता है कि सार्वजनिक जीवन में आकण्ठ डूबे होने के बावजूद वह अपने में ही सीमित रहने वाले अन्तरमुखी व्यक्ति थे।

जीवन के अन्तिम वर्षों में जी. डी. बाबू पर बहुत जोर डाला गया कि वह भले ही आत्मकथा लिखने के विरुद्ध हों, कम-से-कम अपना जीवन-चरित लिखे जाने की अनुमति प्रदान करें और इस सम्बन्ध में जीवन-चरितकार को पूरा सहयोग दें। किन्तु जी. डी. बाबू विशेष उत्साही नहीं हुए।

यह कहना तो गलत होगा कि वह जीवनी लिखे जाने के सर्वथा विरुद्ध थे। बस इतना ही कि ऐसे आयोजन से अपने को सम्बद्ध करना उन्हें किसी भी प्रकार कीर्तिकर प्रतीत नहीं होता था। जिस वजह से वह सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी आत्मकथा लिखने से परहेज करते आये थे, उसी वजह से उन्हें किसी से अपना जीवन-चरित लिखवाना भी संकोचप्रद मालूम होता था। उन्हें आशंका थी कि इससे सस्ती चाटुकारिता का वातावरण बनेगा। तो एक ओर पुत्रों का आग्रह था कि काकोजी, आप अपनी जीवनी लिखवा लें और दूसरी ओर इस विषय में उनके अपने

घोषित सिद्धान्त थे। कुल मिलाकर धर्मसंकटवाली स्थिति थी। उन्हें अनेक यशस्वी अंग्रेजी लेखकों, पत्रकारों के नाम सुझाये गये कि आपकी अनुमति हो तो इनमें से किसी से आपका जीवन-चरित लिखने को कहें। वह मुस्कराकर बात टालते गये। उन पर एक वृत्तचित्र बनाया जाने लगा, लेकिन इसमें भी उनसे कोई व्यक्तिगत प्रश्न किया गया तो उत्तर में वही अल्पतम उत्तर मिला। लगभग मौन के बराबर।

इस सन्दर्भ में उनके पुत्र बसन्तकुमारजी बिड़ला ने मुझसे भी कहा कि काकोजी को जीवनी लिखवाने के लिए राजी करो। जब यह बात मेरे सामने आयी तो मन को संस्कृत की वही पुरानी लोकोक्ति घेरने लगी—'उचितज्ञासि तुले किं, तुलयसि गुंजाफलैः कनकम्' (तराजू, क्या तुम्हें उचित-अनुचित का फर्क मालूम है जो तुम सोने को जंगली गुंजाफल के दानों से तोलोगी?) लेकिन फिर मैंने यह गुस्ताखी करने की सोच ली। मेरा सौभाग्य कि उन्होंने सदा ही मुझे न केवल अपने पास उठने-बैठने दिया, बल्कि बातचीत में मेरी दो-टूक दुस्साहसिकता को उदारता और विशाल-हृदयता से सराहा। मुझ-जैसे सर्वथा साधारण व्यक्ति के बारे में, एक बार मेरे काव्य-पाठ के बाद, अपने बम्बई के फ्लैट में बसन्तकुमारजी से उन्होंने कहा, "बसन्ता, देख यह रामनिवास खरा आदमी है।" इस सन्दर्भ में मुझे एक संस्मरण याद हो आया है। पिलानी छात्र-परिषद् के अध्यक्ष की हैसियत से 1950 में मैंने मुद्रास्फीति पर उनके द्वारा दिये गये भाषण की अनेक स्थापनाओं का उनकी उपस्थिति में खण्डन करने की जुर्रत की थी। उस शाम को उन्होंने मुझे चन्द्रभवन बुला भेजा। मुझे आशंका थी कि नाराजगी जाहिर करेंगे, किन्तु उन्होंने मुझसे यही पूछा कि आगे क्या पढ़ना-करना चाहते हो। जाते हुए वह मेरे लिए 20 रुपये मासिक की मैरिट छात्रवृत्ति स्वीकृत कर गये और शुकदेवजी पाण्डे को यह सन्देश भी दे गये कि यह जब पिलानी छोड़े तब मुझे सूचित कर देना या इसे कलकत्ता बसन्तकुमार के पास भेज देना। इस प्रकार आज से 33 वर्ष पूर्व आखिरकार मैं कलकत्ता भेज दिया गया जहाँ बसन्तकुमारजी ने मुझे अपने पास नियुक्त कर लिया।

इधर 1974 में कलकत्ता में उनके ही घर पर सान्ध्य भोजन के बाद मैंने अस्सी वर्षीय जी.डी. बाबू की जमुनोत्री-यात्रा का एक वृत्तचित्र रमणलालजी बिन्नानी के साथ देखा। इससे मैं इतना रोमांचित हुआ कि बिन्नानीजी के प्रोत्साहन से मैंने एक ही रात में आठ कविताएँ लिख डालीं, जो बिड़ला परिवार के स्वजनों को बहुत पसन्द आयीं। मई महीने में जी. डी. बाबू गंगालहरी गये हुए थे। वहाँ बसन्तकुमारजी के आग्रह पर मैंने ये कविताएँ जी. डी. बाबू को सुनायीं, कुछ

संकोच के साथ, क्योंकि जी. डी. बाबू कविताएँ पढ़ना ही पसन्द करते थे, सुनना नहीं, और फिर ये कविताएँ तो उनके व्यक्तित्व से प्रेरित थीं, और अपने बारे में बात करना उन्हें पसन्द नहीं था। जी. डी. बाबू ने कविताएँ प्रेम से सुनीं और फिर टिप्पणी की, "रामनिवास ने चित्र बहुत अच्छा बनाया है, पता नहीं यह है किसका!"

इसके बाद साहित्यिक-सांस्कृतिक मंच पर अक्सर उनके सान्निध्य का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ और वह कभी-कभी यों भी मुझे बातचीत के लिए बुलाते रहे। जिन सभाओं में उनका भाषण होता, वह कहते कि मैं सामने बैठकर सुनूँ और बाद में भाषण पर टिप्पणी करूँ, मानों यह सार्वजनिक भाषण भी घरेलू बैठक में हो चुके वार्तालाप की ही अगली कड़ी हो। कहने का मतलब यह है कि उनके जीवन के अन्तिम नौ वर्षों में मुझे उनसे अनेक बार विस्तृत बातचीत करने का अवसर मिला और उन्होंने मुझसे ऐसी बातें कहीं और मुझे ऐसी बातें पूछने दीं जैसी सामान्यतया उनकी अन्तरंग गोष्ठियों तक में नहीं पूछी-कही जाती थीं। मैं घर लौटकर इन वार्त्तालापों का सार डायरी में अंकित करता रहा। अगर मुझे यह पता होता कि जी. डी. बाबू के किसी भावी जीवनी-लेखक के लिए यह दुर्लभ सामग्री बन जानेवाली है तो कदाचित् मैं उनसे अधिक विस्तार से बातें करके पूरा ब्यौरा लिखता रहता।

खैर, इतनी सामग्री तो पास में थी ही; तो एक दिन मैंने जी. डी. बाबू से प्रार्थना की कि मुझे टेप-रिकार्डर लेकर विस्तृत प्रश्नोत्तर करने की अनुमति दें। इस नयी सामग्री और डायरी में दर्ज पुरानी सामग्री के आधार पर मैं कुछ मूल्यवान विचार भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने का यत्न करूँगा। किन्तु वह इस अनुरोध को भी टाल गये।

मैं इसी सोच में था कि बात को नये सिरे से कैसे उठाऊँ कि जनवरी 1983 में कलकत्ता के 'संगीत कला मन्दिर' में रामकिंकरजी उपाध्याय के मानस-प्रवचन के रजत जयन्ती समारोह में अनायास ही उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ। यहाँ अपना अत्यन्त आह्लादकारी और अविस्मरणीय भाषण समाप्त करके (किसे पता था कि यही उनका अन्तिम सार्वजनिक उद्बोधन था) वह मंच से मुझे पुकारते हुए नीचे आये। आदत से लाचार मैं पीछे कहीं खड़ा था। तुरन्त उनके पास पहुँचा। वह बोले, "हाँ, रामनिवास, बताओ तुम्हें कैसा लगा?" मैंने कहा कि आप आधुनिक नहीं हैं लेकिन यहाँ आपने आधुनिक शैली में खूब दार्शनिक और मार्मिक बातें कही हैं ताकि नयी पीढ़ी के पल्ले पड़ सकें। उन्हें यह स्थापना अच्छी तो लगी पर पूरी तरह मान्य नहीं हुई, क्योंकि वह यह मानने को तैयार नहीं थे कि वह आधुनिक नहीं

थे। इसी प्रसंग में बात में से बात निकालते हुए मैंने उनसे पुनः अनुरोध किया कि यदि आप अपने को 90 वर्ष के युवा मानते हैं तो अपनी जीवनी लिखवाएँ। आप जैसे युवा को आज की युवा पीढ़ी के लिए अपने जीवन के कुछ अनुभव विरासत के रूप में देने ही चाहिए। इस पर वह हँसकर बोले, "शास्त्र कहते हैं कि अपने मन की सारी बातों को कहो मत, रहस्यमय रहो, कठिनाई में नहीं गिरोगे। अतएव अपने मन की बातों को जाहिर करने के चक्कर में नहीं जाना ही अच्छा है।" ऐसा लगता था कि यह प्रकरण अब उनकी तरफ से तो समाप्त ही है। उधर रामनवमी के उत्सव के बाद यह सूचना मिली कि जी. डी. बाबू जुग (स्विट्जरलैंड) में नव-निर्मित आवास 'पारिजात' के गृह-प्रवेश के लिए कुछ ही दिनों में विदेश जा रहे थे। मैं इतनी आसानी से हार मानने वाला नहीं था, इसलिए मैंने उनके प्रस्थान से एक दिन पूर्व 30 अप्रैल 1983 को उन्हें एक पत्र लिखा :

"व्यक्ति-पूजा में मेरा विश्वास नहीं है। पर, व्यक्तित्व के पूजन-मनन और आराधन में मुझे अकारण और अनायास आनन्द आता है। आपके सामने एक बाल-विद्यार्थी बनकर बैठने का स्वाद ही अलग है। जिज्ञासा को जो तृप्ति मिलती है उस समय, और उठने के बाद जो प्यास बढ़ती है उसमें, उसको नहीं बताना ही अच्छा है। रहस्यमय बने रहेंगे, यही तो आपने कहा था।

"बसन्तकुमारजी ने आजकल कई लोगों को एक बात कहकर भयग्रस्त कर रखा है—'Father may not co-operate with anybody about his biography.'

"आपके मानस को किंचित समझते हुए मैं भी कहता हूँ कि छोड़ देना पड़ेगा बायग्राफी की बात को। आखिर, जीवनी-लेखन में घटनाओं का ही तो वर्णन आने वाला है। जीवन-दर्शन पर लिखा जाये, यदि लिखना ही है तो।

"किन्तु, जीवनी-लेखन और जीवन-दर्शन-लेखन काफी अलग हैं। जीवन के पहलुओं पर लिखा जायेगा तो सम्बद्ध व्यक्ति के चिन्तन, सृजन और स्वप्न का विलक्षण स्वरूप सामने आयेगा। क्रम और घटनाएँ तो उसमें भी हो सकती हैं, किन्तु प्रयोजन हेतु, परिपाटी पालने के लिए नहीं। यह सब तो हम लोगों की बकवास है, पर आप ही संकेत दे सकेंगे अपनी अभिरुचि का।

हम-जैसे लड़के आपके सामने बैठकर भी कुछ बोलते हैं, तो कुछ कहने के लिए नहीं, मात्र सुनने के लिए। अधिक-से-अधिक सुनने का लोभ हो तो थोड़ा

बोलना भी पड़ता है। जिसे प्रकाश का आनन्द लेना है उसे दीपक तो जलाना ही होगा। पर प्रकाश तब सब को मिलेगा, केवल एक को नहीं।"

सुबह मैंने यह पत्र भेजा और उसी शाम को मुझे उनके नयी दिल्ली स्थित निवास 'मंगलम्' में उनके साथ भोजन करने का बुलावा मिला। भोजन के बाद विदा लेते हुए मैंने जब उनके पाँव छुए, तब आनन्द-भाव से अपना आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा, "मैं तो कल सुबह उड़ जाऊँगा—जुग जा रहा हूँ। तुम पाँच-छः दिन के लिए वहाँ आ सको तो आना, तुम्हारे पत्र के बारे में वहीं बात करेंगे।" दुर्भाग्य कि मैं स्विट्जरलैंड नहीं जा सका और जी. डी. बाबू से उनके जीवन और दर्शन के विषय में विस्तृत प्रश्नोत्तर करने के अवसर से वंचित रह गया। इस वंचना की टीस बड़ी गहरी है क्योंकि मुझे लगता है कि शायद यह पहला मौका था जब वह अपने भीतर को खोलने-बताने के लिए तैयार हो रहे थे। उनकी इस मानसिकता का अनुमान मैं इस आधार पर कर सकता हूँ कि उन्होंने मेरा यह पत्र जुग तथा लन्दन, दोनों ही स्थानों में कुछ अन्तरंग लोगों को पढ़ाया था, जिसकी जानकारी मुझे तब मिली जब हम बम्बई हवाई-अड्डे पर लन्दन से आ रहा उनका अस्थि-कलश लेने गये!

जब 21 जून, 1983 को गंगोत्री में अपने पिताश्री का अस्थि-विर्सजन करके उनके पुत्र कृष्णकुमारजी, बसन्तकुमारजी और उनकी धर्मपत्नी सरलाजी अन्य लोगों के साथ लौट रहे थे, तब जीवनी-लेखन का प्रसंग फिर से उठा। सरलाजी ने मुझसे कहा, "तुम इन वर्षों में वैचारिक आदान-प्रदान के स्तर पर काकोजी के बहुत निकट रहे हो, इसलिए उचित यही होगा कि तुम उनके जीवन पर कुछ लिखो, इस काम को करो।"

मैंने कहा, "मेरी तरह-तरह की सीमाएँ हैं। इस कार्य के लिए मेरे पास न पर्याप्त समय है, न प्रतिभा। जी. डी. बाबू जैसे बड़े आदमी के जीवन-दर्शन पर लिखने के लिए मेरी लेखनी बहुत ही छोटी पड़ती है।"

सरलाजी बोलीं, "तुम्हारी जो सीमाएँ हैं वह हमारी जानी हुई हैं, और तुम्हारी जो सामर्थ्य है उसे भी हम पहचानते हैं। तुम जिस श्रद्धा से और भाव-प्रवणता से लिख पाओगे, उस प्रकार बाहर वाले नहीं लिख पायेंगे।" इस गुरु-गम्भीर दायित्व से बचने की मैंने पूरी कोशिश की। लेकिन जब यह मुझ पर

डाल ही दिया गया, तब मैंने अगस्त के प्रथम सप्ताह में जी. डी. बाबू का पुण्य स्मरण करके यह काम शुरू किया।

जितनी ही मैंने उनकी लिखी हुई और उन पर लिखी गयी सामग्री पढ़ी, जितनी ही मैंने उनके विषय में उनके परिचितों और परिवार वालों से बातचीत की, उतनी ही मुझे यह प्रतीति तीव्रतर होती गयी कि मैंने एक असम्भव काम हाथ में ले लिया है। कुछ वही स्थिति हुई कि जितना ही उसे समझा, उतना ही अपनी नासमझी का अहसास हुआ। कभी जी. डी. बाबू ने स्वयं यह प्रश्न किया था कि "किस 'मैं' की आत्मकथा लिखूँ?" और अब मेरे सामने यह सवाल उठा कि किन जी. डी. बाबू का चित्र आँकूँ? मारवाड़ी व्यापारी का या राष्ट्रवादी उद्योगपति का? अर्थ-विशेषज्ञ का या शिक्षाविद् का? साहित्यकार का कि कलामर्मज्ञ का? दार्शनिक का कि समाज-सुधारक का? ऐसी बहुमुखी प्रतिभा का धनी, इतनी नानाविध रुचियों से सम्पन्न व्यक्ति, जिसने 24 घण्टे के दिन में 48 घण्टे होने का धोखा पैदा करते हुए अपनी हर रुचि और हर कर्तव्य के लिए समय निकाला हो, जिसने सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी प्रतिभा सार्थक की हो, जीवनी-लेखक की पकड़ में आसानी से आ नहीं सकता। जीवनी-लेखक का काम कुछ और कठिन इस नाते भी हो जाता है कि यद्यपि जी. डी. बाबू इतने अधिक सक्रिय रहे तथापि हर काम उन्होंने अपने को लगभग अनाम रखते हुए किया। जिसने यश की आकांक्षा ही न की हो, उसकी यश-गाथा जुटाना मुश्किल ही होता है।

जितना नानाविध जी. डी. बाबू का कृतित्व था, उतना ही बहुमुखी था उनका व्यक्तित्व। उन्हें किसी एक सुपरिचित श्रेणी अथवा वर्ग में रखकर काम नहीं चलाया जा सकता। जीवनी-लेखक उनके व्यक्तित्व को एक छोर से पकड़ने की कोशिश करे तो दूसरा हाथ से छूटा चला जाता है। ऐसे व्यक्ति को आँकना निश्चय ही दुष्कर है, जो व्यक्तिगत जीवन में महात्मा गाँधी का जितना बड़ा भक्त था, आर्थिक क्षेत्र में उनके विचारों का उतना ही बड़ा आलोचक था; जो अपनी आर्थिक मान्यताओं के अनुरूप अनेक कपड़ा-मिलों का मालिक था, मगर व्यक्तिगत गाँधी-भक्ति के रूप में कभी स्वयं खादी पहनता था और परिवारवालों को पहनाता था; एक ऐसा व्यक्ति जो देश के स्वाधीनता-सेनानियों को भी उतना ही मान्य था, जितना कि उन अंग्रेज-शासकों को जिन्होंने कभी उसके खिलाफ आतंकवाद के मामले में वारण्ट निकाला था और एक बार यह फतवा भी दिया था कि—'द बिड़लाज मस्ट बी क्रश्ड'; एक ऐसा व्यक्ति जिसने अपार धनराशि अर्जित की, किन्तु पैसे को और पैसे के पीछे दीवाने रहनेवालों को सदा हेय ठहराया;

एक ऐसा व्यक्ति जो घोर सनातनी वातावरण में पैदा हुआ, पला और जिया, मगर इसके बावजूद एक अर्थ में एक समय आर्यसमाजी भी बना रहा। वास्तव में जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व के उतने ही गुण हैं जितने कि भारतीय मानव के, उतने ही पक्ष हैं जितने कि हिन्दू धर्म के। विडम्बना, विरोधाभास और विरुद्धार्थ से उनका व्यक्तित्व ऐसी चौंध पैदा करता है कि आँखें उस व्यक्ति पर मुश्किल से टिक पाती हैं जो इनसे परे है और समेकित है। जी. डी. बाबू के जीवन-लेखन के इस कार्य में मैंने बार-बार अपने को इस खतरे से घिरा पाया कि कहीं उनके किसी एक पक्ष पर अतिरिक्त आग्रह न हो जाये अथवा उनका कोई पक्ष पूरी तरह छूट ही न जाये।

जीवनी लिखने के लिए जितना लम्बा-चौड़ा शोध-कार्य अपेक्षित था, वह अपनी व्यावसायिक व्यस्तताओं के मध्य मैं न कर सकता था, न कर पाया। विधिवत विस्तृत जीवनी लिखने का काम आगे के लिए, औरों के लिए छोड़कर मैंने मात्र इतना यत्न किया कि उनके जीवन की क्रमबद्ध गाथा के लिए जो भी सामग्री सहज उपलब्ध हो सके, 'गोमुख से गंगासागर तक' शीर्षक से प्रस्तुत कर दूँ, और फिर जी. डी. बाबू के बहुमुखी जीवन और दर्शन के विभिन्न पक्षों को उजागर करने वाली सामग्री सामने रखूँ, अन्त में तमाम बिखरे हुए संकेत-सूत्रों को जोड़कर उनके व्यक्तित्व की समग्रता से साक्षात्कार करूँ और कराऊँ।

जी. डी. बाबू का जीवन-चरित लिखना यों भी बहुत चुनौती-भरा कार्य था और मेरे लिए उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला के इस प्रेरक सुझाव से यह चुनौती कुछ और भी बढ़ गयी कि 'विष्णु सहस्रनाम नहीं, श्रीमद्‌भागवत लिखना'। उनका यह सुझाव निरन्तर मेरे मन में बजता रहा है, कान में गूँजता रहा है, क्योंकि वह स्वयं एक सृजनात्मक व्यक्ति और समर्थ लेखक हैं।

मैंने अपनी ओर से पूरा यत्न किया है कि इस कसौटी पर भी मेरा कार्य खरा उतरे। किन्तु, यह पुस्तक तैयार हो जाने के बाद, शक्ति और सामर्थ्य-भर जोर लगा लेने के बाद, उनके विविध स्वरूपों का यथासम्भव अध्ययन और मनन करने के बाद, मैं यह पाता हूँ कि अगर जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व को कुछ समझ पाने का अभिमान पहले था भी तो मेरा वह अभिमान अब चूर-चूर हो चुका है। और अपने मन में जो अपने को मैं लेखक मान बैठा था वह कितना बड़ा भ्रम था, इसका सही अनुमान तो मुझे इस पुस्तक में भाषा का प्रयोग और चयन करते समय ही हो सका है, जब मैंने यह पाया कि उनकी स्वरूप-विविधता के नाते मुझे अपनी भाषा की वेशसज्जा अनेक अध्यायों में अनेक प्रकार से करनी पड़ी है और ऐसा करने पर भी वह अपर्याप्त ही सिद्ध हुई है। 'रहस्यमय बने रहेंगे', यह उन्होंने कहा अवश्य था,

लेकिन वह बात कितनी गुरुगम्भीर थी, यह मैं अब जान पाया हूँ। दायित्व की गुरुता के कारण और अपनी लेखनी के असामर्थ्य के कारण मैं इस यज्ञ को किसी भाँति पूरा नहीं कर पाया हूँ, तो भी यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि जी. डी. बाबू-जैसे 'महापुरुष के गुण प्रकाशित करने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती। कस्तूरी की सुगन्ध किसी की शपथ की मोहताज नहीं रहती।'

सन्तः स्वतः प्रकाशन्ते गुणा न परतो नृणाम्।
आमोदो नहि कस्तूर्याः शपथे न विभाव्यते।।

प्रथम खण्ड

जीवन-चरित

गोमुख

"आखिर मेरी जीवनी लिखने से क्या उद्देश्य सिद्ध होगा?" वयोवृद्ध जी. डी. बाबू ने जिज्ञासु बनकर आये एक भेंट-वार्त्ताकार से स्वयं जिज्ञासा की।

"आपने बहुतों के जीवन को प्रभावित किया है, आपके जीवन-चरित को लिपिबद्ध करने से बहुतों को लाभ पहुँचेगा।" वार्त्ताकार ने उत्तर दिया।

हँसकर जी. डी. बाबू ने इस तर्क को अस्वीकार किया। बोले, "मेरे जीवन को भी तो बहुत लोगों ने, बहुत-सी चीजों ने प्रभावित किया। क्या उन सबकी भी जीवनियाँ लिखोगे तुम?"

अपनी बात को विस्तार से समझाते हुए उन्होंने बताया कि मनुष्य को हर जड़ और चेतन वस्तु प्रभावित करती है। यहाँ तक कि आबोहवा भी, तापमान भी। दत्तात्रेय का नाम सुना होगा तुमने, जिनके चौबीस गुरुओं में पशु-पक्षी शामिल थे। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, सभी व्यक्ति, सभी वस्तुएँ मुझे आकार और संस्कार देने वाले गुरुओं के पद पर आसीन हैं। समूचा पर्यावरण, प्रकृति के समस्त उपकरण मानव-जीवन को पग-पग पर प्रभावित करते हैं। एक विराट चक्र है प्रभावित होने और करने का, जिसमें हर चीज, हर दूसरी चीज से जुड़ी हुई है। सारी सृष्टि समेकित है।

वार्त्ताकार से आग्रहपूर्वक कहा जी. डी. बाबू ने कि मैं और कुछ नहीं, अपने

विशिष्ट देश-काल की, अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक-भौगोलिक परिस्थितियों की अपनी विशिष्ट जाति और पारिवारिक परम्पराओं की एक सामान्य देन हूँ।

जीवनी-लेखक की भूमिका में मेरे लिए आवश्यक हो जाता है कि जी. डी. बाबू की इस भावना का समुचित आदर करूँ। फिर यह धारणा है भी ऐसी जिसे न केवल प्राचीन भारतीय दर्शन से मान्यता प्राप्त है वरन् जिसे अधुनातन भौतिकशास्त्र ने भी अनुमोदित किया है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डा. डेविड ब्राउन जैसे अनेक वैज्ञानिक यह कहने लगे हैं कि सृष्टि समेकित है। हर पदार्थ, ऊर्जा, देश और काल परस्पर गुम्फित हैं, सबसे जुड़े हुए हैं और सबमें सब कुछ समाया हुआ है।

जी. डी. बाबू शेखावाटी के थे। शेखावाटी में भी पिलानी के थे। जी. डी. बाबू मारवाड़ी कहे जानेवाले राजस्थानी वैश्यों में से थे। मारवाड़ियों में भी वह माहेश्वरी थे। माहेश्वरियों में भी बिड़ला थे। उनके परिवार के उत्थान की कहानी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के पाँव जमने से लेकर उखड़ने तक की कहानी के समान्तर चलती है। इतना सब कहने पर और समझ लेने पर ही जी. डी. बाबू की धारणा के अनुसार उनके जीवन-चरित की भूमिका बन सकती है।

तो सबसे पहले यह कि शेखावाटी क्या है? कैसी है? शेखावाटी निर्जन है, बीहड़ है, रेतीली है, अनुपजाऊ है। उस ऊसर में कुछ उपजता है तो जीवट। उस रेगिस्तान से इन्सान को कुछ मिल सकता है तो रणबाँकुरापन—संग्राम में कूदने की, विषमताओं से जूझने की दुर्दम लालसा। इस क्षेत्र के क्षत्रियों ने युद्ध-भूमियों में अपने जौहर दिखाये और इस क्षेत्र के वैश्यों ने मण्डियों में। यह देखा गया है कि जहाँ कुछ नहीं मिलता, वहाँ के निवासी अपने बाहुबल से सब कुछ पा लेने में सक्षम होते हैं। अभावों का उपलब्धि से, परिस्थितियों का सफलताओं से कुछ वैसा ही नाता दिखायी देता है जैसा कि आवश्यकता का आविष्कार से। इसरायल की मरुभूमि ने वे यहूदी दिये, जो सारे यूरोप और अमरीका में वाणिज्य-व्यवसाय-कौशल के प्रतीक बने; और शेखावाटी के रेगिस्तान ने वे मारवाड़ी दिये, जो सारे भारतवर्ष में लक्ष्मी के अन्यतम सफल साधकों के रूप में जाने गये।

शेखावाटी का नाम एक दन्तकथा के अनुसार राव शेखा के नाम पर पड़ा, जो जयपुर-नरेश के पुत्र थे और एक शेख की दुआ से जन्मे थे। एक अन्य किंवदन्ती के अनुसार, शेख बुरहान के दो राजपूत भक्तों ने अपने आराध्य के आदेश पर

शुभदिन, शुभ मुहूर्त हमला करके यह सारा क्षेत्र जीत लिया और इसका नाम शेखावाटी रखा। नाम चाहे जैसे पड़ा हो, यहाँ के राजघराने के लोग शेखावत कहलाये। राजस्थान में ऐसा माना जाता है कि कोई भी परिवार सात पीढ़ी से ज्यादा फलता-फूलता नहीं। लक्ष्मी रूठकर रहती है। शेखावतों के मामले में यह बात ठीक ही निकली। सातवीं पीढ़ी में परिवार में आपसी झगड़े उठ खड़े हुए और शेखावाटी बँटने लगी। आठवीं पीढ़ी में तो जिसे कहना चाहिए इसकी चिन्दियाँ उड़ गयीं। इस तरह 15वीं शताब्दी में धूमधाम से शुरू हुई शेखावाटी रियासत पूरी तरह गर्दिश में आ गयी।

शेखावाटी का एक छोटा टुकड़ा था—बठोड़, जिसे राजवंश के दलेलसिंहजी ने अपनी राजधानी बनाया। पास के एक छोटे-से गाँव में गढ़ी चिनवाई और उसका नाम रखा दलेलगढ़। यह किला तो क्या था, गारे की दीवार का एक घेरा था गाँव के चारों ओर, जिसमें चार फाटक लगा दिये गये थे। ये फाटक रात को बन्द किये जाते और सुबह खुल जाते। एक बार इस दलेलगढ़ पर सीकरवालों ने हमला किया। उस लड़ाई में दलेलगढ़ की रक्षा करते हुए एक पिलाणिया जाट ने अभूतपूर्व पराक्रम दिखाया। उसके नाम पर लोगबाग दलेलगढ़ को पिलाणी या पिलानी कहने लगे।

गढ़ी नाममात्र की थी तो उसके भीतर बचाने और छिपाने को जो कुछ था सो भी नाममात्र को ही था। रेत ही रेत। रेत के टीले। टीबों के बीच बासे यानी झोंपड़ों की बस्ती। एक नैयरा बास जिसमें ब्राह्मण रहते और दूसरा पिलाणिया बास जिसमें जाट रहते। कहीं कोई पानी नहीं। कहीं ज्यादा हरियाली नहीं। आश्चर्य कि बड़ यानी बरगद का एक बहुत बड़ा पेड़ यहाँ जरूर था, जिसके नाम पर पिलानी को बड़वाली पिलानी कहा जाता था। लोक-कलाकारों की मण्डली नाचती-गाती कहा करती, "गाँव पिलानी बड़ की निशानी।"

जितनी उमर इस पिलानी की है उससे आधी उमर है उस पुरानी हवेली की, जिसमें जी. डी. बाबू के पूर्वज जन्मे थे। जैसा कहा जा चुका है, गाँव में ब्राह्मण और जाट परिवार अधिक थे। जो वैश्य परिवार थे सो भी अग्रवाल। माहेश्वरियों का परिवार बस जी. डी. बाबू के पूर्वजों का ही था। इसीलिए आज तक कहा जाता है कि पिलानी के माहेश्वरी अपनी रीति-रिवाज़ में अग्रवालों जैसे हैं।

माहेश्वरियों को इस बात का गर्व है कि उनके आदि-पुरुष वैश्य नहीं, क्षत्रिय थे। क्षत्रिय से ये वैश्य क्यों बने, इस बारे में कई तरह की दन्तकथाएँ प्रचलित हैं

और उनमें से सभी में यह कहा गया है कि ये क्योंकि महेश्वर के भक्त थे, इसलिए उनके आदेश पर ही इन्होंने वैश्य धर्म ग्रहण किया। जो हो, प्राचीन ग्रन्थ इस बात के साक्षी हैं कि आरम्भ में हमारे देश में वर्ण-व्यवस्था रूढ़ नहीं थी और कोई भी व्यक्ति अपनी रुचि अथवा परिस्थिति के आग्रहवश अपना वर्ण छोड़कर दूसरा वर्ण अंगीकार कर सकता था। वैदिक युग में वैवस्वत मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा प्रसिद्ध ही है जिन्होंने अपने पिता के क्षत्रिय वर्ण को छोड़कर वैश्य वर्ण का वरण कर लिया था और आज से बारह सौ वर्ष पूर्व यह कथा मानो बहत्तर गुनी होकर दुहरायी गयी। आठवीं शताब्दी में राजस्थान में एक ऐसी घटना घटी थी, जिसमें 72 सूर्यवंशी क्षत्रियों ने वैश्य बन जाने का फैसला किया। इन 72 लोगों ने ही माहेश्वरी के 72 गोत्र चलाये। अपने क्षत्रिय अतीत की याद बनाये रखने के लिए ये माहेश्वरी वैश्य आग्रहपूर्वक अपनी व्यवसाय-पीठ को गद्दी ही कहते रहे और, रस्मी तौर पर ही सही, हथियार भी उठाते रहे।

शुरू के उन 72 माहेश्वरियों में एक थे शूरवीर बेहड़सिंहजी पँवार। इनके नाम पर भी राजस्थानी परम्परा के अनुसार वंश का नाम बेहड़ा पड़ा। बेहड़ा का रूप बदलकर पहले बेहड़ला, फिर बेड़ला और अन्ततः बिड़ला हुआ। शांडिल्य गोत्रिय इन बिड़लाओं की मूल गद्दी शेखावाटी के नवलगढ़ नामक स्थान में थी। यहीं से 18वीं सदी में इनकी एक शाखा पिलानी गयी। पिलानी में बिड़लाओं की कहानी जिन कुशल और कर्मठ सेठ भूदरमलजी से आरम्भ होती है उन्होंने अपना व्यापारिक/व्यावसायिक सम्बन्ध-जाल एक छोटे-से गाँव में बैठे-बैठे ही दूर-दूर तक फैला दिया। इनके दूसरे पुत्र माणकरामजी को सूरजगढ़ ठिकानेवालों ने सम्मान सहित बुलाकर किलेदार का पद दिया। तीसरे और सबसे छोटे पुत्र रामसुखदासजी बीकानेर रियासत के सुलखानिया ठिकाने में उच्च राज्याधिकारी बने और साथ ही व्यापार भी करते रहे। भूदरमलजी के ज्येष्ठ पुत्र उदयरामजी पिलानी में ही रहकर वाणिज्य-व्यापार करते रहे। इनके भी तीन बेटे हुए। सबसे छोटे चुन्नीलालजी निस्सन्तान रहे। उनसे बड़े रामधनदासजी सपरिवार ग्वालियर जा बसे। सबसे बड़े शोभारामजी के एक पुत्र हुआ शिवनारायण। शुरू में शोभारामजी पिलानी में ही रहकर धन्धा-रोजगार करते रहे। लेकिन सम्पत्ति के बँटवारे और भयंकर अकाल तथा राजनीतिक उथल-पुथल के कारण घर की आर्थिक स्थिति कमजोर होती चली गयी। जीविका की तलाश में वह पिलानी से बाहर निकले और अजमेर पहुँच गये। यहाँ उन्होंने शेखावाटी के ही सेठ पूरनमलजी गनेड़ीवाला की एक बैंकिंग फर्म की शाखा में काम करना शुरू किया, जिसका प्रधान कार्यालय हैदराबाद में था। पेढ़ी के मुनीम की हैसियत से उन्हें 7 रुपया माहवार वेतन मिलता था। यद्यपि यह वेतन तत्कालीन मानकों के अनुसार

अच्छा ही कहा जा सकता था तथापि एक स्वतन्त्र व्यवसायी के मुनीम बन जाने में परिवार का अवमूल्यन तो निहित था ही।

जिस समय सन् 1859 में सेठ शोभारामजी बिड़ला का देहान्त हुआ, भारत में गदर की विफलता के बाद ब्रिटिश साम्राज्य की विधिवत स्थापना हो रही थी। इन्हीं सेठ शोभारामजी के प्रपौत्र घनश्यामदास ने आगे चलकर उस ब्रितानी साम्राज्य से जूझने और देश को आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने में अन्यतम भूमिका का निर्वाह किया। किन्तु उसकी कहानी शुरू करने से पहले हमें उसके दादा सेठ शिवनारायण और पिता राजा बलदेवदास की कहानी जाननी होगी।

गंगोत्री

आमतौर पर आजकल किसी भी व्यक्ति के संदर्भ में उसके पूर्वजों का उल्लेख मात्र खानापूर्त्ति के लिए ही किया जाता है। इस युग में परिवर्तन इतनी तेजी से हुए हैं कि नयी पीढ़ी के सफल व्यक्तियों का अक्सर अपने पूर्वजों की वृत्ति और प्रवृत्ति से कोई विशेष लेन-देन नहीं रहा है। किन्तु जी. डी. बाबू के संदर्भ में उनके पिता राजा बलदेवदासजी और पितामह सेठ शिवनारायणजी का उल्लेख करना मात्र एक औपचारिकता नहीं, आवश्यकता है। ऐसा लगता है कि सेठ शिवनारायणजी में कुछ ऐसे गुण-सूत्र थे जिनका राजा बलदेवदास में विकास हुआ और जो घनश्यामदासजी में पूरी तरह पुष्पित-पल्लवित हुए। दूसरे शब्दों में यह कि घनश्यामदासजी की कहानी सच्चे अर्थों में शिवनारायणजी से शुरू होती है। यह भी कहा जा सकता है कि घनश्यामदासजी की कहानी में उनके पितामह सेठ शिवनारायणजी की ही कहानी अपने चरमोत्कर्ष, अपनी चरितार्थता को प्राप्त हुई है।

सेठ शिवनारायणजी के जो गुण घनश्यामदासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व में पूरी तरह फले-फूले, वे हैं:—लीक छोड़कर चलने का साहस, परम्परा का पूरा आदर करते हुए भी अपने को युगानुकूल ढाल सकने की क्षमता, नीति-प्रेम, खरी और खोटी प्रगति में अंतर कर सकने का विवेक, ज्ञान की पिपासा, कड़ा आत्मानुशासन और धर्म-दर्शन में गहन रुचि, समाज के प्रति कर्त्तव्य-बोध और दानवृत्ति। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है लीक छोड़कर चल सकने का गुण, क्योंकि अगर यह सेठ शिवनारायणजी में नहीं होता, तो वह सेठाई की ओर अग्रसर न होते

और न ही धनार्जन के लिए दिसावरी का मार्ग चुनते। वह भी अपने पिता की तरह मुनीमी करके सन्तुष्ट हो रहते।

गदर के एक साल बाद जब श्री शोभारामजी का असामयिक निधन हुआ, तब उनके इकलौते बेटे शिवनारायणजी 16 वर्षीय किशोर थे। परिवार की आर्थिक अवस्था पिता के समय से ही चिन्ताप्रद चली आ रही थी। बल्कि सच तो यह है कि आर्थिक अवस्था बिगड़ने के कारण ही शोभारामजी स्वतन्त्र व्यवसाय छोड़कर गनेड़ीवालों के मुनीम बनने को बाध्य हुए थे। अगर ऐसी स्थिति में किशोर शिवनारायण ने स्वयं भी नौकरी पेशे में रहना स्वीकार किया होता तो किसी को कोई आश्चर्य न होता। परन्तु उन्होंने अजमेर से पिलानी लौट जाने का और वहाँ रहकर साझे में व्यापार आरम्भ करने का फैसला किया। साझे का यह धन्धा यों भी बहुत ही मामूली था और फिर उस समय बाजार पर मन्दी छायी हुई थी। लेकिन अपनी व्यापारिक कुशलता के बल पर शिवनारायणजी ने काफी मात्रा में पैसा कमाना और जोड़ना शुरू किया।

1863 में सेठ शिवनारायणजी को बेटे का बाप बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने इस इकलौते बेटे का नाम उन्होंने बलदेवदास रखा। बलदेवदास के जन्म के समय पिलानी हजार-डेढ़ हजार की आबादीवाला एक गाँव था, जिसके वैश्य-समाज में अग्रवालों का प्राधान्य था। बिड़लाओं का बस एक ही परिवार था जो शिवनारायणजी के अथक प्रयास के बावजूद तब तक सम्पन्न वैश्यों की श्रेणी में नहीं आ पाया था। शिवनारायणजी के मन में यह विचार उठा कि कुछ ऐसा करें जिससे परिवार की आर्थिक दशा सुधरे। यह चमत्कार पिलानी में रहकर सम्भव नहीं था । इसके लिए 'दिसावरी' करना, यानी बाहर जाकर किस्मत आजमाना जरूरी था।

पैसा कमाने के लिए घर-द्वार छोड़कर दूरस्थ मण्डियों में जाना मारवाड़ी वैश्यों के लिए जीवन का एक अंग था, जिसके लिए उनकी भाषा में विशेष शब्द थे—मुसाफिरी अथवा दिसावरी। मुगलिया सल्तनत छिन्न-भिन्न हो चली थी, सौदागर बनकर आया अंग्रेज शासक बनने लगा था। परम्परागत मण्डियाँ उजड़ रही थीं। समुद्रपारीय व्यापार के लिए कलकत्ता-बम्बई में नयी मण्डियाँ खुलने लगी थीं। ऐसी स्थिति में राजस्थानी वैश्यों के लिए दिसावरी और अधिक आवश्यक हो गयी थी। शिवनारायणजी को उन वैश्यों की कहानी आकर्षित कर रही थी, जो डोरी-लोटा लेकर दिसावरी पर निकलते और लौटकर अपने पुरखों के गाँव में हवेली-कुँआ और मन्दिर बनवाते थे।

सेठ शिवनारायणजी

अंग्रेजों के शासन के सुदृढ़ होने के साथ देश का आर्थिक नक्शा तेजी से बदल रहा था। परम्परागत मण्डियों का स्थान तटवर्ती बम्बई और कलकत्ता—जैसे नये नगर लेने लग गये थे। मारवाड़ी व्यापारी बड़े पैमाने पर अपनी जन्मभूमि छोड़कर फिरंगियों की बनायी हुई इन नयी मण्डियों में किस्मत आजमाने निकल रहे थे। बम्बई, कलकत्ता की अपेक्षा कम दूर थी, इसलिए शिवनारायणजी ने बम्बई जाने का निर्णय किया। जाने से पहले वह गनेड़ीवालों का आशीर्वाद लेने अजमेर गये। उनका भव्य कारोबार देखकर ही कभी किशोर शिवनारायण के मन में बड़ा व्यापारी बनने की आकांक्षा जगी थी। गनेड़ीवालों ने उन्हें बहुत समझाया कि तुम अभी एक 23 वर्षीय अनुभवहीन नवयुवक हो, तुम्हारे ऊपर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ हैं, इसलिए तुम्हारा रास्ते के तमाम जोखम उठाकर बम्बई में व्यापार करने के लिए जाना ठीक नहीं है। इससे तो कहीं अच्छा यह होगा कि तुम भी अपने पिता की तरह हमारे यहाँ नौकरी कर लो, तुम्हें अच्छा वेतन प्राप्त होगा और अनुभव भी। किन्तु शिवनारायणजी अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। अजमेर से लौटने के बाद शिवनारायणजी ने अपनी अब तक की जमा-पूँजी ली, पिताजी के समय का जो पैसा माँ के पास था वह माँगा और अपने एक किशोर रिश्तेदार सुखदेवदास को बम्बई साथ चलने के लिए राजी किया।

उन दिनों यात्रा कोई ऐसी सहज न थी, हालाँकि रेलगाड़ियाँ कहीं-कहीं से मिलने लगी थीं। दूरस्थ स्टेशन तक का रास्ता ऊँटों पर तय करने के सिवाय और कोई चारा न था। राजस्थान के झुलसते रेगिस्तान और सुनसान पहाड़ों में से होकर ऊँटों के काफिले लेकर जाना और ताल ठोंककर मौत को चुनौती देना लगभग एक ही बात थी, क्योंकि वह निर्जन रास्ता धाड़ैतियों और डाकू-लुटेरों की क्रीड़ा-स्थली थी, जहाँ जिन्दगी और मौत का खेल अक्सर ही चलता रहता था। उस समय का वैश्य क्षत्रियों का बाना पहनता था, ढाल-तलवार बाँधकर चलता था और जरूरत पड़ने पर उन हथियारों को इस्तेमाल करने की कुशलता और बहादुरी भी उसमें कम नहीं थी। एक गाँव से दूसरे गाँव तक की दूरी बीयाबान में से गुजारने के सिवाय चारा ही नहीं था। यही गाँव ऊँटों के काफिले के पड़ाव होते थे। जहाँ काफिला आकर ठहरता, काफिलेवाले प्रति ऊँट एक छदाम या धेला गाँव के राजपूत जमींदार को नज़राना भिजवा देते। बदले में वह अपना एक आदमी साथ कर देता। यह आदमी पथ-प्रदर्शक भी होता और रक्षक भी, जो इन्हें रास्ते के भयानक खतरों से बचाता हुआ अगले गाँव तक पहुँचा देता। इन काफिलों के आते-जाते रहने से जमींदार का साल में एक भी रुपया बन जाता तो वह प्रसन्न रहता। कई यात्रा-खण्ड ऐसे भी होते, जिनमें कोई गाँव नहीं पड़ता, तब यह काफिले खुले में ही पड़ाव करते, और रात-भर तलवारें सूँतकर चौकन्ने रहते कि कोई हमला न हो

जाये। लेकिन जो काफिले नजराना देते और साथ चलनेवाले रक्षकों को खुश रखते थे, उन्हें लूटा नहीं जाता था। वह जमाना था जब चोर-डाकू भी अपने धर्म का पालन पूरी ईमानदारी से करते थे।

तो 23 वर्षीय शिवनारायण 14 वर्षीय सुखदेवदास के साथ ऊँटों पर लगभग एक हजार मील की कष्टप्रद यात्रा तय करके धाड़ैतियों और डाकुओं से बचते-बचाते राम-राम करते 20 दिन में खण्डवा पहुँचे, जहाँ से उन्हें बम्बई के लिए भाप-गड्डी पकड़नी थी। फिरंगियों की चलायी हुई इस रेलगाड़ी की लाइनें तब बम्बई से खण्डवा तक ही पहुँच पायी थीं। उस जमाने में रेल के डिब्बे दुमंजिले हुआ करते थे। नीचे के डिब्बों में अंग्रेज सफर करते थे। उनमें भारतीयों का बैठना निषिद्ध था। ऊपर के डिब्बे तीसरा दर्जा कहलाते थे, जिनमें न सीटें होती थीं और न कोई शौचालय आदि की सुविधा अथवा बत्ती। इन्हीं अँधेरे डिब्बों में जानवरों की तरह भरकर भारतीय यात्रियों को यह रेल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती थी। छोटे सफरवाले तो जैसे-तैसे अपना समय काट लेते थे, लेकिन शिवनारायणजी ने बम्बई तक की लम्बी यात्रा किस तरह पूरी की होगी, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

उस समय बम्बई बस ही रहा था। गुजराती बोहरे, पारसी और अंग्रेज यहाँ के व्यापार पर छाये हुए थे। अंग्रेजों की व्यापार-नीति इस देश का कच्चा माल विलायत भिजवाने और विलायत का तैयार माल इस देश में लाने की थी। बम्बई से कच्चा माल बाहर भिजवाने के काम में अंग्रेजों के सहायक और साझेदार ज्यादातर गुजराती और पारसी लोग थे। चीन को अफीम भेजने के व्यापार में अलबत्ता मारवाड़ी वैश्य अपना अन्यतम स्थान बनाने लगे थे। राजस्थान और समीपवर्ती मालवा क्षेत्र में अफीम की खेती दीर्घकाल से होती आयी है। इसलिए अफीम के व्यापार से मारवाड़ी वैश्यों का सुदीर्घ परिचय था। राजस्थान में तो इतनी अफीम नहीं होती थी कि उसका निर्यात किया जा सके। लेकिन मालवा में उसकी उपज स्थानीय खपत से कई गुना ज्यादा थी। मालवे की इस अफीम की पहली मण्डी इन्दौर थी और दूसरी बम्बई। दोनों ही जगह मारवाड़ी वैश्यों का जमघट था।

अफीम के निर्यात-व्यापार के साथ-साथ अफीम के भाव पर एवरेज का सट्टा भी खूब होता था। चीन के लिए अफीम का निर्यात करनेवाले व्यापारी बम्बई में नीलामी में अफीम खरीदते थे। विभिन्न पेटियों की नीलामी पर लगे भाव का दैनिक औसत निकाला जाता था और सट्टा इस बात को लेकर होता था कि सारे

दिन का भाव क्या रहेगा। एक दूसरी तरह का भी सट्टा था जिसमें उस दिन चीन के लिए रवाना होनेवाले जहाजों पर लदी हुई अफीम का औसत भाव बताना होता था। एवरेज का सट्टा किस्मत और अनुभव-कौशल दोनों का ही खेल था। सीमित पूँजी से अच्छा लाभ कमाने की गुंजाइश अगर कहीं थी तो इसी सट्टे में। शिवनारायणजी इसे अपनाने के इरादे से ही बम्बई पहुँचे।

बम्बई में अलग-अलग क्षेत्रों से आये इन मारवाड़ियों ने अपने लिए अलग-अलग 'बासा' (आवासगृह) ले रखे थे। ऐसे ही एक बासा 'पिलानी मण्डले' में शिवनारायणजी ने डेरा किया। पिलानी के ही एक परिचित व्यापारी हरदयालजी पाडिया के सीर में उन्होंने एवरेज का सट्टा खेलना शुरू किया। सट्टे में वह बहुत ही दक्ष सिद्ध हुए। वह अण्टी में पैसे लेकर चलते थे और सौदे और हिसाब के मामले में 'तुरतदान महाकल्याण' के नियम पर चलते थे। इस तरह के सट्टे में उन्होंने लाखों रुपये कमाये। ऐसे बहुत ही कम अवसर आये जबकि उन्होंने कोई बड़ा नुकसान उठाया। बम्बई में शिवनारायणजी को पोद्दारों की फर्म चेनीराम जेसराज से बड़ा सहारा मिला। इनका टाटावालों से सम्पर्क था। मारवाड़ी लोग अपनी जमा-पूँजी इस फर्म के यहाँ रखते और यह फर्म इसे टाटावालों के यहाँ जमा करवाती। शिवनारायणजी ने भी बम्बई की पहली मुसाफिरी में कमाये 22 हजार रुपये यहीं जमा कराये। चेनीराम जेसराज की गद्दी में ही एक कोने में बैठकर वह अपना अलग धन्धा करते थे।

तीन वर्ष में ही उनको अच्छी कमाई हो गयी। उनके साथ आये तरुण सुखदेव को तो इस कमाई से इतना सन्तोष हुआ कि वह पिलानी लौट गया। लेकिन शिवनारायणजी की महत्वाकांक्षा तो व्यापार-संघर्ष में अभी कुछ और गहरा उतरकर देखना चाहती थी। इसलिए वह अपने धन्धे में पूरी निष्ठा के साथ लगे रहे। पत्नी व बच्चे की याद उन्हें सताती थी। एक बार उन्होंने उन्हें बम्बई बुलाया भी, लेकिन बासे का रहन-सहन उन्हें परिवार के अनुकूल नहीं मालूम हुआ।

समय बीतते क्या देरी लगती है। पिलानी से चिट्ठी आयी कि बलदेवदास 9 साल का हो गया है, अब इसके गले में जनेऊ डलवाओ। तो शिवनारायणजी ने पिलानी को प्रस्थान किया। अब तक 'भाप-गड्डी' के लिए और लाइन अहमदाबाद तक बिछ चुकी थी। इसी रास्ते वह लौटे। बलदेवदास का यज्ञोपवीत संस्कार उन्होंने तीर्थराज पुष्कर में धूमधाम से कराया।

अब तक शिवनारायणजी विधिवत सेठ बन चुके थे और वह सेठ क्या जिसकी अपने गाँव में हवेली न हो। तो पिलानी-प्रवास को कुछ और खींचते हुए

शिवनारायणजी ने अपने गाँव में मकान, शिवालय और कुँआ बनवाने का काम हाथ में लिया। मरुभूमि राजस्थान में कुँआ खुदवाने की विशेष महत्ता है। अगर किसी के कुँए में से पानी मीठा निकल आये तो कहना ही क्या, क्योंकि राजस्थान में ज्यादातर कुँओं से खारा पानी निकलता है। ऐसी मान्यता है कि जो आदमी ईमानदारी की कमाई से कुँआ बनाता है उसके कुँए में से पानी मीठा निकलता है, बेईमानी की कमाई से खोदा कुँआ खारा जल देता है। कहना न होगा कि सेठ शिवनारायणजी के खुदवाये हुए कुँए में से मीठा पानी प्राप्त हुआ।

जब मकान बन गया और नांगल यानि गृहप्रवेश भी हो गया, तब पत्नी की सेवा के लिए एक बहू लाने का प्रश्न प्रस्तुत हुआ। बलदेवदास 12 वर्ष का हो चुका था और राजस्थान में तब इससे भी कहीं छोटी उमर के लड़कों के विवाह कर देने का रिवाज था। शुभ काम में देरी क्यों, विचार उठा और शिवनारायणजी ने चूरू की जोगेश्वरी बाई को बिड़लाओं की नयी हवेली की पुत्रवधू बनाने का प्रबन्ध किया। पुत्र के इस विवाह के चार महीने बाद सेठजी फिर बम्बई के लिए रवाना हो गये।

पिता के जाने के बाद पुत्र का मन भी बम्बई जाकर भाग्य आजमाने को छटपटाने लगा। अन्ततः एक दिन अण्टी में पैसे और पीठ पर ढाल कसकर तथा कमर में तलवार लटकाकर वह भी दिसावरियों की एक टोली के साथ अहमदाबाद के रास्ते बम्बई पहुँच गया। पिता ने साहसी पुत्र का स्वागत किया। पिता और पुत्र मिलकर इस उत्साह से व्यापार में जुटे कि चार ही वर्ष बाद 1879 में उन्होंने मुम्बादेवी के पास अपनी अलग दुकान ले ली और 'शिवनारायण बलदेवदास' फर्म की स्थापना कर डाली। जो सपना लेकर शिवनारायणजी ने अजमेर में मुनीमगिरी ठुकरायी और बम्बई के लिए प्रस्थान किया था सो पूरा हुआ। 1880 में बलदेवदास मुकलावा (गौना) कराने के लिए पिलानी वापस गये और उसके बाद उन्होंने गाँव के लोगों के एक दल को हरिद्वार की तीर्थयात्रा करायी। प्रसाद-स्वरूप अगले ही वर्ष उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। पिलानी में जन्मे इस पोते के लिए दादाजी ने बम्बई से नाम सुझाया जुगलकिशोर। जुगल सरकार आखिर इस वैश्य परिवार के इष्ट जो थे।

उधर बासे के कठिन जीवन से शिवनारायणजी का स्वास्थ्य कुछ खराब होने लगा था। पुत्र इस बीच व्यापार के सारे पेंच समझ चुका था, अतएव उसने पिता को सुझाव दिया कि आप स्वास्थ्य-लाभ के लिए पिलानी चले जायें, यहाँ का काम मैं सँभाल लूँगा। शिवनारायणजी पुत्र के व्यापार-कौशल से सन्तुष्ट थे और उन्हें

पोता देखने की ललक भी थी, इसलिए यह सुझाव स्वीकार करने में उन्हें हिचक नहीं हुई। पिलानी में अब शिवनारायणजी सेठ कहलाते थे। उनके संयुक्त परिवार में पन्द्रह व्यक्ति थे और अनेक नौकर-चाकर। सेवकों और कर्मचारियों को वह परिवार के सदस्यों-जैसा ही मानते थे। श्रम-प्रबन्ध की यह मानवीय दृष्टि उनसे बलदेवदासजी को और बलदेवदासजी से जी. डी. बाबू को विरासत में प्राप्त हुई। बिड़ला प्रतिष्ठानों में आज भी शिवनारायणजी की इस परम्परा का निर्वाह होता है और कर्मचारियों को मालिकों से घरोपा प्राप्त होता है।

शिवनारायणजी और बलदेवदासजी न केवल अपने कर्मचारियों को बल्कि एक माने में सारे पिलानीवालों को ही अपने परिवार का सदस्य मानते थे। इस साधारण हैसियतवाली पिलानी के होकर भी अगर भाग्यलक्ष्मी की कृपा से वह स्वयं बहुत अच्छी हैसियतवाले हो गये थे तो यह उनका कर्तव्य था कि अपने साथ-साथ पिलानी को और पिलानीवालों को भी ऊपर उठायें। यह शिवनारायणजी और बलदेवदासजी की लोकमंगलकारी दृष्टि का ही परिणाम था कि जो पिलानी कभी 'जाटों की पिलानी' और 'बड़वाली पिलानी' जैसे नामों से बाजती थी वही अब 'सेठों की पिलानी' और कालान्तर में 'बिड़लाओं की पिलानी' कहलाने लगी। सार्वजनिक हित के आयोजन बड़े पैमाने पर करने का काम पिलानी में बिड़ला परिवार ने 1885 के आस-पास शुरू किया और तब से उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गयी।

.यद्यपि पुत्र ने व्यवसाय की बागडोर सँभाल ली थी तथापि पिता ने स्वयं को धन्धे से पूरी तरह विरक्त नहीं किया। सेठ शिवनारायणजी बराबर बम्बई प्रवास करते रहे और वाणिज्य-व्यापार में जुटे रहे। कभी-कभी वह मुस्कारकर कहते कि काम नहीं करेंगे तो काम कैसे चलेगा, घर का खर्च तो बढ़ता चला जा रहा है। उस जमाने में जबकि रुपये का दो मन गेहूँ आता था और दूध एक पैसे सेर पर उपलब्ध था—पिलानी में पारिवारिक खर्च सौ रुपया मासिक तक पहुँच चुका था। जिस समय शोभारामजी का देहान्त हुआ, उस समय परिवार की वार्षिक आय 301 रुपये थी और उनकी मृत्यु के 25-30 साल बाद ही परिवार 100 रुपये मासिक खर्च करने की हैसियत में पहुँच गया। इसी से पता चलता है कि शिवनारायणजी और बलदेवदासजी ने बम्बई में धनार्जन के लिए कितना कठोर और सार्थक परिश्रम किया।

पिलानी में हवेली बन चुकी थी, लेकिन बम्बई में अब तक रहने को अपना मकान नहीं था। बलदेवदासजी ने अपने पिता से अनुरोध किया कि वे उन्हें बम्बई

में मकान लेने की अनुमति दें। पिता की अनुमति पाते ही उन्होंने 1891 में फानसवाड़ी में, जो गुजराती सेठों की दृष्टि में गन्दी बस्ती ठहरती थी, मकान ले लिया। मित्रों ने इस 'मूत्रलचाल' में रहने पर व्यंग्य किये, लेकिन बलदेवदासजी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गन्दी बस्ती का यह मकान उनके लिए बहुत भाग्यशाली सिद्ध हुआ और इस वर्ष तथा अगले वर्ष 'शिवनारायण बलदेवदास' को जबरदस्त मुनाफा हुआ। शिवनारायणजी सेतुबन्ध रामेश्वरम् की तीर्थ-यात्रा करने गये। वहाँ यह शुभ समाचार मिला कि पिलानी में दूसरे पौत्र का जन्म हुआ है। उन्होंने लिखा कि इसे रामेश्वर का प्रसाद मानकर 'रामेश्वरदास' कहा जाये।

शिवनारायणजी प्रसन्नचित्त पिलानी लौटे और उन्होंने अपने बड़े पोते जुगलकिशोर का, जो अब बम्बई में पिता और दादा की देखरेख में व्यापार-कार्य सीखने लगा था, रिश्ता पक्का किया और ब्याह रचाया। ग्यारह वर्षीय जुगल किशोर की बारात बहुत धूमधाम से फतेहपुर ले जायी गयी जिसमें एक हाथी, दस रथ, बीस घोड़े और अनेकानेक ऊँट थे। सेठाई पद प्राप्त करने के बाद यह पिलानी के बिड़लाओं का पहला बड़ा मांगलिक कार्य था और शिवनारायणजी यह नहीं चाहते थे कि पिलानी की सेठाई की प्रतिष्ठा को कोई आँच आये।

सन् 1894 में रामनवमी के शुभ दिन शिवनारायणजी के तीसरे पोते का जन्म हुआ, जिसका नाम उन्होंने घनश्याम रखा। यों प्यार से वह अपने इस पोते को 'घणश्यो' कहते थे। शिवनारायणजी को अपने पोतों से बहुत प्यार था और अगर उनकी तबियत जरा-सी भी खराब होती, तो वह औषधि-उपचार कराने के साथ-साथ दान-पुण्य कराना भी आवश्यक समझते।

बम्बई में इस बीच 'शिवनारायण बलदेवदास' बराबर उन्नति करती चली गयी थी, लेकिन तत्कालीन परम्परा के अनुसार इसका 'सराफा मुहूर्त' अब तक नहीं कराया जा सका था। इसलिए दलाल लोग फर्म के नाम पर लेवा-बेची कर नहीं सकते थे। तीसरे पोते के जन्म के इस वर्ष में यह कमी भी पूरी कर दी गयी।

लक्ष्मीजी सदा सहायक हो रही थीं कि 1896 में बम्बई में एक विचित्र और विप्लवकारी क्रम शुरू हुआ। पहले लगातार 3 दिन तक मूसलाधार बरसात हुई। फिर इस बरसात के प्रताप से समुद्र का पानी मीठा हो गया। श्रद्धालुजन इस मीठे पानी को पीने गये—शिवनारायणजी भी। इस चमत्कारी बरसात की चर्चा अभी समाप्त नहीं हुई थी कि नगर में प्लेग फैल गया। शिवनारायणजी और बलदेवदासजी को पिलानी लौटने को कहा गया, लेकिन शिवनारायणजी बम्बई में

कुछ और समय तक सौदे निपटाते रहे और बलदेवदास नये केन्द्र और नये व्यापार की तलाश में कलकत्ता चले गये। वर्ष के अन्त तक पिता-पुत्र दोनों पिलानी पहुँच गये और वहीं से अपना व्यापार-कार्य करने लगे। लेकिन तब सबसे निकट का तारघर बत्तीस मील दूर झुँझनूँ में था. इसलिए बम्बई के भाव तुरन्त मिलने की बड़ी कठिन समस्या थी। निकटवर्त्ती डाकखाना सूरजगढ़ था। रोजाना अपनी डाक लाने और ले जाने का प्रबन्ध तो बलदेवदासजी ने कर लिया और गाँव के अन्य लोगों को भी इस व्यवस्था का लाभ उठाने दिया, लेकिन तार की समस्या विकट थी। कहते हैं कि इससे पार पाने के लिए उन्होंने झुँझनूँ की मंसा देवी पहाड़ी पर अपना एक आदमी बैठाया और दूसरा पिलानी की पहाड़ी पर। ये दोनों व्यक्ति दर्पणों से सूर्य की रोशनी चमकाकार एक-दूसरे को संकेतों द्वारा सूचना दिया करते थे। व्यापार-समाचार पाने के प्रसंग में ही शिवनारायणजी ने नये ढंग की शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की।

पिलानी में तब एक दीनहीन-सी चटशाला ही थी, जिसमें गुरुजी डण्डे के जोर पर अपने शिष्यों के मस्तिष्क में ज्ञान भरने की कोशिश करते थे और गुरु-दक्षिणा में उनसे एक सेर बाजरा पाते थे। बिड़लाओं का इस चटशाला से कुछ लेना-देना नहीं था। शिवनारायणजी ने वैश्य-परम्परा के अनुसार जैसे अपने पुत्र बलदेवदास को, वैसे ही पौत्र जुगलकिशोर को भी, जिन्हें वह प्यार से जुग्गो कहा करते थे, अपने परिवार के ही एक बुजुर्ग से पाटी-गणित की शिक्षा दिलवायी थी, और उसे ही पर्याप्त माना था। बम्बई-प्रवास करने के बाद, चिट्ठी और तार का महत्व समझ लेने के बाद, शिवनारायणजी और बलदेवदासजी दोनों ने यह अनुभव किया कि पिलानी में परिवार के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की ओर उन्हें अधिक ध्यान देना चाहिए। उन्होंने बम्बई से लौटकर एंक नयी चटशाला बिड़लाओं के कुँए की चौकड़ी पर बिठायी, जिसमें विद्वान पण्डित नियुक्त किये गये।

अंग्रेजी के पत्र और तार पढ़वाने की समस्या विकट थी। पिलानी में तब कुल एक व्यक्ति अंग्रेजी का तार पढ़ने का दावा किया करता था। लेकिन जब उसे कलकत्ता से आया तार पढ़ने को दिया गया तो उसने तार पढ़ने में अपनी असमर्थता छुपाने के लिए यह सफाई दी कि मैं तो सिर्फ दिल्ली तक ही अंग्रेजी पढ़ा हूँ और इसमें अंग्रेजी है कलकत्ते की। लिहाजा बिड़ला-परिवार ने पिलानी में अंग्रेजी-शिक्षा की व्यवस्था करने का क्रान्तिकारी फैसला किया—उस जमाने में, जिसमें अंग्रेजी बोलना क्रिस्तान बन जाने का, धर्म गँवाने का पर्याय समझा जाता था। तो सेठ शिवनारायणजी ने दस रुपये माहवार पर पहले एक ठाकुर साहब को और बाद में

चूरू के मास्टर श्रीराम शर्मा को अंग्रेजी और गणित का अध्यापक नियुक्त किया। पिलानी में आधुनिक शिक्षा देने के लिए एक अध्यापक नियुक्त करके सेठ शिवनारायणजी ने जो प्रगतिशील कदम उठाया, वही उनके पोते घनश्यामदास के जीवनकाल में 'बिड़ला इंस्टीट्यूट आफ टैक्नोलाजी एण्ड साईंसेज' की स्थापना के साथ अपने गन्तव्य पर पहुँचा।

सेठ शिवनारायणजी ने पाठशाला के अध्यापकों और अन्यान्य विद्वानों को सदा बहुत स्नेह और सम्मान दिया। विद्वानों को पास बैठाकर शास्त्रार्थ करने में सेठजी को बहुत रस आता था। 'पाण्डव यश चन्द्रिका', 'महाभारत', 'वाल्मीकि रामायण', 'रामचरितमानस' तथा 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रन्थों के बारे में वह विद्वत् गोष्ठी की बातें बहुत ध्यान से सुनते। पिलानी में रोज शाम तीन बजे से लेकर चार बजे तक यह गोष्ठी जमती। इसमें मास्टरजी यानी श्रीरामजी आर्यसमाजी विचारधारा का प्रवर्त्तन करते थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि तत्कालीन वैश्य समाज में पढ़ना-पढ़ाना और धर्मशास्त्रों आदि की चर्चा करना 'बामणी' यानी ब्राह्मणों का काम समझा जाता था और ऐसी मान्यता थी कि किसी वैश्य का इसमें उलझना अपना समय बर्बाद करना है। इस दृष्टि से यह कहना होगा कि सेठ शिवनारायणजी के संरक्षण में लगनेवाली यह विद्वत् गोष्ठी वैश्य समाज के लिए एक अनहोनी-सी चीज थी। बताते हैं कि कुछ लोगों ने तब सेठजी से एक शिकायत भी की थी कि आपने चटशाला में यह कैसा मास्टर (श्रीरामजी) रख दिया है जो बच्चों को 'बामणी' विद्या पढ़ाता है। शिवनारायणजी ने अपने परिवार की वैश्य-परम्परा में इस प्रकार ब्राह्मण-रंग भी भर दिये। माहेश्वरी होने के नाते क्षत्रिय रंग उसमें पहले से था ही। उनकी चलाई हुई यह तिरंगी, त्रिगुणात्मक परम्परा बलदेवदासजी के हाथों आगे बढ़ी और घनश्यामदासजी के हाथों चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

पिलानी में रहकर व्यापार करने की अपनी सीमाएँ थीं। इसलिए बलदेवदासजी पिता की अनुमति लेकर शीघ्र ही कलकत्ता लौट गये। उस जमाने में कलकत्ता की दिशा में सबसे नजदीक का स्टेशन भिवानी था। पिलानी से भिवानी तक ऊँटों पर गये, भिवानी से रेलगाड़ी पर दिल्ली और फिर दिल्ली से कलकत्ता। तब का कलकत्ता भी आधा-अधूरा-सा बसा हुआ शहर था। अंग्रेज, बंगाली जमींदार और रईस खत्री नयी साफ-सुथरी बस्तियों में रहते थे, बाकी सारे साधारण व्यक्ति और व्यापारी खोलबाड़ियों यानी झोंपड़पट्टी के जंगल में। चारों ओर भयंकर गन्दगी थी और जीवन कठिन था। प्लेग के बाद हेरिसन साहब ने मारवाड़ियों की बस्ती बड़ा बाजार की सफाई करवायी। खोलबाड़ियाँ उठायी जाने

लगीं और उनकी जगह चौड़ी सड़क के दोनों ओर धनाढ्य राजस्थानी वैश्यों के पक्के मकान खड़े होने लगे।

जिस समय बलदेवदासजी ने कलकत्ता में व्यापार शुरू किया उस समय मारवाड़ी लोग अंग्रेज-व्यापारियों के 'बेनियन' और 'ब्रोकर' यानी बिचौलिये बनने लगे थे। बेनियन 12 आना सैकड़ा कमीशन पाते थे और ब्रोकरों को 6 आना सैकड़ा कमीशन मिलता था। अंग्रेजों को ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो विश्वासपात्र हों और जिनकी व्यापार-बुद्धि तीव्र हो। मारवाड़ियों में ये दोनों ही गुण उन्हें प्राप्त हुए। कुछ मारवाड़ी अपना स्वतन्त्र व्यापार भी करते थे और कुछ बैंक तथा सर्राफे चलाते थे। सीमित पूँजीवाले व्यवसायी होने के कारण बलदेवदासजी ने यहाँ भी ऐवरेज का सट्टा यानी फाटका खेलना शुरू किया। कलकत्ता में फाटका हरीरामजी चमड़िया शुरू कर चुके थे। कहा जाता है कि चमड़िया-परिवार ने अफीम के फाटके में करोड़ों रुपये कमाये और इस परिवार ने ही फाटके में डिफरेंस का भुगतान हफ्ते-के-हफ्ते कर देने की परम्परा चलायी थी। बलदेवदासजी ने और अनन्तर उनके बड़े बेटे जुगलकिशोर ने फाटके के क्षेत्र में ऐसे करिश्मे दिखाये कि फाटकेबाजों की दुनिया में चमड़िया-परिवार के साथ-साथ बिड़ला-परिवार का भी नाम लिया जाने लगा।

जिस तरह मालवा की अफीम बम्बई की मण्डी से चीन जाती थी, उसी तरह बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश की अफीम चीन भेजने के लिए कलकत्ता लायी जाती थी। इस अफीम की नीलामी बड़ा बाजार के जिस चौराहे पर होती थी उसका नाम भी अफीम चौरस्ता पड़ गया था। इसके पास ही मलिक स्ट्रीट में 18 नम्बर की वह कोठी थी जो काली गोदाम के नाम से मशहूर थी। यह कोठी प्रसिद्ध फर्म 'ताराचन्द घनश्यामदास' के मालिकों के लिए थी, मगर इसमें उन्होंने कुछ कमरे गद्दीदारों को किराये पर उठा रखे थे। अतएव यहाँ उस जमाने की नामी फर्मों की गद्दियाँ थीं। 'ताराचन्द घनश्यामदास' में उन गनेड़ीवालों की भी पाँती थी जिनके यहाँ शिवनारायणजी के पिता मुनीमी किया करते थे। इस सम्पर्क-सूत्र के सहारे बलदेवदासजी ने भी काली गोदाम को अपना व्यापार-केन्द्र बनाया। यहीं 1900 में उन्होंने 'बलदेवदास जुगलकिशोर' के नाम से अपनी फर्म स्थापित की, इसी वर्ष उन्होंने अपनी बड़ी बेटी भगवानी बाई का विवाह राजगढ़ के कृष्णगोपालजी मोहता से किया। जिस कमरे में उन्होंने अपनी गद्दी जमायी, उसमें तीन फर्मों की गद्दी पहले से थी। आगे चलकर ये चारों गद्दीदार अफीम के फाटके के क्षेत्र में बड़े चौरस्तियों के नाम से जाने जाने लगे।

इन चारों में भी सबसे अधिक प्रसिद्धि बलदेवदासजी की फर्म ने प्राप्त की। अफीम के अतिरिक्त इस फर्म ने गेहूँ, चाँदी और तीसी तथा अलसी-जैसे तिलहनों के फाटके और व्यापार में भी कदम रखा। मेनचेस्टर से आनेवाले विलायती कपड़े के व्यापार में भी फर्म ने हिस्सा लिया। बलदेवदासजी ने शिवनारायणजी की इस सीख का पालन किया कि व्यापार में बात साफ कहनेवाला और हिसाब साफ रखनेवाला सदा सुखी रहता है। उन्हें अपने पिता से वह विशिष्ट दृष्टि भी प्राप्त हुई थी जो इन्हें बाजार के भावी उतार-चढ़ाव का पूर्वाभास करा देती थी। अच्छी साख और बेहतर समझ के कारण बलदेवदासजी ने कलकत्ता में बहुत तेजी से तरक्की की। जिस समय वह बम्बई से यहाँ आये थे, उनकी हैसियत डेढ़ लाख से कुछ ऊपर की थी, लेकिन देखते-ही-देखते वह करोड़पतियों में शुमार होने लगे।

अब कलकत्ता, बम्बई और पिलानी—तीनों ही बिड़ला-परिवार की तीन पीढ़ियों के लिए व्यापार-केन्द्र बन गये। बलदेवदासजी ने 1901 में अपने बड़े बेटे जुगलकिशोर को कलकत्ता बुलाया और फर्म का काम उसे सौंप दिया। फाटके के साथ-साथ वह स्वयं भी अफीम का निर्यात-ठेका लेने लगे। जब अंग्रेजों ने यह देखा कि बहुत सारे मारवाड़ी अफीम के निर्यात में आने लगे हैं, तो उन्होंने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए अफीम के सारे स्टाक पर खुद कब्जा कर लिया। बलदेवदासजी व अन्य मारवाड़ी व्यापारियों के लिए यह असम्भव हो गया कि वह चीन को पहले से तयशुदा भाव पर अफीम भेज सकें। सभी फर्मों ने ठेका रद्द करने और जुर्माना भर देने का रास्ता अपनाने की सोची। लेकिन 'बलदेवदास जुगलकिशोर' का यही आग्रह रहा कि जुबान पर कायम रहना वैश्यों का अन्यतम धर्म है। हमें चाहे कितना ही घाटा हो जाये, हम तो उसी भाव में निर्यात करेंगे। इस फैसले से कलकत्ता के व्यापार-क्षेत्र में बिड़लाओं की साख बहुत ज्यादा बढ़ गयी।

उधर पिलानी में संवत् 1956 यानी सन् 1899 के अकाल में बिड़ला-परिवार ने दीन-दुखियों की सेवा-सहायता के लिए जो कुछ किया, उससे दान का एक नया कीर्त्तिमान स्थापित हुआ। छप्पनियाँ के नाम से कुख्यात इस अकाल ने संवत् 1900 और 1901 में पड़े 'सैंया' और 'भैया' नामक भयंकर दुर्भिक्षों को भी पीछे छोड़ दिया। घनश्यामदासजी के शब्दों में, छप्पनियाँ अकाल की भयंकरता स्वयं भय को भयभीत करनेवाली थी। पानी बिल्कुल नहीं बरसा। राजस्थान का पश्चिमी हिस्सा बागड़ अकाल की चपेट में आ गया। लोग-बाग इस इलाके को छोड़कर अन्न और जल की तलाश में निकल पड़े, लेकिन उनकी गाड़ियों को खींचनेवाले बैल चारे के अभाव में रास्ते में ही दम तोड़ने लगे। भूखों की भीड़, भुखमरी का काफिला, बीकानेर से होता हुआ चिड़ावा, चुरू और पिलानी की दिशा में बढ़ा।

सेठ शिवनारायणजी और बलदेवदासजी ने भूखों को भोजन कराने के लिए एक सदाव्रत खोला, जिसका उद्घाटन कालीकमली वाले बाबाजी ने किया। उन्होंने अनाज सस्ता बेचने के लिए एक अलग दुकान भी खोली। भूखी मरती गायों को अपने खर्चे से उन इलाकों में भिजवाया, जहाँ चारा उपलब्ध था। सदाव्रत में हर आगन्तुक को एक मुठ्ठी अनाज देने की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त बिड़ला-परिवार ने उत्तरप्रदेश से किसारी और मटर बड़ी मात्रा में मँगाकर रख ली थी और इनमें से भी एक-एक मुठ्ठी अकाल-पीड़ितों को दे दी जाती थी। लोग इतने क्षुधा-त्रस्त थे कि मटर और किसारी कच्ची ही फाँक जाते थे। सेठ शिवनारायणजी ने और बलदेवदासजी ने कई सहायता-कार्य भी शुरू किये ताकि लोग अनाज खरीदने के लिए, जिसका भाव छह रुपये मन पहुँच चुका था, पैसे कमा सकें। उन्होंने कई कच्चे तालाबों और कुँओं की मरम्मत करवायी।

कई लोगों के कई तरह से किये गये प्रयत्नों के बावजूद इस अकाल में मृत्यु के ताण्डव को पूरी तरह रोका नहीं जा सका। लाखों मनुष्य और मवेशी भूख से मर गये। बलदेवदासजी के मन पर अकाल की विभीषिका का गहरा असर पड़ा और समाज के प्रति उनका कर्तव्य-बोध और अधिक गहन हो उठा। उनके आग्रह पर पिलानी में खोला गया सदाव्रत स्थायी कर दिया गया। हर घर से एक चक्की के पीछे एक चुटकी आटे का अंशदान इस सदाव्रत के लिए निर्धारित कर दिया गया। इसके अलावा मण्डी से सदाव्रत के लिए अनाज और शुल्क की उगाही की व्यवस्था की गयी। सदाव्रत के खर्च का एक बहुत बड़ा हिस्सा बिड़ला-परिवार की ओर से दिये जाते रहने की घोषणा कर दी गयी।

हर भूखे को अन्न दो और हर नंगे को कपड़े—यह बलदेवदासजी के खोले हुए सदाव्रत का नियम था। जाड़ों में गरीब बुड्ढों को रजाइयाँ और मेथी के लड्डू दिये जाते। उस जमाने में बेटी का बाप होना अभिशाप समझा जाता था और लोग-लाग अनचाही बेटी को जनते ही गला घोंटकर मार देने में हिचकते नहीं थे। ऐसे में सेठ शिवनारायणजी की प्रेरणा और अनुमति से बलदेवदासजी ने गरीब लोगों को बेटी के ब्याह के लिए आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उस क्षेत्र की ब्राह्मण कन्याओं के विवाह के अवसर पर सेठजी की ओर से 101 रुपया भेंट करने का रिवाज शुरू किया।

यद्यपि संवत् 1957 में यानी सन् 1900 में बहुत अच्छी वर्षा हुई तथापि अन्न-संकट थोड़ा-बहुत बना ही रहा और सन् 1905 में फिर अकाल हुआ। पिलानी में तालाब की आवश्यकता एक अरसे से अनुभव की जा रही थी।

शिवनारायणजी ने घोषणा की कि बिड़ला-परिवार यह तालाब बनवायेगा। अलसी के भाव बढ़ने से कलकत्ता में परिवार को दस हजार रुपये का लाभ हुआ था, किन्तु कलकत्तावाली फर्म इसे बम्बईवाली फर्म का समझती रही थी और बम्बईवाली फर्म, कलकत्तावाली का। इस कारण वह कहीं भी खाते में चढ़ा नहीं था। शिवनारायणजी ने उसे दान खाते का माना और तालाब के निर्माण के लिए दे दिया। स्थानीय ठाकुरों ने तालाब के लिए एक हजार बीघा जमीन दी। इस लोकविश्वास की रक्षा करने के लिए कि अकेले दम तालाब बनानेवाले का वंशनाश हो जाता है, शिवनारायणजी ने पिलानी के और लोगों से भी उनकी हैसियत के अनुसार चन्दा लिया। इस तरह ढाई-तीन हजार रुपया जमा हुआ। फर्म की लाभ-राशि का दस हजार शिवनारायणजी पहले ही दे चुके थे। दस हजार उन्होंने अब और डाला। बहुत बढ़िया तालाब बनकर तैयार हुआ। आमतौर से मरुस्थल के तालाबों का पानी गर्मियों में एक बार जरूर सूख जाता है। लेकिन इस तालाब का पानी आज तक कभी नहीं सूखा है। राजस्थानी लोकविश्वास के अनुसार, उन्हीं लोगों के बनाये हुए तालाब नहीं सूखते जिनकी कमाई ईमानदारी की होती है।

सन् 1900 के बाद से सेठ शिवनारायणजी यह मानकर चलने लगे कि अब मैंने अपना धन्धा-व्यापार अपने बेटे और बड़े पोते को सौंप दिया है। वह अपना अधिकतर समय लोक-कल्याण के कार्यों और तीर्थयात्राओं में बिताने लगे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि उन्होंने व्यापार से पूरी तरह हाथ खींच लिया। सच तो यह है कि वह आखीर तक काम करते रहे। 1900 में ही उन्होंने रुई के सट्टे में पहला कदम रखा, जिसमें 12 महीने के वायदे पर सौदा होता था। इस नये क्षेत्र मे भी शिवनारायणजी ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की।

परिवार की हैसियत अब ऐसी हो चली थी कि 'मूत्रलचाल' के उस मकान में रहना, भले ही वह सौभाग्यप्रद था, संकोच का कारण बनने लगा था। तो 1903 में बिड़लाओं ने माटुंगा में अपने लिए एक दुमंजिली कोठी बनवायी। दुर्भाग्य से रेलवे ने वह जगह ले ली जिस पर यह मकान बना हुआ था। बलदेवदासजी ने फिर रुस्तमजी सोलीसीटर का मकान खरीदा—19000 रुपये की मुँहमाँगी रकम देकर। लेकिन यह सौदा भी उन्होंने इस तरह किया कि कुल मिलाकर उन्हें लाभ ही हुआ। परोक्ष लाभ की बात समझते हुए तुरन्त ऐसा सौदा करना, जो दूसरों को मूर्खतापूर्ण मालूम हो रहा हो, शिवनारायणजी और बलदेवदासजी दोनों की खूबी थी। और यही खूबी आगे चलकर जी. डी. बाबू में भी देखी गयी।

1903 में इस तरह कोठीवाले बन जाने के साथ ही बिड़लाओं ने घोड़ा-गाड़ीवाला भी बन जाने का फैसला किया और एक सुन्दर बग्गी खरीद ली। इसी वर्ष शिवनारायणजी पिलानी से मथुरा-वृन्दावन-पुरी आदि तीर्थों की यात्रा के लिए निकले और अपने साथ अपने छोटे पोते घनश्यामदास को ले गये। इस यात्रा की अन्तिम मंजिल थी बम्बई। वहाँ पहुँचकर शिवनारायणजी को पेट के पुराने रोग ने कुछ अधिक सताया। लगभग दो महीने अस्वस्थ रहे। स्वस्थ होते ही उन्होंने अपने दूसरे और तीसरे पोते के विवाह की चिन्ता शुरू की। सन् 1904 में रामेश्वरदास और घनश्यामदास के विवाह हुए और इनमें इतनी धूमधाम और ऐसा दान-पुण्य कराया गया जैसा कि जुगलकिशोर के विवाह में भी नहीं किया गया था।

1909 में दूसरी पौत्री जयदेवी बाई का विवाह तय हुआ। वर-पक्षवालों का आग्रह था कि कन्या-पक्षवाले कलकत्ता से ही विवाह करें। शिवनारायणजी का स्वास्थ्य साधारणतया ठीक चल रहा था। पर जिस समय परिवारवाले विवाह के लिए कलकत्ता जा रहे थे वह लम्बी यात्रा करने की स्थिति में थे नहीं, लिहाजा वह पिलानी ही रह गये। उनकी देखभाल के लिए दूसरे पौत्र रामेश्वरदास को छोड़ दिया गया।

यह विवाह बहुत धूमधाम से हुआ। बारात में एक हजार से ज्यादा आदमी आये थे। इससे कहीं अधिक संख्या थी इष्ट-मित्रों और स्वजनों की। इस विवाह से इधर कलकत्ता में सेठ शिवनारायण की फर्म और वंश की धाक जम रही थी और उधर पिलानी में स्वयं सेठजी जीवन-मृत्यु के बीच के सन्ध्या-प्रकाश-क्षेत्र से गुजर रहे थे। इन कठिन घड़ियों में उनके साथ सोलह वर्षीय पौत्र रामेश्वरदास और अपनी धर्मपत्नी तथा नौकर-चाकरों के अतिरिक्त विद्वत् गोष्ठी के दो सदस्य स्यामीजी और श्योबख्शजी मिश्र भी थे। श्योबख्शजी नक्षत्रों के जानकार थे और स्यामीजी नाड़ी के। लेकिन ज्योतिष और वैद्य मित्रों की तमाम युक्तियों और टोनो-टोटकों के बावजूद सेठ शिवनारायण का बृद्ध और कृश शरीर उस जमाने के असाध्य रोग टी. बी. से हारता ही चला गया।

सेठजी की तबियत बिगड़ती देखकर उनका किशोर पोता घबड़ाने लगा और उसने चाहा कि कलकत्ता खबर करके पिता को बुलवा लें। लेकिन इसके लिए शिवनारायणजी राजी नहीं हुए। उन्होंने पोते को धीरज बँधाया और कलकत्ते बलदेवदास के लिए चिट्ठी लिखवायी कि मेरा स्वास्थ्य खराब है लेकिन इससे तू चिन्तित मत होना और वहाँ के मंगल-कार्य पर पूरा ध्यान लगाना। शरीर का कोई

भरोसा नहीं है, लेकिन अगर शरीर मेरा बरत भी जाये तो भी तुम वहाँ विवाह-कार्य अच्छी तरह करना। लौटने की जल्दबाजी भी ठीक नहीं होगी। सब काम निपटाक ही आना। अपने और अपनों के प्रति सेठ शिवनारायण की अद्भुत निस्संगता का इस पत्र से बड़ा और क्या उदाहरण हो सकता है। यही निस्संगता तीसरी पीढ़ी में उनके पोते जी. डी. बाबू में भी बहुतों ने देखी।

जब स्यामीजी ने ऐसा संकेत दिया कि सेठजी का अन्तिम समय सन्निकट है, तब रामेश्वरदासजी ने कलकत्ता को तार देने का यत्न किया। लेकिन आसपास के तमाम तारघरों से तार भेजा नहीं जा सका।

दिसम्बर की एक ठिठुरती रात सेठ शिवनारायण ने स्यामीजी को याद किया। स्यामीजी ने आकर नाड़ी देखनी चाही, मगर नाड़ी पकड़ में आयी नहीं। उन्होंने कहा कि नाड़ी मिल नहीं रही है। इस पर सेठ शिवनारायण ने मरते-मरते भी अपनी सदा मुस्कानेवाली प्रकृति और विनोद-प्रियता का परिचय दिया। बोले, "स्यामीजी, नाड़ी गयी तो चलिये अच्छा बवाल टला। अब तुम यह बताओ कहीं फिर लौटकर तो नहीं आ जायेगी?"

नाड़ी लौट आयी या कहिये स्यामीजी की पकड़ में आ गयी। मगर स्यामीजी ने सेठजी से कहा कि अन्त समय आ गया जान पड़ता है। आप बैठक में न सोयें, बारणे के कमरे में सो जायें। पेशाब करने के लिए बिस्तर से उठें नहीं। सेठ शिवनारायण बारणे के कमरे में जाकर सो तो गये, लेकिन पेशाब वहीं कर लेने की बात उन्होंने नहीं मानी। बोले, "जब अब तक सारे नियम निभाये हैं तो आखिरी घड़ी क्यों सूगला (गन्दा) काम करूँ?"

मृत्यु आसन्न थी और 72 वर्षीय सेठ शिवनारायणजी बहुत शान्तभाव से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। यह चोला छोड़ने को वह पूरी तरह से तैयार थे। घर में पुत्र नहीं है, इसलिए किशोर पौत्र रामेश्वरदास को ही क्रिया-कर्म सम्बन्धी सारा ब्यौरा समझा चुके थे—चन्दन मँगवाकर रख देना, दुशाला भी, रेजगारी दरकार होगी उछाल करने के लिए; और हाँ, शवयात्रा गाजे-बाजे के साथ जायेगी। पौत्र सुन रहा था, पत्नी सुन रही थी, सबकी आँखों में आँसू थे। किन्तु सेठजी की आँखों मे सन्तोष-ही-सन्तोष था।

उसी रात उनका देहान्त हो गया। मृत्यु से आधा घन्टा पहले तक वह पूरी तरह सचेत थे और हँसते-मुस्कराते बातें करते रहे। कलकत्ता से बलदेवदासजी

पुत्री के विवाह के बाद शीघ्र ही लौटे, पर जब तक नारनौल पहुँचकर उन्हें पिता के देहान्त का समाचार मिला तब तक क्रियाकर्म हो चुका था।

सेठ शिवनारायणजी के लिए जीवन और अनुशासन सदा पर्यायवाची रहे। अन्तिम क्षण तक उन्होंने अपने हर व्रत और नियम को निभाया। भारतीय परम्परा के अनुसार स्वधर्म का पालन करते हुए उन्होंने धनार्जन का सपना सँजोया और पूरा किया। किन्तु वे यह कभी नहीं भूले कि सपना शुद्ध माया है; सुन्दर है, पर छलावा है। इसीलिए उन्होंने व्यापार में आजीवन डूबे रहने के बावजूद कहीं अपने को बराबर व्यापार से अलग और ऊपर करके भी रखा। बेटे और पोतों के व्यापार-क्षेत्र में आ जाने के बाद अपेक्षित तटस्थता अपनाने में उन्हें कोई हिचक नहीं हुई। जीवन और मृत्यु दोनों को ही उन्होंने किसी विनोदी दार्शनिक की आँखों से देखा और मरते दम तक यह तेवर नहीं छोड़ा। विनोदी दार्शनिकवाली यह भंगिमा उनके एकमात्र पुत्र और उनके तीसरे पौत्र घनश्यामदास को उनसे विरासत में मिली।

पिलानी और बम्बई में सेठ शिवनारायणजी की दिनचर्या बिल्कुल सधी-बँधी रहती थी, और वह उससे कभी विचलित नहीं होते थे। रोजाना पूजा-पाठ करना, दान-पुण्य करना, ब्राह्मणों को भोज कराना, व्यापार के सभी पहलुओं के बारे में पूछताछ करना और बाजार की ऊँच-नीच का तुरत-फुरत विचार करके सौदे कर डालना, सौदों में हिसाब हमेशा साफ रखना। सुबह तड़के उठ जाते और जंगल में निपटकर कुँए पर ही स्नान-ध्यान करते। सुबह सात बजे अपनी व्यावसायिक गद्दी सम्भाल लेते। दिन में खाना खाने के बाद दो घण्टे आराम करते। भोजन में कोकम और कढ़ी ये दोनों चीजें उन्हें प्रिय थीं और इन्हें उनके लिए जरूर बनाया जाता था। पकवानों और मिठाइयों के वे शौकीन थे, खुद खाते थे और दूसरों को उत्साह से खिलाते थे। बूँदियाँ और रसगुल्ले विशेष रूप से प्रिय थे उन्हें। शाम को दूकान बढ़ाने के बाद खा-पीकर घूमने के लिए निकलते थे। रात दस बजे लौटकर सोने चले जाते थे। दिन में तीन बार चिलम पीते थे। सिकेली सुपारी खाने का भी शौक था। इसे सरौते से बारीक काट-काटकर स्वयं खाते और दूसरों को खिलाते। परिचितों का क्षेत्र बहुत बड़ा था। उनसे दूकान में मिलते या फिर शाम को टहलते समय। अण्टी में हमेशा 5 रुपया और 9 पैसा सुबह गिनकर रख लेते थे और अपना दिन का खर्चा इसी से चलाते थे। बम्बई में जब भी रहे, हर शनिवार बाल्केश्वरजी के पवित्र तालाब के तट पर बैठकर पूड़ी-साग और रसगुल्ले का भोजन किया और ब्राह्मणों को परचूनी बाँटी। घड़ी की तरह सधा-बँधा था उनका जीवन।

ऐसे कर्तव्य-परायण, धर्मनिष्ठ पिता का श्राद्ध करा लेने मात्र से बलदेवदासजी को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने मृतात्मा की शान्ति के लिए पिलानी और आस-पास के गाँवों की ब्रह्मपुरी करायी यानी वहाँ के समस्त ब्राह्मणों को भोजन करवाया। इसके बाद उन्होंने हेड़ा का आयोजन किया। 'हेड़ा' राजस्थान की एक विशिष्ट पुण्य-परम्परा है, जिसमें राहगीरों को ठण्डा पानी या कलेवा ग्रहण करने के लिए पुकार-पुकारकर बुलाया जाता है। संस्कृत में 'हेला' का शाब्दिक अर्थ पुकारना है और इसी हेला से हेड़ा बना है। बलदेवदासजी के कराये गये हेड़ा में हर व्यक्ति को अनाज और एक चवन्नी दी गयी। कुल मिलाकर उनतीस हजार से भी ज्यादा लोग इस हेड़े में दान लेकर गये। यह हेड़ा इसलिए बहुत ही शुभ ठहराया गया कि इसमें किसी के साथ कोई दुर्घटना नहीं घटी और एक स्त्री ने पुत्र को जन्म दिया। परम्परा के अनुसार बलदेवदासजी ने हेड़ा के बाद 'सातोपूर्ण' करवाया यानी सातों जातियों के लोगों को भोजन करवाया। इस आयोजन में हरिजन भी शामिल हुए।

व्यापार-कार्य बलदेवदासजी को बम्बई से बुलावे भेज रहा था, किन्तु वह पूरे एक वर्ष तक पिलानी में जल-तर्पण, मासिक श्राद्ध आदि करते रहे। वर्ष के अन्त में तर्पण के लिए वह बनारस गये, जहाँ एक प्रकाण्ड ज्योतिषी ने उन्हें बताया कि आपकी आयु कुल 55 वर्ष की है।

बलदेवदासजी तब अपने 46वें वर्ष में चल रहे थे। कुल आयु 55 वर्ष ही ठहरा दिये जाने पर उनका सोच में पड़ जाना स्वाभाविक था। पिता की मृत्यु ने, और इस मृत्यु के अवसर पर उपस्थित न हो पाने की पीड़ा ने उन्हें भीतर से तोड़ दिया था। इसी के आसपास पुत्रवधू (घनश्यामदासजी की पत्नी) और ज्येष्ठ जामाता कृष्णगोपालजी मोहता के गुजर जाने से उनपर अतिरिक्त आघात हुआ। पिता की मृत्यु से मन में श्मशान-वैराग्य की जो भावना घुसी थी सो अब स्थायी रूप से वहीं घर कर गयी। अपने पिता की तरह बलदेवदासजी को भी धर्म-दर्शन से गहरी रुचि थी। उनके मन में सहज ही यह प्रश्न उठा कि जब जीवन के कुछ ही वर्ष शेष हैं तब मायामोह में पड़े रहना किस काम का। बड़ा बेटा जुगलकिशोर कलकत्ते में अग्रणी व्यापारी के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है, दूसरा बेटा रामेश्वरदास बम्बई शाखा की जिम्मेदारी सँभालने लगा है, उसे थोड़ी और दीक्षा देनी होगी बस। तीसरा बेटा घनश्यामदास परम्परागत व्यापार के गुरु-मन्त्र समझ चुका है और अब उद्योग-व्यापार के नये क्षितिजों की ओर बढ़ने के लिए लालायित है। उद्योग-व्यापार की जिस नयी दुनिया में अंग्रेजों, पारसियों, यहूदियों और गुजरातियों का एकाधिपत्य-सा है उसमें जमाने के संग चल सकनेवाला घणश्यो

निश्चय ही स्वयं प्रवेश पायेगा और अपने बन्धुओं को भी प्रवेश दिलवायेगा—ऐसी आशा बँध चली है। चौथा पुत्र ब्रजमोहन अवश्य अभी कुल चार वर्ष का है और उसके प्रति दायित्व शेष रहता है। जो हो, अब देर-सबेर काशीवास ही करना है तो बनारस में जमीन खरीद रखनी चाहिए। ऐसा सोचकर बलदेवदासजी ने लालघाट में जमीन ले ली।

पिलानी लौटकर पहला काम उन्होंने यह किया कि अपनी तीसरी और आखिरी बेटी कमलाबाई के हाथ पीले करवा दिये। इस जिम्मेदारी से निपटकर वह बम्बई गये और रामेश्वरदास को चाँदी के व्यापार में पूरी तरह जमाकर आये। फिर 1912 में उन्होंने घनश्यामदास का दूसरा विवाह करके एक और जिम्मेदारी पूरी कर डाली। इस तरह सभी तात्कालिक कर्त्तव्यों से निवृत्त होकर बलदेवदासजी ने अपनी दोनों फर्मों से चार-चार लाख रुपया लेकर आठ लाख रुपये के सरकारी बॉण्ड खरीद लिये और इनकी आय से ही शेष जीवन-यापन करने की घोषणा कर दी। उन्होंने अपनी बाकी सम्पत्ति अपने पुत्रों में बाँट दी और लम्बी तीर्थयात्रा पर निकल गये।

रामेश्वरम् आदि तीर्थों का दर्शन करके वह बम्बई लौटे और व्यापार-कार्य में पुत्रों की बहुत तटस्थ-भाव से सहायता करते रहे। पहली बड़ी लड़ाई छिड़ चुकी थी और चाँदी का व्यापार सहसा बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया था। रामेश्वरदास अपने पिता के उचित निर्देश और परामर्श के प्रताप से चाँदी के व्यापार में दिनोंदिन चमकते चले गये। 1916 में बलदेवदासजी अपने सबसे छोटे बेटे ब्रजमोहन का विवाह कराने कलकत्ता गये। यही उनकी अन्तिम पारिवारिक जिम्मेदारी थी। इसके तुरन्त बाद उन्होंने व्यापार से पूरी तरह संन्यास लेने की घोषणा कर दी। पिलानी जाकर सारे गाँव को भोजन कराया और काशी-लाभ करने के लिए बड़े-बूढ़ों से आशीर्वाद लिया।

अभी पिलानी में बलदेवदासजी की माता जीवित थीं और उनके प्रति अपना कर्तव्य निभाने के लिए वह यह आवश्यक मानते थे कि साल में बारहों महीने काशी न रहें। बीच-बीच में माताजी की सेवा के लिए वह पिलानी आते रहे और यह क्रम 1920 में माताजी के देहान्त के बाद ही समाप्त हुआ। विधि का विधान कि माताजी की मृत्यु के अवसर पर भी वह पिलानी में उपस्थित नहीं थे। पिताजी की छतरी के पास ही माताजी की छतरी बनवाकर उन्होंने हेड़ा करवाया। इस हेड़ा में पचपन हजार लोग आये। हर व्यक्ति को उन्होंने अनाज दिया और एक-एक रुपया दक्षिणा दी। इस हेड़े में भी एक स्त्री ने बच्चे को जन्म दिया, जिसे गाँववालों ने बिड़ला-परिवार की उत्तरोत्तर वृद्धि का शुभ संकेत माना।
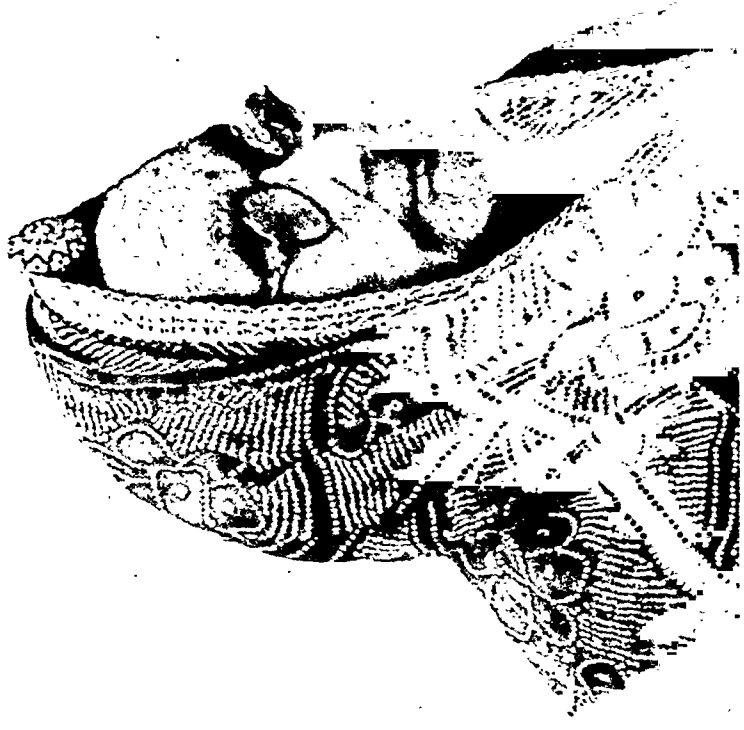
माता-पिता

राजा वलदेवदासजी एवं रानी योगेश्वरी

काशी लौटने पर एक दिन बलदेवदासजी ने उस ज्योतिषी को फिर बुलाया, जिसने उनकी मृत्यु की तिथि बतायी थी। उन्होंने उससे कहा कि तेरी बतायी तिथि तो निकल गयी, अब बता मृत्यु कब आनेवाली है? ज्योतिषी ने उनका व्यंग्य नहीं समझा और ध्यान से फिर कुण्डली का अध्ययन करके कहा कि अभी आपको 10 वर्ष और जीना है। बलदेवदासजी सुनकर मुस्करा दिये और उचित दक्षिणा देकर उन्होंने ज्योतिषी को विदा किया। लाल घाट पर जो जमीन ली थी वहीं उन्होंने अपने लिए हवेली बनवानी शुरू कर दी।

लाल घाट उस जमाने में एक टूटा-फूटा-सा बीहड़ घाट था। बलदेवदासजी ने यहाँ अपनी हवेली बनाने के साथ-साथ घाट के जीर्णोद्धार का बीड़ा भी उठाया। छः महीने में ही उस टूटे-फूटे घाट की जगह तीन सुन्दर घाटों ने ले ली, जो अब लाल घाट, विष्णुपाद घाट और गोपी गोविन्द घाट नाम से विख्यात हैं। लाल घाट में ही बलदेवदासजी अपने पहले काशी-प्रवास के अवसर पर संस्कृत पाठशाला भी खुलवा गये। कोई आश्चर्य नहीं जो लाल घाट काशीवासियों के लिए बिड़ला घाट बन चला।

लाल घाट वाली हवेली बनाते हुए बलदेवदासजी ने सादगी पर जोर दिया और सेठाई वैभव को वर्जित ठहराया। बड़ी और आरामदेह होते हुए भी यह हवेली सामने से देखने पर नितान्त साधारण लगती और भीतर जाने पर आगन्तुक को उसके बड़े-बड़े कमरों में फर्नीचर बहुत ही कम और खासा मामूली-सा मिलता। बलदेवदासजी स्वयं काठ के तखत पर सोते। अपनी कहने के नाम पर उनके पास कपड़ों की एक पेटी, और दो अलमारियाँ थीं, जिनमें से एक में वे आयुर्वैदिक औषधियाँ रखी रहतीं जिन्हें वह वैद्यों के आग्रह पर खरीद लेते पर जिनका सेवन वह शायद ही कभी करते। दूसरी में हिन्दी और संस्कृत की वे पुस्तकें रहतीं, जिन्हें स्वयं पढ़ते और पढ़कर सुधीजनों में बाँटते। बाकी जो भी था सो उनकी दृष्टि में दे देने के लिए ही था, क्योंकि वह उसका था, अपना नहीं—तत्सत् नमम्। लाल घाट की इस हवेली का भण्डारा काशी में शीघ्र ही स्थायी सदाव्रत की हैसियत पा गया, जहाँ निर्धनों, विद्यार्थियों और विद्वानों के लिए नित्य भोजन तैयार किया जाता था।

दान बलदेवदासजी के जीवन का अभिन्न अंग बन गया। भाद्र शुक्ला प्रतिपदा को अपने जन्मदिवस के अवसर पर नवीन वस्त्र धारण करके, नयी गुलाबी पगड़ी पहनकर, तिलक करने और करवाने के बाद पण्डितों को भोजन कराने, उनसे शास्त्र-चर्चा सुनने और उन्हें दान-दक्षिणा देने का जो क्रम शुरू करते वह वर्षपर्यंत चलता रहता। दशहरे पर अपनी बग्घी के घोड़ों का पूजन

करके, उन्हें गुड़-चना अपने हाथों से खिलाकर वह कोचवान, सईस आदि को भरपूर दक्षिणा देते। दीवाली पर गणेशजी और लक्ष्मीजी का पूजन करने के बाद परिवार के हर सदस्य को अपने हाथ से आशीर्वचन और शुभकामना लिख भेजते। लोगों को भोजन कराते और दान-दक्षिणा देते। दीवाली के बाद की पहली संक्रान्ति पर वलदेवदासजी वस्त्र-दान का एक विराट आयोजन शुरू करते, जो अगली संक्रान्ति तक सुवह से शाम तक चलता रहता। इसके लिए सूती और ऊनी चादरों की गाँठें वम्वई-कलकत्ता से मँगवाई जातीं और अलग-अलग दिन दण्डी-स्वामियों से लेकर कोढ़ियों तक अलग-अलग वर्गों के लोगों में बाँटी जातीं। पहला दिन दण्डी स्वामियों को समर्पित होता। उन्हें एक-एक ऊनी चादर, एक-एक टुकड़ा गेरू और डेढ़ पाव का एक-एक तिल-लड्डू दान किया जाता। मकर संक्रान्ति के अवसर पर पण्डितों को एक-एक ऊनी शाल देते और छात्रों में पाँच-सात मन तिल के लड्डू बँटवाते।

होली खेलना बलदेवदासजी को पसन्द नहीं था, लेकिन समस्त वन्धु-बान्धवों और कर्मचारियों के साथ होलिका-पूजन वह अवश्य करते। पूजन के बाद सब लोगों को प्रेमपूर्वक जिमाते और यथोचित भेंट-आशीर्वाद देते। अनुपस्थित स्वजनों को टेलीफोन से याद करते और अशीषते। निर्जला एकादशी के दिन शहर के पण्डितों को गंगाजल से भरी पीतल की एक गगरी, एक धोती, एक अँगोछा और पंखा दान करते। फिर उन्हें ठण्डाई और शर्बत पिलाकर यथोचित दक्षिणा देते। वर्षा की पहली बौछार पर वह अपने समस्त कर्मचारियों और अनुचरों को वन-गोठ मनाने के लिए छुट्टी दे देते। वह स्वयं भी बन्धु-बान्धवों के साथ अपने कर्मचारियों की इस गोठ में सम्मिलित होते। भोजन के बाद इनाम-इकराम बाँटते। दान-दक्षिणा देने में उनकी धर्मपत्नी योगेश्वरीदेवी भी कुछ कम न थीं। भूखों को अन्न और नंगों को वस्त्र देना उनका नित्य-कर्म था। सर्दियों में रजाइयाँ बाँटतीं, गर्मियों में छतरियाँ और लोटे। निर्धन स्त्रियों की सहायता के लिए खुले हाथों धन देतीं। सच तो यह है कि बलदेवदासजी और योगेश्वरीदेवी हर पर्व को दान-पर्व मानते। हर तिथि उनके लिए किसी-न-किसी दान की ही तिथि होती। दानवृत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किये जाने पर बलदेवदासजी कहा करते, "जवानी की कमाई बुढ़ापे में सत्कर्म में लगे तभी सार्थक है। आने और जाने का नाम ही व्यापार है। जो रुपया बम्बई और कलकत्ता में मेरे पास आया, काशी में मेरे पास से जा रहा है।" काशीवासियों का कोई भी वर्ग ऐसा न था जो वलदेवदासजी का कृपाभाजन न बना हो। वर्ष में एक दिन वह सारे मल्लाहों को भोजन कराते और दान-देते।

दीन-दुखियों के अभाव दूर करने और विद्वान व्यक्तियों को सम्मानित करने के लिए बलदेवदासजी ने जितना दान किया, उससे कई गुना दान उन्होंने सत्कार्यों में रत संस्थाओं को दिया। पण्डित मदनमोहन मालवीय के हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए तो उन्होंने इतना कुछ किया और दिया कि उन्हें वहाँ के छात्र और अध्यापक भामाशाह कहने लगे। मालवीयजी से उनके पारिवारिक-जैसे सम्बन्ध थे। जब भी वह विश्वविद्यालय के लिए कुछ माँगते, बलदेवदासजी अविलम्ब देते। अपने जीवन-काल में उन्होंने इस विश्वविद्यालय के लिए तीस लाख रुपया मालवीयजी को दिया।

विश्वविद्यालय से बाहर भी बलदेवदासजी ने काशी में सार्वजनिक हित के लिए बहुत कुछ किया। दन्त चिकित्सालय, प्रसूतिगृह और आयुर्वैदिक अस्पताल खुलवाया। अध्यापक प्रशिक्षण महाविद्यालय, संस्कृत महाविद्यालय और डा. भगवानदास पुस्तकालय की स्थापना की। अनेक घाटों और मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया। नये कुँएँ खुदवाये और पुरानों की मरम्मत करवायी। सारनाथ में और मणिकर्णिका घाट पर धर्मशालाएँ बनवायीं। विद्यार्थियों और पण्डितों के लिए निःशुल्क निवास-स्थान बनवाये।

काशी के बाहर भी बलदेवदासजी ने दान-पुण्य के अनेक आयोजन किये और बहुजन के हित और सुख की व्यवस्था की। देश के समस्त तीर्थों में वह करोड़पति प्रसिद्ध हो गया जो करोड़पति होते हुए भी लगभग संन्यासी के भाव से काशी-वास कर रहा था और जो यह मानकर चल रहा था कि जिस सम्पदा का भोग न करने का मैंने निश्चय किया है उसका यदि मैं दान नहीं करूँगा तो वह अपनी तीसरी गति को प्राप्त होगी यानी उसका विनाश हो जायेगा।

काशी में बलदेवदासजी वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने आये थे। न सही वन, वानप्रस्थी के लिए कोई उपवन तो हो। यह सोचकर बलदेवदासजी ने मेमूरगंज में एक बड़ा-सा बगीचा बनवाया। इसकी एक-एक क्यारी उनके निर्देशानुसार बनी और इसमें एक-एक पौधा उनकी पसन्द का रोपा गया। इस शान्त और सुरम्य पुष्प-वाटिका को बलदेवदासजी ने ज्ञान-चर्चा का स्थल बनाया। उपवन के बीचोबीच एक गोल मण्डप बनवाया और उस मण्डप के नीचे अपने लिए प्रस्तरपीठ। सामने अन्य पण्डितों के आसन। ख़राब-से-ख़राब मौसम में भी बलदेवदासजी अपनी सधी-बँधी दिनचर्या के दो कार्यक्रम नहीं छोड़ते थे। पहला गंगा-स्नान, और दूसरा उपवन में ज्ञान-चर्चा।

बलदेवदासजी नियमों के पक्के थे। सुबह तीन बजे उठ जाते। डेढ़ घण्टे तक छत पर टहलते और गंगा की ओर से आते झोंकों का आनन्द लेते। फिर शौच से निवृत्त होकर कीकर की दातून करते। ठीक पाँच बजे गंगा-स्नान के लिए खड़ाऊँ पहनकर उतरते। लाल घाट पर अपने बजरे पर सवार होते और बीच धारा में जाकर गोता लगाते। घर लौटकर पूजा-पाठ करते और कलेवे के तौर पर एक कटोरा दूध पीते। इसके बाद आगन्तुकों से भेंट करने का समय होता। वहाँ से उठकर आते तो घर का एक आदमी उन्हें बताता कि अखबार में और रेडियो पर क्या खबर आयी है। फिर आध-पौन घण्टा मौन-चिन्तन करके वह दोपहर के भोजन के रूप में फलों का रस ग्रहण करके कुछ देर लेट जाते। उठकर लिखा-पढ़ी के जरूरी कामों को निपटाते और पारिवारिक सदस्यों से बातचीत करते।

अब समय होता उपवन जाने का। पैदल चलते हुए गलियाँ पार करके मुख्य मार्ग पर पहुँचते और वहाँ से अपनी बग्घी लेते। बाद में पुत्र घनश्यामदास के अनुरोध पर उन्होंने कार खरीद ली थी। डेढ़ बजे अपनी हवेली से रवाना होकर ठीक दो बजे वह उपवन में पहुँच जाते। घण्टे-आध घण्टे वहाँ चहल-कदमी करते हुए वह आगन्तुकों और पण्डितों से बातचीत करते। फिर मण्डप में बैठकर विधिवत किसी प्रश्न पर पण्डितों से ज्ञान-चर्चा करते। सभा में हिस्सा लेनेवाले पण्डितों को बलदेवदासजी की ओर से यथोचित सत्कार के साथ-साथ दक्षिणा में चार रुपये भी प्राप्त होते थे। पाँच बजे सभा की समाप्ति पर जब वह अपनी हवेली को लौटने लगते तब माली से गुलदस्ता लेना न भूलते। फूलों से उन्हें बहुत प्यार था और गुलाब के तो वह उतने ही बड़े भक्त थे जितने कि बाद में जवाहरलाल नेहरू हुए। उपवन से लौटकर वह विशिष्ट धूपों से सुवासित अपने कक्ष में अखबार सुनने के लिए बैठ जाते। कोई स्वजन या कर्मचारी बनारस का 'आज' और कलकत्ता का 'विश्वमित्र' उन्हें पढ़कर सुनाता था। उसके बाद चुपचाप आध-पौन घण्टा छत पर अकेले टहलते रहते। साढ़े-छः बजे शाम की पूजा में बैठ जाते। पूजा करने के बाद रात्रि के भोजन के रूप में फलों का रस ग्रहण करते। जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में बलदेवदासजी ने अन्न ग्रहण नहीं किया। इसकी प्रेरणा उन्हें अपने प्रिय पुत्र घणश्यो यानी घनश्यामदासजी की इस टिप्पणी से मिली कि अगर आपकी तबियत ढीली रहती है तो दो-चार दिन रोटी मत खाइये, अपने आप ठीक हो जायेगी। बेटे की बात उन्हें कुछ ऐसी समझ में आयी कि उन्होंने तत्काल अनाज न खाने का और फलाहार पर ही जीवित रहने का व्रत ले लिया। अब गाय का दूध, टमाटर और सन्तरे और विलायती गाजर का रस, उबला आलू, यही उनका आहार बन गया। आठ बजे तक रेडियो सुनने के बाद बलदेवदासजी शयनकक्ष में चले जाते। इस नियमित दिनचर्या में किसी भी प्रकार का व्यवधान उन्हें स्वीकार्य नहीं था। अपना

हर काम वह समय से करते थे। इसी सधी-बँधी दिनचर्या का यह प्रताप था कि काशी के लोग उनकी गाड़ी देखकर अथवा उनकी खड़ाऊँ की आवाज सुनकर अपनी घड़ी मिलाते थे।

विद्या के नाम पर केवल पाटी-गणित ही सीखे हुए बलदेवदासजी काशी में विद्वानों का सत्संग करते हुए स्वयं भी पण्डित बन गये। वह कहा करते—वैश्य बिरादरी छोड़कर पण्डितों की बिरादरी में मिल गया हूँ। उन्होंने चार पुस्तकें लिखीं—'छान्दोग्योपनिषद रहस्य' (1926), जिसका सम्पादन पत्रकार-प्रवर अम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी ने किया। 'वेदान्त व आत्मविचार' (1933), जिसकी भूमिका प्रसिद्ध पत्रकार पराड़करजी ने लिखी है। चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों की काशिकावृत्ति इस पुस्तक की विशेषता है। सूत्रों की व्याख्या की प्रशंसा करते हुए पराड़करजी ने लिखा है कि राजा बलदेवदास का ज्ञान उनके वैभव के समान स्वयमुपार्जित है। वह केवल पुस्तकीय नहीं है। यही कारण है कि आप श्रुति का जो विवेचन करते हैं उसमें एक प्रकार का वैचित्र्य दिखायी देता है जो स्वतन्त्र विचार और अनुभव पर अटल है। बलदेवदासजी की तीसरी पुस्तक 'दार्शनिक विचार' 1941 में प्रकाशित हुई, और चौथी 'वेदशास्त्र विमर्श' 1954 में।

कर्मकाण्डी पण्डितों के बीच में रहते हुए भी बलदेवदासजी कभी लकीर के फकीर नहीं बने और उन्होंने सदा इस बात का आग्रह किया कि धर्मशास्त्रों की ऐसी व्याख्या की जाये जिससे सामाजिक एकता बढ़े और सामुदायिक उन्नति सम्भव हो। तत्कालीन माहेश्वरी समाज पुरातनपन्थियों और आधुनिकों में बँट गया था। बलदेवदासजी ने अक्सर इन विवादों में मध्यस्थता की और पुरानी पीढ़ी को नयी पीढ़ी के अधिक-से-अधिक पास ले आने की कोशिश में लगे रहे। अगर पुरानी पीढ़ी उनसे सहमत न हुई तो उन्होंने सामाजिक बहिष्कार का खतरा उठाते हुए भी उस नयी पीढ़ी का साथ दिया, जिसका एक प्रमुख प्रवक्ता उनका प्रिय पुत्र घनश्यामदास था।

काशी में दिन-रात पण्डितों से घिरे रहने के बावजूद, पाण्डित्य में गहन रस लेने के बावजूद बलदेवदासजी पण्डिताऊ कभी नहीं बने। उनका विनोदी स्वभाव, उनकी हाजिरजवाबी पण्डित-बिरादरी को विस्मित करती रही। एक बार जब उपवन सभा में कैयट, मम्मट और जैजट—इन तीन व्याकरणाचार्यों के अनुयायियों में गरमा-गरम बहस छिड़ गयी तब बलदेवदासजी ने कहा, "कैयट अर्थात् कर्म प्रधान हिन्दू, मम्मट अर्थात् मोहम्मद अर्थात् मुसलमान और जैजट यानी जीजस का अनुयायी। तीनों साथ रहेंगे, तभी भारत की उन्नति होगी। नहीं तो बस

विभाजन ही होते जायेंगे।'' इसी प्रकार जब एक सभा में बलदेवदासजी ने यह कहा कि सभी वस्तुएँ अन्न हैं तो एक विरोधी ने उन्हें यह पूछकर उखाड़ना चाहा कि जिस चौकी पर आप बैठे हैं वह अन्न कैसे है। बलदेवदासजी ने मुस्कराकर कहा, ''यह चौकी दीमक के लिए अन्न है।''

पण्डितों के अतिरिक्त राजनेताओं से भी बलदेवदासजी का अच्छा सम्पर्क रहा। मालवीयजी को वह स्वयं जानते थे; बाद में अपने पुत्र घनश्यामदास के कारण मालवीयजी से उनका सम्बन्ध और घनिष्ठ हुआ। अपने पुत्र के दूसरे राजनीतिक प्रणेता महात्मा गाँधी से बलदेवदासजी 1933 में यरवड़ा जेल में मिले। नासिक और आसपास के तीर्थों की यात्रा करने के बाद उनसे बम्बई चलने को कहा गया तो वह बोले कि व्यापार-नगरी है बम्बई, वहाँ मोह उपजता है। जो रास्ता छोड़ दिया, उस पर लौटना कैसा। यरवड़ा चलो, वहाँ महात्माजी से मिलेंगे। गाँधीजी से उनकी हरिजन-समस्या पर एक घण्टे तक शास्त्रार्थ के स्तर पर बातचीत हुई। बलदेवदासजी को गाँधीजी की यह उक्ति बहुत पसन्द आयी कि अपनी दृष्टि में जो ऊँचा बन गया उसका पतन तो हो ही गया। महात्मा गाँधी से मिलने का दूसरा अवसर 1940 में आया जब वह महामना मालवीयजी के बारे में घनश्यामदासजी द्वारा रामनरेश त्रिपाठी से लिखवायी गयी पुस्तक का विमोचन करने बनारस आये। इस अवसर पर गाँधीजी ने उपवन की पण्डित-सभा में हिस्सा लिया। बलदेवदासजी के साथ-साथ उनकी पत्नी योगेश्वरीदेवी, पुत्र घनश्यामदास और पुत्री जैदेई तथा काशी के गणमान्य पण्डित बैठे थे। चर्चा का विषय था—'धर्म और राष्ट्रोत्थान'। गाँधीजी ने हरिजनों के लिए चन्दा माँगा। बलदेवदासजी ने तुरन्त बीस हजार रुपये अपनी ओर से दिये और अपने स्वजनों से भी दिलवाये।

बलदेवदासजी सम्मान के भूखे नहीं थे बल्कि उन्हें प्रशंसा और सम्मानवाली तमाम बातें असमंजस मालूम होती थीं। किन्तु उनका आचरण इतना आदर्श और व्यवहार इतना श्रेष्ठ था कि सभी ने उनका सम्मान करने में अपना सम्मान देखा। उनको सबसे पहली उपाधि 1918 में मिली—रायबहादुरी। 1919 में जयपुर के महाराजा ने उन्हें रियासत का सबसे बड़ा अलंकार 'सोने की ताजीम' यानी पाँव में पहना जानेवाला सोने का कड़ा प्रदान किया। 1925 में बिहार और उड़ीसा के गवर्नर ने उन्हें 'राजा' की उपाधि से सम्मानित किया। बनारस विश्वविद्यालय ने 1937 में उन्हें डी. लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की। अपने विनोदी स्वभाव का परिचय देते हुए बलदेवदासजी ने इस अवसर पर कहा, ''मुझे पदवी की जरूरत नहीं, लेकिन मालवीयजी महाराज के प्रेम का आदर करने की बाध्यता है। संसार में

शब्द और अर्थ दो ही बातें हैं। मालवीयजी महाराज के पास शब्द हैं, मेरे पास अर्थ है। मैं अर्थ देता हूँ और मालवीयजी मुझे डी. लिट्. यह शब्द देते हैं।"

ज्ञान-चर्चा करते, दान-सुख लूटते, विद्वानों को सम्मानित करते और विद्वानों द्वारा सम्मानित होते बलदेवदासजी ने पैंसठ वर्ष की वह आयु-सीमा भी पार कर डाली, जो ज्योतिषी ने पुनर्विचार के बाद उनके लिए तय की थी। उन्होंने ज्योतिषाचार्य को बुला भेजा और जलपान कराने के बाद जिज्ञासा की कि अब और कितना जीना है मुझे। ज्यों ही ज्योतिषीजी जन्म-पत्री को नये सिरे से बाँचने बैठे, बलदेवदासजी ने हँसकर कहा कि, "क्यों यह कष्ट करते हैं पण्डितजी, आप जन्म-पत्री ही बाँचना जानते हैं, करम-पत्री नहीं।"

इसके बाद उन्होंने ज्योतिषीजी को नहीं बुलाया। जो व्यक्ति घर-परिवार तक का मोह छोड़ चुका था, वह ग्रह-भावों के मोह में और क्यों पड़ता। बलदेवदासजी लगभग ऐसा नियम बना चुके थे कि काशी से निकलना तो तीर्थ-यात्रा के लिए ही। वरना तो काशी भली और काशी में लाल घाट की गंगा और मामूगंज की बगीची सबसे भली। पत्नी कभी-कभी कलकत्ता चली जाती, लेकिन वह नहीं। बम्बई चलने का आग्रह पुत्र रामेश्वरदास ने अनेक बार किया, मगर वह माने नहीं। यही कहते कि जब व्यवसाय छोड़ दिया, तब व्यावसायिक नगरियों में कदम क्या रखना! लक्ष्मीनिवास, गजानन्द और माधवप्रसाद—अपने इन तीन बड़े पोतों के विवाह में सम्मिलित हो चुकने के बाद उन्होंने शुभअवसरों पर आशीर्वाद देने तक के लिए पारिवारिक परिवेश में लौटने से इनकार कर दिया। पौत्र कृष्णकुमार के विवाह में बहुत आग्रह करने पर भी नहीं आये। कहा कि जब छोड़ दिया, तब छोड़ दिया, मोह-माया में फिर-फिर पड़ना कैसा!

परिवार के लोग अवश्य उन्हें प्रणाम करने और उनका आशीर्वाद लेने काशी आते रहते थे। माता-पिता की सेवा के लिए हर समय कोई-न-कोई पुत्र, पौत्र, बहू, बेटी काशी में उपस्थित रहती ही थी। उनके चारों ही बेटे एक-से-एक योग्य थे और चारों ही पर उन्होंने अपना प्यार बराबर-बराबर न्यौछावर किया। जुगलकिशोर 'जुग्गो' सबसे बड़ा होने के नाते, फाटके में/व्यापार में उनका साथी रह चुकने के नाते और सन्तवृत्ति तथा दानी प्रकृति का होने के नाते उन्हें प्रिय था। जुगलकिशोरजी के बारे में मशहूर था कि किसी भी सौदे में पड़ने से पहले यह तय कर देते थे कि लाभ का कितना हिस्सा वह धर्म-खाते में डाल देंगे। अर्थात वह हर व्यापारिक कदम मनौती के साथ उठाते थे। बलदेवदासजी अपने इस महादानी बेटे

से बहुत अभिभूत थे। उत्तर काशी की तीन हजार एकड़ जमीन में से जब जुगगो ने पन्द्रह सौ एकड़ गौशाला के लिए दे दी तब बलदेवदासजी की गद्गद टिप्पणी यह रही कि एक बारगी देने को और बची है सो कभी वह भी दे देगा।

रामेश्वरदासजी भी व्यावसायिक साझेदार और शिष्य के रूप में उनके निकट रहे। अफीम की लेवा-बेची से जिस समय व्यापार रुई और चाँदी की लेवा-बेची की ओर गया, उस समय बम्बई में रामेश्वर ही पिता के साथ था। रामेश्वरदास इसलिए भी प्रिय था कि वह घरेलू मामलों में सबसे अधिक दिलचस्पी लेता था और समाजसेवा के क्षेत्र में अग्रणी था। बम्बई में उसने 'मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी' की स्थापना की और सुप्रसिद्ध 'बम्बई अस्पताल' खुलवाया।

ब्रजमोहन सबसे छोटा था, इसलिए उसका लाड़ला होना स्वाभाविक था। घनश्यामदास, 'घणश्यो' तीसरा बेटा था, सो भी बीच का। बहुधा इस श्रेणी के पुत्र थोड़े उपेक्षित रह जाते हैं, किन्तु यहाँ स्थिति सर्वथा उल्टी रही। घणश्यो के प्रति पिता का स्नेह कुल मिलाकर बीस ही था, उन्नीस नहीं। अपने इस पढ़े-लिखे, बुद्धिजीवी, समाजसेवी, कर्मठ और आधुनिक पुत्र से बलदेवदासजी विशेष रूप से प्रसन्न थे। उन्हें कहीं इसमें उन्हीं बातों और गुणों का विकास होता दिखायी देता, जिनके कारण वह और उनके पिता शिवनारायण विशिष्टता को प्राप्त हो सके थे। घणश्यो से बात करने में उन्हें बहुत आनन्द आता था और अक्सर दिलचस्प नोंक-झोंक भी हो जाती थी। अगर घणश्यो की टीका-टिप्पणी ने उन्हें बारहमासी फलाहारी बना दिया तो उनकी टीका-टिप्पणी ने घणश्यो को अंग्रेजी दवाओं से विरत करके आयुर्वैदिक औषधियों और प्राकृतिक चिकित्सा के नुस्खों की ओर प्रवृत्त किया। किस मामले में क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस बारे में वह घणश्यो से परामर्श स्वयं करते और दूसरों से भी करने को कहते। मन खोल तर्क-वितर्क के बाद बाप-बेटा में युक्तियुक्त समझौता हमेशा होता। जब भी बलदेवदासजी को किसी बात के लिए राजी करवाना होता, परिवार वाले जी. डी. बाबू को ही आगे करते। बलदेवदासजी अक्सर कहते कि नये जमाने के उद्योग-व्यापार की रीति-नीति कोई समझता है तो घणश्यो।

यद्यपि एक स्तर पर बलदेवदासजी को परम्परावादी और घनश्यामदासजी को आधुनिक कहा जा सकता था तथापि वह एक-दूसरे को समझ सकते थे क्योंकि इससे अधिक बुनियादी स्तर पर पिता-पुत्र अपनी-अपनी पीढ़ी के समन्वयवादियों का प्रतिनिधित्व करते थे। पुराने में जो अच्छा है सो बनाये रखना है, नये में जो

अच्छा है उसे ले आना है, भारतीय पुनर्जागरण का यह मूलमन्त्र दोनों ने ही अपने-अपने जमाने में, अपने-अपने ढंग से हृदयंगम किया था। आश्चर्य नहीं जो बलदेवदासजी कहते हों कि हमारी प्रकृति को घनश्यामदास ज्यादा समझता है।

आधुनिक होते हुए भी पितृ-सेवा के मामले में घणश्यो सर्वथा परम्परावादी रहा। उसका हमेशा यह यत्न रहा कि हर कार्य पिता की अनुमति और आशीर्वाद लेकर ही शुरू करें और काशीवासी पिता की सुख-सुविधा के लिए जितना कुछ हो सकता हो करें। जब सन् '50 के कुम्भ में वयोवृद्ध पिता ने प्रयाग जाने की इच्छा व्यक्त की, तो पुत्र ने कलकत्ता से विमान भिजवा दिया कि इसी पर चढ़कर मेला-स्थल की परिक्रमा कर लें।

पुत्रों-पौत्रों के लिए बलदेवदासजी की एक ही सीख थी--सद्प्रेरणा उठे मन में तो अविलम्ब पूरी करो, संकल्प उठाया हो तो संकल्प की पूर्त्ति चाहे जैसे हो करो, क्योंकि उसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं। इच्छा-निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। अलसाते मत रहो, इच्छा फुर्ती से पूरी करो। कमाओ और बाँटो, क्योंकि कमाकर खुद ही खाने से बड़ा कोई पाप नहीं। जो दूसरों के काम न आये, वह मनुष्य कैसा! जो दूसरों के अभाव दूर न करे, वह धन किस काम का! दान दो, दया करो, असद्वृत्तियों का दमन करो!

घणश्यो ने पिता की इस सीख को अपने जीवन में पूरा उतारा। बाप-बेटों में बहुत ज्यादा लल्लो-चप्पोवाला रिश्ता नहीं था। इशारे से कहने-समझनेवाली बात ही थी। बलदेवदासजी ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि वृद्ध व्यक्ति अपने जवान बेटों पर किसी तरह का अधिकार जताये यह ठीक नहीं। ऐसा करने से तो बेटों की ओर से श्रद्धा में कमी हो जाती है। पुत्र-पौत्र के माया-मोह से अलग रहना और अपना अधिकार-कर्म अपने पास ही रखना यह श्रेयस्कर है। इस निस्संगता के बावजूद संवाद की स्थिति बराबर बनी रही तो इसीलिए कि पिता-पुत्र एक ही साँचे में ढले थे। यह तो उनका ही परिवार था जो किसी पर बोझ नहीं बनना चाहते और किसी दूसरे का बोझ उठाने को सदा तैयार रहते हैं।

पुत्रों को इस बात का अपार सन्तोष था कि ज्योतिषी की गणना के बावजूद उनके माता-पिता का सुखद साया बराबर उन पर बना हुआ है। माता-पिता सौ शरद भोगने के वैदिक आदर्श को पूरा करेंगे, ऐसा विश्वास उन्हें हो चला। जब तक आप हैं, तब तक हमें लड़कपन करने का अधिकार है, ऐसा पुत्रों से सुनकर

माता-पिता भी प्रसन्न होते। एक बार उपवन में जुटी पण्डित-सभा में भगवानदासजी ने महाभारत से भीष्म पितामह की यह उक्ति उद्धत की कि जिसके माँ-बाप जिन्दा हों वह साठ वर्ष का भी हो जाये तो भी ऐसा रह सकता है जैसे माँ की गोद में दो वर्ष का बच्चा। इसलिए जहाँ आप बड़े भाग्यवान हैं, वहाँ आपके पुत्र तो और भी ज्यादा भाग्यवान हैं, क्योंकि उन पर आपकी स्नेहछाया बनी हुई है। सुनकर बलदेवदासजी बहुत ही आनन्दित हुए।

सन् 1952 में एक दिन सोफे पर आराम कर रहे थे कि करवट बदलते हुए गिर गये और दुर्योग से नितम्ब की हड्डी टूट गयी। सभी पुत्र विशेषज्ञ-डाक्टरों को लेकर पहुँचे। बलदेवदासजी प्लास्टर चढ़ाने के लिए राजी नहीं हुए। उधर सहसा उनकी प्रॉस्ट्रेट ग्रन्थी की तकलीफ भी बढ़ गयी और डाक्टरों ने उनका तुरन्त ऑप्रेशन करने का आग्रह किया। इसके लिए भी वह तैयार नहीं थे। उन्हें मनाने की जिम्मेदारी जी. डी. बाबू को सौंपी गयी। पुत्र ने पिता से कहा कि आप तकलीफ बरदाश्त कर लेते हैं इसमें किसे सन्देह है; लेकिन आपकी तकलीफ हमसे बर्दाश्त नहीं होती, यह भी तो आप समझें। आपकी पीड़ा देखकर हमें जो पीड़ा हो रही है, उसे दूर कराइये। पण्डित पुत्र का यह तर्क पण्डित पिता से काटा नहीं गया। बम्बई से सर्जन कपूर बुलाये गये। उन्होंने कहा कि राजा साहेब को खाँसी है, इसलिए ऑप्रेशन आज करना ठीक न होगा। बलदेवदासजी बोले कि अगर खाँसी से ही तेरा ऑप्रेशन बिगड़ता है तो खासूँगा भी नहीं, मगर ऑप्रेशन आज ही कर। ऑप्रेशन किया गया, वहीं घर पर। लिहाजा लोकल एनेस्थिजिया देकर चीरा लगाया गया। ऑप्रेशन के साथ-ही-साथ प्लास्टर भी चढ़ा दिया गया।

हड्डी जुड़ते ही बलदेवदासजी ने फिर वही दिनचर्या शुरू कर दी। नित नियम से गंगा-स्नान के लिए जाते रहे। एक दिन सीढ़ियों पर फिसलने के कारण चाल में लचक आ गयी थी। पुत्रों के जोर देने पर बलदेवदासजी ने गंगा-स्नान के लिए जाने का आग्रह छोड़ा और घर में ही गंगाजल मँगाकर नहाने लगे।

बारह मार्च 1956 सोमवती अमावस्या के दिन राजा बलदेवदास ने तबीयत ढीली होने के बावजूद हर वर्ष की तरह लगभग सौ पण्डित आमंत्रित किये, और उनमें से हरेक को चाँदी का कटोरा, एक गिन्नी और एक उत्तरीय भेंट किया। प्रसंगवश राजा साहब को चाँदी के बर्तन दान करने का इतना शौक था कि उनके जमाने में काशी के ब्राह्मणों के हर घर में लगभग एक-से चाँदी के बर्तन नजर आने लगे थे। अब की सभा में बलदेवदासजी ने एक सन्तरा और एक रुपया बीच में रखकर यह सवाल उठाया कि 'वृद्धिरादैच' का क्या अर्थ है? जिसने भी शब्दों में

अर्थ समझाया उसे उन्होंने टोका कि रूपक में घटाओ। इस पर एक पण्डित हाथ से सन्तरा छीलने और खाने का इशारा करके अपनी बात समझाने लगा तो दूसरा सन्तरे का बीज उगाने और सन्तरे का पेड़ उगाने की बात संकेतों से कहने लगा। इन मूक नाटिकाओं पर खूब ठहाके लगे। अन्त में इस विनोदी वृद्ध ने मूक नाटक करनेवाले सभी बोलती-बन्द पण्डितों को ग्यारह-ग्यारह रुपये अतिरिक्त दक्षिणा दी। होली के दिन भी वह इसी तरह प्रसन्नचित्त रहे यद्यपि साँस की तकलीफ काफी बढ़ गयी थी और टूटा हुआ पाँव भी बराबर कष्ट दे रहा था। मार्च के अन्त तक किसी तरह उन्होंने अपनी कृश-काया को कठिन दिनचर्या के कोल्हू से जोते रखा, लेकिन तीस तारीख को शरीर जवाब देने लगा।

रामेश्वरदास उन दिनों बनारस आये हुए थे। उन्होंने कहा कि अगर आपकी आज्ञा हो तो सब लोगों को बुलवा लें, घनश्यामदास यूरोप गया हुआ है उसे भी खबर कर दें। बलदेवदास ने कहा कि ऐसे अवसर पर एक पुत्र की आवश्यकता होती है, सो तू है ही। मरते दम तक जीने की प्यास और विनोद की वृत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। सभा जुटायी और सभापति से कहा कि ब्रह्मा एक है और जीवात्मा अनेक। फिर यह जीवात्मा क्यों तो इस शरीर को छोड़ता है और क्यों इसमें फिर आता है? अगर कोई सन्तोषप्रद उत्तर दे सके तो एक हजार रुपया इनाम!

31 मार्च की रात तबीयत सहसा ज्यादा खराब हुई। जुगलकिशोरजी और ब्रजमोहनजी को फोन किये गये। ब्रजमोहन अगले दिन सुबह ग्यारह बजे रोगी पिता के पास पहुँचे। पिता ने अपने सबसे छोटे पुत्र को आशीर्वाद दिया और ग्यारह बजकर पचास मिनट पर इस संसार से विदा ली। वह तब 93 वर्ष के थे।

वह आदमी उठ गया जिसके बारे में बनारस के रिक्शेवाले तक यह कहते थे कि काशी में गंगा के इस पार का राजा वही है।

वह नहीं रहा मगर अपनी क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य—त्रिभंगी परम्परा को निभाने और आगे बढ़ाने के लिए अपने प्रिय पुत्र घणश्यो उर्फ घनश्यामदास बिड़ला उर्फ जी. डी. बाबू को पीछे छोड़ गया जो उस समय सुदूर लन्दन में अपने देश और अपनी बिरादरी के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण परामर्शों में लीन था।

हरिद्वार

सन् 1894 ईसवी यानी संवत् 1951 विक्रमी की रामनवमी के शुभ दिन बालू के टीलों की ओट में ऊँघते मात्र तीन हजार की आबादीवाले गाँव पिलानी में, सेठ शिवनारायण बिड़ला द्वारा इक्कीस वर्ष पहले ही बनायी गयी नयी हवेली में उनके इकलौते बेटे बलदेवदासजी की घरवाली ने तीसरे बेटे को जन्म दिया। शकुन विचारनेवालों ने कहा कि रामनवमी को जन्मा बालक यशस्वी तो होगा ही। ग्रह विचारनेवालों ने जन्म-पत्री वाँचकर बताया कि प्रखर बुद्धिवाले इस बालक का सारी दुनिया में नाम होगा। नाम रखा गया घनश्यामदास। भगवद्भक्त शिवनारायणजी ने अपने पौत्र का नाम रखते समय 'घनश्याम' को भगवान् श्रीकृष्ण के ही अर्थ में प्रयुक्त किया होगा। उनकी कल्पना के अनुरूप उनका पौत्र, 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्' लिखनेवाला घनश्याम का दास तो बना ही, लेकिन इस नामकरण की एक भिन्न सार्थकता भी कालान्तर में प्रमाणित हुई—'घन' का अर्थ 'मेघ' होता है और घनश्यामदास सचमुच ही मेघ बना—मेघ, जो गम्भीर था; मेघ, जिसके भीतर विद्युत की शक्ति और जल की तरलता थी; मेघ, जो प्राणिमात्र को अन्न-जल भी जुटाता है और सीपी को मोती भी। मरुभूमि का मेघ था वह बालक।

पिलानीवाले ऐसी बड़ी-बड़ी बातें जरा कम ही समझते थे। पिलानीवालों की दुनिया भी कुल मिलाकर गाँव के तीन हजार लोगों के परिवार तक सीमित थी। पिलानीवालों के लिए यही काफी था कि तीसरा बेटा हुआ है और जच्चा-बच्चा दोनों स्वस्थ-सानन्द हैं।

बलदेवदासजी को तो नहीं, उनके बड़े बेटे जुगलकिशोर को अवश्य जन्म-पत्रियाँ बनवाने-जँचवाने का शौक था। उन्होंने अक्सर घनश्यामदास की लग्न-पत्रिका पण्डितों को दिखवायी। चिड़ावा के गणेशजी उन दिनों सिद्ध ज्योतिषी माने जाते थे। उन्होंने घनश्यामदास की कुण्डली बाँचकर कई श्लोक पढ़े कि यह म्लेच्छों में उठेगा और बैठेगा तथा उनकी भाषा सीखेगा। सात समुन्दर पार यह अपने कुल का नाम रोशन क़रेगा। विलक्षण निकलेगा—यह भविष्यवाणी सुनकर बलदेवदासजी ने बस इतनी टिप्पणी की कि विलक्षण से अपने को क्या करना है। सामान्य होना चाहिए।

कुछ पिलानीवाले अलबत्ता ऐसे थे जो रेतीले टीले पार करके उस बड़ी-सारी दुनिया में कदम रख आये थे जिसमें बालक का नाम रोशन होने की बात ज्योतिषी कर रहे थे।

पिलानीवालों में प्रमुख सेठ शिवनारायण बिड़ला ने सुदूर बम्बई में सात साल दिसावरी (प्रवास) करके सेठाई का पद और नयी हवेली बनाने की क्षमता अर्जित की थी और अब बम्बई में ही लक्ष्मी की साधना कर रहे थे। उनके ही पद-चिह्नों पर चलते हुए उनका इकलौता बेटा बलदेवदास न केवल नयी दुनिया देख आया था बल्कि बम्बई और कलकत्ता—नवयुग की इन दो व्यावसायिक राजधानियों में परिवार की गद्दी भी स्थापित कर चुका था।

बलदेवदासजी तब उन्नीस वर्षों का अनुभव सँजोये 31 वर्षीय 'बुजुर्ग' व्यापारी थे जो अपने पारसी, गुजराती और अंग्रेज प्रतिद्वन्द्वियों की नयी रीति-नीति के प्रति जिज्ञासु थे और चाहते थे कि उनके परिवार को भी नयी चेतना का स्पर्श मिले, उनका परिवार भी उद्योग-व्यापार के नवसंसार में अपने लिए जगह बनाये।

कदाचित् यह बालक इसी इच्छा की पूर्त्ति के लिए जन्मा हो। जो हो, शिवनारायणजी और बलदेवदासजी, दोनों को ही जन्म-पत्रियों में अधिक श्रद्धा नहीं थी। वे तो करम-पत्री में विश्वास करते थे।

तो बालक का नाम अपने इष्ट के नाम पर घनश्याम रखा, इस घनश्याम का संक्षिप्त संस्करण 'घणश्यो' चला दिया और बस। बालक है, जहाँ तक खींच सके बचपन को खींच ले, व्यवसाय की पुश्तैनी नकेल पड़ ही जानी है किशोरावस्था आते-आते।

घर में वूढ़ों तथा औरतों की और नौकरों-चाकरों की दुनिया में पीछे छूट गया बालक; बड़े दिसावर चले गये दिसावरी को—कोई बम्बई, कोई कलकत्ता।

जब घनश्यामदासजी अपने पिता बलदेवदासजी की तरह फलित ज्योतिष के प्रति पूरी तरह अनास्थावान रहे आजीवन, तब कोई जीवन-चरितकार क्यों उसे बँचवाने के चक्कर में पड़े किन्तु यह तो कहना ही होगा कि विलक्षण निकले। गुण-सूत्रों के पाँसे कुछ ऐसे पड़े, इतिहास-भूगोल के योग-संयोग कुछ ऐसे बैठे कि जिसे 'घणश्यो' समझे थे वह 'जी. डी.' निकला—भारतीय उद्यम का पर्याय-पुरुष।

बालक अनोखा है, यह देखनेवालों ने शुरू में ही देख लिया। वह आपस में यही कहते कि इसे कितना कुछ तो याद रह जाता है, कितनी तो चीजों पर इसका ध्यान जाता है और कितनी सारी बातें यह अपनी तोतली बोली में सुना जाता है।

घणश्यो की स्मृति ने लेखा दर्ज करने का काम तीन साल की कच्ची उम्र में ही शुरू कर दिया था। यही कारण है कि लेखक जी. डी. बाद में 'वे दिन' के अन्तर्गत अपने बचपन और अपनी शिक्षा के रोचक संस्मरण बहुत विस्तार से लिख सके।

शिक्षा तब शुरू हुई जब बालक चार ही साल का था। सरस्वती और गणेश पूजन किया गया और धूमधाम से बच्चे को गाँव के बाजार में लगनेवाली खुली पाठशाला में भेजा गया, जिसे 'साल' कहा जाता था। यहाँ पहले सत्यदेवजी और बाद में ठाकर गाँगड़ी कुछ अपने डंडे के बल पर और कुछ भगवान के भरोसे पचास-एक लड़कों को पहले अंक-ज्ञान और फिर 'मोड़ा' अक्षरों का ज्ञान कराने का यत्न करते थे। मोड़ा उस घसीट का नाम है जिससे राजस्थानी वैश्य हिसाब-किताब के अपने पोथे लिखा करते थे। पिलानी की इस पाठशाला में अंक-ज्ञान अक्षर-ज्ञान से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इसलिए बालक घणश्यो बहुत मनोयोग से पट्टी, पहाड़ा, सवैया, डेढ़ा, ढावा, पौना, कन्कैया, जोड़, बाकी, गुणा, भाग से जूझने लगा। बहाड़ती से गोया जोर-जोर से दोहरा कर वह इन्हें याद करता—"एक आती तो एक, दूए का दो, तीए का तीन, चौके का चार, एक-एक ग्यारह" वाली गिनती से लेकर घूंटे के पहाड़े तक। गणित में सबसे ऊँची चीज होती थी कर्मा ब्याज। घणश्यो गणितज्ञ माना गया, क्योंकि अढ़ाई सेर के भाव पर एक मन घी का क्या दाम लेंगे—ऐसे सवालों का जवाब वह कम्प्यूटर वाली तेजी से देने लगा। घणश्यो का दिमाग जितना तेज था, शरीर उतना ही कमजोर। तो पाठशाला जाते हुए अक्सर बड़ा भाई रामेश्वर उसे पीठ पर बैठा

लेता था। पाटी-गणित की शिक्षा में वर्ष बीतते चले गये। जो घनश्याम रामेश्वर भाया की पीठ पर चढ़कर स्कूल जाता-आता था, अब उनके कन्धे में हाथ डालकर जाने-आने लगा। अगर कोई चीज नहीं बदली तो वह यह कि ताकतवर रामेश्वर पहले भी यदाकदा घणश्यो को चपतयाता था और अब भी चपतयाता रहा।

जब घणश्यो छः-सवा छः वर्ष का था, पाठशाला के गुरुजी किसी विधवा के प्रेम-दीवाने होकर भाग गये। सेठजी को, जो उन दिनों प्लेग से बचने के लिए अपने पुत्र बलदेवदास के साथ पिलानी चले आये थे, पोतों की शिक्षा की चिन्ता हुई। उन्होंने पाठशाला के संचालन का जिम्मा लिया और पहले कानसिंह नामक एक अध्यापक को नियुक्त किया और बाद में अंग्रेजी पढ़ाने की जरूरत अनुभव करके इस स्कूल के लिए भिवानी से रामविलासजी आमन्त्रित किये गये। पच्चीस रुपए मासिक के ऊँचे वेतन पर नियुक्त बलिष्ठ शरीर और क्रोधी स्वभाव के धनी मास्टर रामविलास अपने अंग्रेजी चालढाल के कारण एक आतंकप्रद युवक साबित हुए। उनके आग्रह पर ही स्कूल में घड़ी आयी, घड़ियाल आया। गँवई-गाँव वालों को भी यह समझना पड़ा कि नये जमाने में समय घड़ी की सुई पर भागता है। मास्टर रामविलास ने बच्चों को प्यारेचरण सरकार की 'फर्स्ट बुक आफ रीडिंग' से अंग्रेजी पढ़ायी। मास्टरजी हिन्दी कम और उर्दू ज्यादा समझते थे। इसलिए अंग्रेजी शब्दों का अर्थ उर्दू में बताया करते थे। उनका अंग्रेजी और उर्दू दोनों का ज्ञान कितना 'एक्स्ट्रा-आर्डीनरी' (असाधारण) था वह इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने जिज्ञासु घणश्यो को एक्सट्रा आर्डीनरी का अर्थ 'अजब तरह की चालाकियाँ' बताया था। घणश्यो पर जितना असर इस पाठशाला की पढ़ाई-लिखाई ने डाला, उससे ज्यादा असर घर और गाँव के वातावरण ने। यद्यपि सेठ का पोता और सेठ का ही बेटा था तथापि उस जमाने के सम्पन्न राजस्थानी वैश्य भी सम्पन्नता भोगने अथवा दिखावे में विश्वास नहीं करते थे। गाँव में उनका जीवन कठिन होता और दिसावरी में—बम्बई, कलकत्ता जैसे नये बसते महानगरों में कठिनतर। अभाव में जी सकना उनका स्वभाव बन जाता। यही संस्कार बालक घणश्यो को मिले, यद्यपि वह हवेली में रहता था, उसके यहाँ नौकर-चाकर थे और ढोर-डाँगर भी।

दादोजी और काकोजी (पिताजी) दोनों ने ही बच्चे को यम-नियम से बाँधा और अनुशासन के संस्कार दिये। सुबह पाँच बजे उठकर नहाओ-धोओ, पूजा-पाठ करने बैठो। चन्दन घिसो, तिलक करो और विष्णु के सहस्त्रनाम उचारो। ग्रहण के समय लेटो नहीं, ग्रहण में खाना न खाओ, ग्रहण में ग्रहित छाया कराकर ग्रहित छाया-दान करो। श्रावण में सोमवार को उपवास करो। और भी व्रतों के अवसर पर फलाहारी रहो। अगर बीमार पड़ो तो भी सान्ध्य प्रकाश के समय

खटिया से उठ खड़े होओ। बतौर उपचार तमाम तरह के जप-पाठ सुनो और दान के संकल्प करो।

विष्णु सहस्त्रनाम के साथ-साथ रामचरितमानस और दुर्गा सप्तशती का भी शुद्ध-अशुद्ध जैसा-तैसा पाठ करना घणश्यो को सिखाया गया और जब जी. डी. बाबू बन चुकने पर उसें बचपन में सिखाये गये इन पाठों की अशुद्धता का भान हुआ तब तक उसकी इन पर से श्रद्धा हट गयी। किन्तु जी. डी. बाबू के ही शब्दों में, "जो हो, श्रद्धा रही या न रही, पर जो अभ्यास कराया गया वह एक स्वभाव बन गया। एक तरफ राजस्थान का कठोर जीवन और साथ में मेरे माता-पिता के दिये ये यम-नियम, इन्होंने मेरी काफी भलाई की।"

यह समझना गलत होगा कि बालक के जीवन में कठिनता ही कठिनता थी, सरसता नहीं। इतना जरूर है कि गँवई गाँव में उस बच्चे ने जिन चीजों को मनोरंजन माना वह आज के सिनेमा-टेलीविजन-युग के शहरी बच्चों को नितान्त ऊबाऊ प्रतीत होगा। गाँव में एक बहुत ऊँचा और फैला हुआ वटवृक्ष था, जिसके कारण पिलानी तब 'बड़वाली पिलानी' क़हलाती थी। बरगद के इस पेंड़ के आर-पार पत्थर फेंकने की कोशिश करना गाँववालों का शौक था। किसी के यहाँ बच्चा होना, किसी के यहाँ किसी की मृत्यु होना, ये तमाम बातें विशिष्टतम घटनाओं का दर्जा रखती थीं और गाँववालों का काफी समय इनकी चर्चा करने में ही बीत जाता था। विदाई के अवसर पर ऊँट पर चढ़कर गाँव के बाहर जाती लड़की का लगभग गायन व रुदन "कूकाकूक" घणश्यो को बहुत ही मानोरंजक मालूम होता।

गाँव में दादोजी ने हवेली के साथ-साथ मन्दिर भी बनवाया था और इस मन्दिर की देखरेख के लिए नियुक्त थे स्यामीजी (स्वामीजी)। जन्म से राजपूत यह व्यक्ति इसलिए स्वामी चरणदास कहलाया क्योंकि इसके माता-पिता ने, जिनकी कोई सन्तान जीवित नहीं रहती थी, बालक को मन्दिर की मूर्त्ति के श्रीचरणों में चढ़ा दिया था। स्यामीजी वैद्यक जानते थे और गाँववालों का मुफ्त इलाज करते थे। गाँववाले उन्हें उनकी सेवाओं के एवज में नित्य प्रति इतना आटा दिया करते जो न केवल उनके लिए बल्कि मन्दिर में आते रहनेवाले भक्तों और कलाकारों के लिए भी टिक्कड़ सेंकने को पर्याप्त होता।

स्यामी जी वैद्य ही नहीं, संगीतज्ञ भी थे। सारंगी बजा लेते थे, गाना भी चाहते थे, मगर कफ की इतनी ज्यादा शिकायत थी कि स्वर सही निकल नहीं पाते थे। स्यामीजी के चलते मन्दिर गाँववालों के पूजन-आराधन और मनोरंजन दोनों का

ही केन्द्र बना। कभी मानस-पाठ, कभी भागवत, कभी विशेष पूजन और कभी रात-भर भजन-कीर्तन।

स्यामीजी का जो समय ठाकुरजी और गाँववालों की सेवा के बाद बचता सो वह हवेली में सेठ शिवनारायणजी के सान्निध्य में बिताते। वहीं फलित ज्योतिष के ज्ञाता श्योबख्शजी मिश्र और पाठशाला के अध्यापक रामविलासजी जैसे अन्यान्य बुद्धिजीवी भी एकत्र होते। ज्ञानवर्धन होता, हँसी-मजाक होता। स्यामीजी और श्योबख्शजी दोनों ही जबरदस्त हँसोड़ व्यक्ति थे। यह ज्ञान-चर्चा, यह हँसना-हँसाना बालक घणश्यो के मन में बसता रहा और आगे चलकर जी.डी. बाबू के लिए ज्ञानार्जन स्वयं मनोरंजन का पर्याप्त साधन बन गया। अपने व्यावसायिक जीवन के व्यस्ततम दौर में भी उन्होंने हर महीने आठ-नौ नयी पुस्तकें पढ़ने और उनके सम्बन्ध में विद्वान मित्रों से चर्चा करने का क्रम बनाये रखा।

स्यामीजी का संगीत-प्रेम भी बालक घणश्यो को छू गया। वह पेटी के बाजे पर यानी हारमोनियम पर राग-रागिनियाँ निकालने लगा और मधुर कण्ठ से गाने भी लगा। दादोजी अपने इस संगीतज्ञ पोते से विशेष प्रभावित थे और जब भी कोई मिलनेवाला आता, वह उससे कहते कि इन्हें पक्का गाना सुना। घणश्यो पेटी का बाजा अपनी ओर खींचता, उस पर लहरा बजाता और फिर 'अभागा हिन्दुस्तान तुझमें नहीं है जान' जैसी कोई बन्दिश सुनाता।

गाँव में जहाँ स्यामीजी जैसे संगीतज्ञ थे, कमरदीन इलाही जैसे पहलवान भी थे। अगर स्यामीजी के संगीत - कौशल का यह चमत्कार था कि सारंगी पर उनसे सारे स्वर उलटे - पुलटे लगते थे तो कमरदीन इलाही की पहलवानी का यह हाल था कि दाँव - पेंचों से कतई अनजान गीगलिया ऊँट वाले ने उसे एक झपट्टे में सिर से ऊपर उठा लिया और फिर लोगों से पूछा कि इसे कहाँ पटकूँ? खैर, कमरदीन इलाही ने अपनी ओर से पहलवानी की तैयारी में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी। रोजाना एक हजार दण्ड पेलता और सेरों दूध पीता। इस कमरदीन की देखा-देखी बालक घणश्यो भी अखाड़े की धूल से सनने के लिए ललका। वह रोजाना दण्ड-बैठक करता और दाँव-पेंच सीखता। कमजोर-सा बच्चा और कुश्ती का शौकीन! कुल मिलाकर सींकिया पहलवान।

वह पहलवान कैसा जो तर माल न खाये? घणश्यो ने मलाई को अपनी पहलवानी का मुख्य आहार बनाया। घर में दूध उबालने का काम विधवा ब्राह्मणी रूपा किया करती थी, जो उम्र में घणश्यो से बहुत बड़ी नहीं थी। जब वह मिट्टी

की कढ़ाई में दूध उबालने बैठती, तब घणश्यो अपनी छोटी बहन जयदेवी के साथ उसके पास आ धमकता और माँग करता कि सारी मलाई निकालकर मुझे दे दी जाये। रूपा बेचारी मलाई देते डरती कि कहीं बाद में मक्खन कम निकला तो डाँट पड़ेगी। मलाई न देते भी उससे नहीं बनता था, क्योंकि इस पहलवान को तगड़ा बनने के लिए मलाई की कितनी जरूरत है वह स्वयं अपनी आँखों से देख सकती थी।

प्रसंगवश, पहलवान कमरदीन इलाही को फरमाइशी पटकनी देने का प्रस्ताव करनेवाला गीगलिया गाँव में कुछ और बातों के लिए भी मशहूर था। पहली तो यह कि वह ऊँट उठा सकता है, दूसरी यह कि वह अपने ढंग का अनोखा निशानेबाज है। तीसरी यह कि वह उल्टा-सीधा कुछ भी किसी से भी बोल देता है। अनोखी निशानेबाजी के अन्तर्गत उसने एक बार अपनी बन्दूक से गोली चलायी तो वह निशाने से बीस गज बायें पड़ी और उसकी माँ के पैर में लगी। उल्टा-सीधा बोलने के अन्तर्गत उसने गोली लगने से धराशायी जननी से कहा, "अत् तेरे की, माँ राँड़ जरा-सी दिल्लगी करते ही लोट गयी।" गीगलिया की इस तरह की उक्तियों को गाँववाले बार-बार दोहराते और उस पर हँसते-हँसाते—यह भी एक मनोरंजन था। जो हो, बालक घणश्यो के लिए बन्दूकधारी गीगलिया भी अपने ढंग से एक प्रेरणा-स्त्रोत बना। वह स्वयं अनाड़ी निशानेबाज रहा हो, बालक के मन में अचूक निशानेबाज बनने की उमंग जरूर भर गया।

बटमार धाड़ैतियों के उस दौर में दिसावरी पर जानेवाले वैश्य भी अपने साथ हथियार रखना जरूरी समझते थे, इसलिए नयी हवेलीवाले बिड़लाओं के लिए बन्दूकें-पिस्तौलें सुपरिचित थीं। सेठ शिवनारायणजी निशानेबाजी को बहुत प्रोत्साहन देते। उन्होंने हवेली के पास के कुँएँ पर एक छोटा-मोटा चाँदमारी क्षेत्र बना रखा था। निशाना लगानेवाला कुँएँ की गून पर ल्हेसवे के पेड़ के पास खड़ा होता और कुँएँ पर बनी चन्द्रमा की छोटी-सी प्रतिमा का निशाना साधता। जिसका निशाना प्रतिमा के ठीक बीचो-बीच लग जाता, उसे शिवनारायणजी की तरफ से चूड़ यानी बाजूबन्द भेंट किया जाता। कभी-कभी तालाब में एक नारियल डालकर उस पर निशानेबाजी करवायी जाती। दादोजी को यह देखकर बहुत प्रसन्नता होती कि इस तरह की प्रतियोगिताओं में पोता घणश्यो अक्सर बाजी मार ले जाता है।

अचूक निशानेबाज होते हुए भी घणश्यो ने पारिवारिक संस्कारों का आदर करते हुए शिकारी बनने की बात कभी नहीं सोची। हाँ, शिकारियों का वह

गाँव में लोगों का काफी समय भूत-प्रेतों के किस्से सुनने-सुनाने में कट जाता था। हर कोने में कोई-न-कोई भूत या अतृप्त पितर जमा हुआ था और बीच-बीच में किसी-न-किसी को डराता रहता था। घणश्यो को कभी इन मायावी जीवों से डर नहीं लगा, भले ही घर की औरतें उसे इनका नाम ले-लेकर डराती रही हों। एक अदद 'पित्तर' बिड़ला-परिवार के भी थे, जो सफेद कपड़े पहने और सफेद घोड़े पर चढ़े यदा-कदा यत्र-तत्र दिखायी दे जाते थे। बड़े-बूढ़ों का विश्वास था कि यह परिवार के संरक्षण और संवर्धन की चिन्ता में ही लोक-परलोक के बीच अधर में लटके हुए हैं। ये जब भी दिखायी देंगे, कोई चेतावनी देने या अपना असन्तोष प्रकट करने के लिए ही। तो एक बार ऐसा हुआ कि बालक घणश्यो देर से घर लौटा। काकोजी को क्रुद्ध मुद्रा में बैठे देखकर वह डर गया और दौड़कर उसने एक खण्डहर में शरण ली। लोग उसे खोजते हुए खण्डहर के पास से कई बार गुजरे लेकिन भीतर कोई नहीं आया। बालक पकड़ा तभी गया, जब वह लोगों की इस मूर्खता पर हँस पड़ा। पकड़े जाने पर उसे आश्चर्य हुआ कि पिटाई की जगह उसे प्यार-पुचकार मिल रहा है। कारण यह था कि किसी को खण्डहर के बाहर वही श्वेताम्बरी, श्वेत अश्वारूढ़ पित्तर महोदय दिखायी दिये थे। निश्चय ही वह असन्तुष्ट थे और उन्होंने ही बालक को छिपाया था। तो उन्हें खुश करने के लिए खीर बनायी गयी, जिसे घणश्यो ने भी प्रेम से खाया।

घणश्यो न इस पित्तर से कभी डरा और न गाँव की उस बदसूरत बुढ़िया से, जिसे गाँववालों ने डाकिन ठहरा दिया था। बर्जली नामक इस बुढ़िया के विषय में कहा जाता था कि अन्य राजस्थानी चुड़ैलों की तरह यह भी जरख की सवारी करती है। जरख यानी उदर-पूर्त्ति के लिए कब्रिस्तानों के गड़े मुर्दे उखाड़नेवाला लकड़बग्घा। यह भी माना जाता कि जो बच्चा बर्जली की बुरी नजर लगने से बीमार पड़ा हो, वह बर्जली से उसके मुँह पर थुकवा लेने से अच्छा हो सकता है। जब भी कोई बच्चा बीमार होता, बर्जली से मान-मनुहार करके उसके मुँह पर थुकवाया जाता। बर्जली जानती थी कि डाकिन होने के आतंक से ही मेरी रोटी-रोजी चलती है, इसलिए उसने इस विशेषण को शिरोधार्य करने में कभी आपत्ति नहीं की। बच्चों को जादू से मारने और मरे हुए बच्चों का कलेजा निकालकर खा जाने की अपनी तथाकथित प्रकृति के विषय में उसने ऐसे किस्से प्रचलित होने दिये, जो आज की दुनिया में निश्चय ही मानहानि के मुकदमों के विषय बनते। बालक घणश्यो को बरजा गया कि खबरदार, इस बर्जली के पास न जाना। मगर वह डरता तब न! उसने कई बार चोरी-छिपे बर्जली को देखा और हर बार यही अचरज किया कि इस निरीह बुढ़िया में ऐसा क्या है कि लोग-बाग इससे डरते हैं।

गाँव में बिड़ला-परिवार के बच्चों के लिए खाली समय काटने का एक और जरिया था। पुरानी और नयी हवेली के कमरों के चक्कर काटना और उनमें लुका-छिपी करना। दोनों हवेलियाँ पास-पास थीं। दादोजी और काकोजी का जन्म पुरानी हवेली में ही हुआ था। बच्चे सभी नयी हवेली की उपज थे। पुरानी हवेली अब दादोजी के चाचा के परिवार की थी। इस हवेली की ल्होड़ती दादी और चुरूवाली दादी की बातें रामेश्वर भाया अक्सर घण्श्यो को सुनाया करता। ल्होड़तो दादी पुरानी साड़ का लोगड़ कातती यानी रुई से मोटा सूत कातती और उसी से अपने लिए कपड़ा बनवाती। पुरानी हवेलीवाले अब विपन्न अवस्था में थे। मगर सम्पन्न नयी हवेलीवाले उन्हें पूरा आदर देते थे। जब भी कोई दिसावरी से लौटता, ल्होड़ती दादी के पाँव छूता और चाँदी के पाँच रुपये उनके हाथों में रखता। वैसे यह वह गाँव था, यह शेखावाटी का वह वैश्य समाज था, जिसने विलासिता कभी नहीं जानी, इसलिए अमीरी-गरीबी से भी एक अर्थ में अनजान ही रहा। तो आर्थिक स्थिति में थोड़ा अन्तर आ जाने के बावजूद पुरानी और नयी हवेली में खान-पान और रहन-सहन का स्तर लगभग एक-सा रहा।

नयी हवेली जिस नयी सम्पन्नता का परिचय दे रही थी, उसे चोरों-डाकुओं की नजर लगने का खतरा था। दादोजी, काकोजी और बड़े बच्चे ज्यादातर दिसावरी में रहते। जब भी उनमें से कोई लौटकर आता तो साल-छः महीना रहने का मन बनाकर ही आता। अक्सर ऐसा होता कि घर में माँ और छोटे बच्चे ही रह जाते। कोई चौकीदार तो था नहीं। रात को माँ अपनी ननद हस्ती से बीच-बीच में कहती रहती, "क्यों हस्तीसिंहजी, जगे हुए तो हो न?" और ननद अपनी आवाज को भारी और मर्दाना बनाते हुए जवाब देतीं, "हाँ, जगा हुआ हूँ, तुम बेफिकर रहो।" इस नाटक से ननद-भौजाई सम्भावित चोरों को आतंकित करने का यत्न करतीं। बिना मर्दोंवाले घर में दादी, माँ, बुआ और बहनों के सान्निध्य में रात को इस तरह भयभीत और आश्चर्यचकित एक-साथ होते रहना भी तो एक मनोरंजन ही था बालक घणश्यो के लिए।

पुरानी हवेली में नौकर-चाकर नहीं थे, मगर नयी हवेली में हीरा, सीरा और रूपा थे। हीरा को मारवाड़ी चाल में 'हीरो' कहा जाता और वह सचमुच बालक घणश्यो के लिए अंग्रेजीवाले अर्थ में हीरो रहा। जी. डी. बाबू ने लिखा है कि मेरी हीरा सम्बन्धी सबसे पहली स्मृति तब की है जबकि मैं मात्र तीन वर्ष का था और हीरा पचपन का। वह तब हवेली में अड़तीस साल पुराना नौकर था। हीरा जाट था और उसकी पगार आठ आना-रुपया महीना ऐसी ही कुछ थी। मगर वह हमेशा बहुत साफ-सुथरा रहता और अपने को तथा अपनी मूँछ-दाढ़ी को सजा-सँवारकर

बालक घणश्यो

बहुत अकड़ के साथ बाहर निकलता। हवेली के दोनों ऊँट हीरा के जिम्मे थे और हीरा उन पर जान न्यौछावर करता था। ठिगने कद और हल्के शरीरवाला जाट हीरा जब भी सज-धजकर और बन्दूक कारतूस लेकर ऊँट पर सवार होता, उसकी यही कोशिश रहती कि उसे राजपूत योद्धा समझा जाए। यह हीरा सचमुच अचूक निशानेबाज था। बशर्ते निशाना एक हाथ चौड़ा हो और निशानेबाज से दस-पंद्रह कदम से ज्यादा दूर न रखा गया हो। जैसे गीगलिया से, वैसे हीरा से भी, बालक घणश्यो को बन्दूक-प्रेम प्राप्त हुआ।

हीरा ने बालक के सामने दान का भी एक अद्भुत कीर्तिमान स्थापित किया, क्योंकि उसने अपनी पगार में से सारे जीवन बचायी हुई पाँच सौ की पूँजी दान में लुटा दी। उसने धीरे-धीरे अपनी एक-एक चीज़ लोगों को दे दी और सिद्ध किया कि कर्ण-जैसे दानवीर कलयुग में भी पैदा होते हैं।

सीरा का पूरा नाम पण्डित श्रीराम शर्मा था। मगर वह इस पीढ़ी के लिए सीरो और अगली पीढ़ी के बच्चों के लिए सीरू-ताऊ बना। भजन गाने और कहानियाँ सुनाने में यह बेजोड़ था। सुबह-सुबह उठकर गाता, "सीताराम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न हनुमान हरि नमो नमो।" गायों की देखभाल करनेवाले सीरो को सरदर्द झाड़ देने का एक विचित्र मन्त्र भी आता था, जिसे याद करके लक्ष्मीनिवासजी आज भी मुस्करा उठते हैं। मन्त्र इस प्रकार था—"काली कंकाली महाकाली कहाँ चली कजली वन को। कजली वन में क्या करोगी? छप्पन छुरी पनाऊँगी। छप्पन छुरी पनाकर क्या करेगी। सिर का दर्द निकालूँगी। मन्त्रवाचा शब्द साचा चलो मित्रो ईश्वरोवाचा।" यह मन्त्र पढ़ते हुए वह छुरी से रोगी का माथा छूता और सिरदर्द गायब हो जाता।

गाँव की पाठशाला में ज्ञान घोघकर और गाँव के परिवेश से ज्ञान पाकर घणश्यो देखते-ही-देखते गाँववालों के लिए पूरा विशारद हो गया। सी. ए. टी. कैट, कैट माने बिल्ली, आर. ए. टी. रैट, रैट माने चूहा जैसे गूढ़ भेद बता सकनेवाला, अटककर ही सही अंग्रेजी अखबार-तार बाँच सकनेवाला यह बालक बड़वाली पिलानी के लिए शब्द के सही अर्थ में 'एक्स्ट्रा आर्डिनरी' यानी असाधारण होता रहा। तो क्या आश्चर्य कि जब 1903 में सेठ शिवनारायणजी तीर्थयात्रा के निमित्त पिलानी से निकले, तब ब्रहैसियत अंग्रेजी जानकार पोते घणश्यो को साथ ले गये। उस जमाने में गाड़ी नारनौल से मिलती थी। एक दिन पिलानी से बग्गड़ पहुँचने में लगता और एक दिन बग्गड़ से नारनौल। इस तीर्थयात्रा में शिवनारायणजी मथुरा-वृन्दावन देखकर कलकत्ता गये और फिर

पुरी आदि तीर्थों की यात्रा करके वम्वई पहुँचे। पिलानी लौटकर उन्होंने प्रमाणपत्र दिया कि पोता घणश्यो अंग्रेजी में प्रवीण है। यात्रा में टिकट भी खरीद लाया और जहाँ भी आवश्यकता हुई यह वेधड़क अंग्रेजी बोला। सारे ही काम किये इसने।

वालक घणश्यो ने दादोजी को कुछ ऐसा प्रभावित किया कि वाद में जव वह कलकत्ते पहुँचे तो उन्हें ख्याल आया कि क्यों न इस मेधावी वालक को धन्धे में डालने के लिए यहीं वुला लें? तो घणश्यो, जो अभी 10 साल का भी नहीं हुआ था, धन्धे की दीक्षा लेने दादोजी के पास कलकत्ता पहुँचा। किन्तु जव वहाँ के लोगों ने उसकी अंग्रेजी गिटर-पिटर सुनी तव सभी का यह आग्रह हुआ कि होनहार वालक को आगे पढ़ाया जाना चाहिए। दादोजी को यह सुझाव विशेष पसन्द नहीं आया, क्योंकि उनका ख्याल था कि लड़का पढ़ाई-लिखाई के चक्कर में पड़ गया तो व्यवसाय से विरक्त हो जायेगा। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेज जाति की अधिक सोहवत करने में दादोजी को 'क्रिस्तान' हो जाने का खतरा भी दिखायी दे रहा था। जव लोगों ने उन पर वहुत जोर डाला तो काफी सोच-समझकर पोते को उन्होंने भारतीय नाम और वातावरणवाले 'विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय' में भरती करवा दिया। यह वातावरण भले ही भारतीय रहा हो, बड़वाली पिलानी के सपूत के लिए तो सौ फीसदी अजनवी और परदेशी था। पाटीवाले ने कलकतिया स्कूल-वैग देखे, पिलानी के अनघड़पन का कलकतिया परिष्कार से साक्षात्कार हुआ और दुर्भाग्य कि दोनों ही ओर निराशावाला मामला रहा। तो घणश्यो ने स्कूल जाने की वजाय कलकत्ते की गलियों में चक्कर काटना वेहतर समझा। स्कूल के लिए वह ठीक समय पर घर से निकलता और ठीक समय पर ही घर लौट जाता। इसलिए किसी को पता नहीं चला कि वह कक्षाओं से गायव रहता है। परिवार के लोग उससे भी कम पढ़े-लिखे थे। इसलिए यह अन्देशा भी न था कि कभी पढ़ाई के सम्वन्ध में कोई प्रश्न करता और वह पकड़ा जाता। तो इस कलकत्ता-प्रवास में घणश्यो ने अगर किसी चीज का ज्ञान हासिल किया तो कलकत्ते के भूगोल का।

कलकत्ता में घणश्यो पास - फेल कुछ होता उससे पहले ही वलदेवदासजी आकर उसे वम्वई ले गये। वहाँ उन्होंने स्वयं उसे व्यवसाय की दीक्षा दी और साथ ही अंग्रेजी सिखाने के लिए एक मास्टर भी रखा। मास्टर को आदेश था कि इसे तार वाँचने और लिखने तथा अखवार समझने लायक अंग्रेजी सिखा दो। दो वर्ष यह क्रम चला, उसके वाद घणश्यो वापस पिलानी भेज दिया गया।

अव तक पिलानी की पाठशाला में चुरू के मास्टर श्रीराम आ गये थे, जो रामविलासजी के ही रिश्तेदार थे। मास्टर श्रीराम एन्ट्रेन्स यानी दसवाँ दर्जा पास

थे। इसलिए उनका बड़ा रूआब था। यह वह जमाना था जिसमें एन्ट्रेन्स पास व्यक्ति की इतनी धाक होती थी जितनी आज एम.ए. पास व्यक्ति की भी नहीं होती। मास्टर श्रीराम हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी में अच्छी गति रखते थे। पिलानी के बच्चों की ही नहीं, बुजुर्गों की भी यह मान्यता थी कि बीस वर्षीय मास्टर श्रीराम को डिक्शनरी-की-डिक्शनरी रटी पड़ी है।

पिलानीवाले जिस मात्रा में शहर से आये मास्टर श्रीराम से आतंकित थे, उसी मात्रा में मास्टर श्रीराम इस गँवई गाँव में घनश्यामदास जैसा मेधावी बालक पाकर चमत्कृत थे। भूतपूर्व अध्यापक रामविलासजी घणश्यो के बारे में मास्टर श्रीराम को बता गये थे कि यह लड़का बहुत तेज है और याददाश्त तो इसकी ऐसी है कि बड़े-से-बड़े और कठिन-से-कठिन शब्द का अर्थ और वर्तनी एक दिन समझा दो और फिर हफ्तों बाद पूछो तो सही-सही बता देगा। मास्टर श्रीराम ने शुरू में ही इस मेधावी बालक को रामविलासजी की बताई कसौटी पर कसकर देखा और वह सचमुच खरा निकला। वह बहुत ही खुश हुए और उन्होंने हवेली जाकर बलदेवदासजी से कहा, "आपणो घणश्यो तो सचमुच चमत्कारी टाबर है, बहुत ही मेधावी है। इसे आप उच्च शिक्षा दिलवायें। यह बहुत नाम कमायेगा।"

मास्टर श्रीराम के साथ पिलानी में अंग्रेजी का विधिवत प्रवेश हुआ। वह खाट पर बैठे हुए अंग्रेजी की पोथी में से कुछ बाँचते और सामने जमीन पर बैठे हुए बच्चे उसे सस्वर दोहराते। मास्टरजी अंग्रेजी शब्द की वर्तनी बताते, उसका अर्थ समझाते और बच्चों से दोहरा-दोहरा कर रटने को कहते। फिर वह बच्चों को ही एक-दूसरे की परीक्षा लेने का काम सौंपते, जिस बच्चे को शब्द की सही स्पेलिंग आती उसे मास्टरजी की ओर से यह विशेषाधिकार प्राप्त होता कि वह स्पेलिंग न जाननेवाले के एक झापड़ रसीद कर दे। घणश्यो को अक्सर झापड़ मारने का अधिकार प्राप्त होता और रामेश्वर भाया को झापड़ खाने का। घणश्यो समेत सभी बच्चे रामेश्वर भाया पर हाथ उठाते डरते थे, क्योंकि वह जानते थे कि पाठशाला से बाहर निकलते ही वह उनकी अच्छी 'ठुकन्तरी' कर देंगे।

मास्टर श्रीराम की पाठशाला में कोई निश्चित पाठ्यक्रम नहीं था और न यह तय था कि किस समय वह पढ़ायेंगे। जो मौज आयी सो पढ़ा दिया। कभी यह मान बैठे कि बच्चों को काफी अंग्रेजी आती है इसलिए 'ब्लेकीज़ सेल्फ कल्चर' शुरू करवा दी और कभी यह तय पाया कि ये तो अंग्रेजी में सिफर हैं इसलिए वापस 'इंग्लिश प्राइमर' पढ़ाने बैठ गये। मास्टरजी ने 'होरा चक्र' और 'शीघ्र बोध' जैसी पुस्तकें भी मौज आने पर पढ़ा दीं जबकि बच्चों की शिक्षा में उनका कोई स्थान हो

नहीं सकता था। एक दौर ऐसा भी आया जिसमें मास्टरजी ने 'लघुकौमुदी' और 'अमरकोश' रटाकर बच्चों को पूरा पण्डित बनाने की कोशिश की। इस पाठशाला से मास्टर श्रीराम और बिड़ला-परिवार के पुत्रों का वह सम्बन्ध शुरू हुआ जो आगे बराबर बना रहा और बढ़ता चला गया।

शिक्षा अपने ढंग से होती रही। मगर परीक्षा के नाम पर घणश्यो ने केवल लोअर प्राइमरी पास की, जिसे चौथे दर्जे के बराबर माना जाता था। इसके बाद अपर प्राइमरी, मिडिल और एन्ट्रेन्स जैसी परीक्षाएँ होती थीं, मगर घणश्यो से वे दिलवायी नहीं गयीं। इसके बावजूद स्वाध्याय से वह अनेक विषयों का विद्वान बन सका और इसीलिए जी. डी. बाबू को कभी भी परीक्षाओं और डिगरियों में विशेष आस्था नहीं रही।

पिलानी में घणश्यो ने पाठशाला में जो कुछ पढ़ा, उससे ज्यादा अपने घर में पढ़ा। पुस्तकों के लिए उसके मन में बहुत प्रेम था। दुर्भाग्य कि उन दिनों पुस्तकें बहुत कम छपती थीं और गँवई गाँव में उनका मिल सकना और भी कठिन था। जब भी जो किताब बालक के हाथ लगती, वह एक ही साँस में उसे पढ़ जाता और फिर दुबारा-तिबारा पढ़ के उसे याद कर लेता। पिलानी के घर में 'सुख-सागर' और 'भारत सार' था जिसे घणश्यो नौ-दस साल की उमर में ही पढ़ गया। इन पुस्तकों ने उसे भारत की प्राचीन कथाओं से परिचित कराया। उन दिनों हिन्दी की अपेक्षा गुजराती में अधिक पुस्तकें उपलब्ध थीं। बम्बई-प्रवास में घणश्यो ने इतनी गुजराती सीख ली कि वह गुजराती पोथियाँ बाँच सके। अंग्रेजी अखबार पढ़ने की भी वह बराबर कोशिश करता। बलदेवदासजी चाँदी वगैरा के भाव मालूम करते रहने के लिए विलायत तक सेअंग्रेजी अखबार मँगवाते थे। इन्हें बाँचने में बालक घणश्यो जब भी किसी शब्द पर अटकता, फौरन डिक्शनरी में उसका अर्थ खोजता और फिर उस शब्द की वर्तनी और अर्थ उसी तरह रटता जैसे पाठशाला में सी. ए. टी. कैट, कैट माने बिल्ली।

सेठ शिवनारायण को जहाँ अंग्रेजी में गुटरगूँ करता हुआ यह पोता कुल मिलाकर अच्छा लगता, वहाँ मन में यह आशंका भी होती कि कहीं यह अंग्रेजी बोलता-बोलता वाणियावाटी यानी बनियागिरी भूल ही न जाये। इस आशंका को दूर करने के लिए उन्होंने परिवार की तमाम पुरानी बहियाँ निकालीं और घणश्यो को इस आदेश के साथ दे दीं कि इन सबकी साफ-साफ नकल कर और मुझे दे। साहित्यानुरागी बालक के लिए यह काम जितना कष्टप्रद था, दादोजी की आज्ञा का उल्लंघन करना उतना ही कल्पनातीत। तो भले ही इस विषय में वह अपनी बहन

जयदेवी के सामने भुनभुनाया हो, दादोजी के दरबार में तो बैठकर चुपचाप बहियो की नकल करता चला गया। बहियों की नकल करते हुए उसने अनुशासन का महत्वपूर्ण पाठ सीखा और धन्धे-व्यापार के कई परम्परागत और पुश्तैनी लटकों का परिचय पाया।

रामेश्वर और घणश्यो दोनों ही पोते दादोजी की निगाह में बड़े हो चले थे और यह जरूरी था कि उनका शादी-ब्याह रचाकर दिसावरी पर भेज दिया जाये। नयी हवेली से इससे पहले वह बड़े पोते जुगलकिशोर का विवाह बड़ी धूमधाम से करा चुके थे। बारात फतेहपुर के बियाणियों के यहाँ गयी थी। उस जमाने में पिलानीवाले फतेहपुरवालों के मुकाबले में 'गँवार' ठहराये जाते थे, इसलिए बारातियों को सख्त ताकीद की गयी थी कि जीमणवार में परोसे गये लड्डुओं पर फौरन ही मुँह न मारें और मनुहार करने पर ही एक टुकड़ा तोड़कर मुँह में डालें। इस बार तो खैर पिलानीवाले ऐसी जनेत यानी बारात ले जाने वाले थे जिनमें दूल्हे 'ब्लेकीज सेल्फकल्चर' पढ़े हुए थे। रामेश्वरदास का रिश्ता करते हुए पिलानीवालों ने यह अनुरोध किया था कि लड़की वाले शादी पिलानी आकर करें ताकि शिवनारायणजी को सम्मिलित होने में सुविधा रहे। किन्तु विधि का विधान कि शादी के दिन पिलानी में इतनी ज्यादा ठण्ड पड़ी कि शिवनारायणजी घर से बाहर जाने का साहस न कर सके। दूल्हे राजा यानी बींदजी अलबत्ता मुकुट-सेहरा लगाकर गाजे-बाजे के साथ निकले। दस ही दिन बाद घनश्यामदास का विवाह होना था, इसलिए रामेश्वर के विवाह के लिए आये सभी रिश्तेदार और इष्टमित्र हवेली में ही रुके रहे। तभी खबर आयी कि घणश्यो की सुसराल चिड़ावा में प्लेग फैल गया है। इस चक्कर में विवाह पौने-तीन महीने टल गया, लेकिन सेठ शिवनारायणजी ने मेहमानों को बहुत ही आग्रह के साथ पिलानी में टिकाये रखा।

घनश्याम भाईजी को विनोदी वृत्ति अपने पिता से विरासत में मिली थी। भाभियों को यह विनोदी देवर बहुत प्रिय था। हवेली में खूब ठहाके लगते। एक दिन रामेश्वर भाया और उनकी नव-विवाहिता से घनश्याम ठहाकों का आदान-प्रदान कर रहा था कि काकोजी आ गये। वह बहुत गुस्सा हुए और उन्होंने बार-बार कहा कि यह कैसा लड़कपन है। रामेश्वर भाईजी और भाभी तो यह डांट-डपट सिर झुकाये सुन गये। लेकिन घनश्याम ने कहा कि काकोजी, आप नाराज क्यों होते हैं। हम लड़के हैं तो लड़कपन ही करेंगे या फिर आप कह दीजिए कि हम बुजुर्ग हैं। पुत्र का यह तर्क सुनकर पिता को हँसी आ गयी।

यों घणश्यो ने लड़कपन में भी ऐसा कुछ नहीं किया जिसकी वजह से

युवक घनश्यामदास बिड़ला

माता-पिता को या घर के किसी बड़े-बूढ़े को उस पर हाथ उठाना पड़े या आवाज उठानी पड़े, यद्यपि यह वह जमाना था जब छोटी-से-छोटी भूल और अवज्ञा पर बच्चों की जमकर ठुकाई करना सही लालन-पालन का एक विशिष्ट अंग माना जाता था।

उधर एक छोटा-मोटा हादसा यह हुआ कि खिलंदड़ रामेश्वर भाया ने खाट पर बैठे हुए घणश्यो को चुपचाप नीचे घुसकर उछाल दिया और उसका सर एक खम्भे से जा टकराया, खून बह निकला। रामेश्वरदास ने कागज जलाकर उसकी राख से खून किसी तरह बन्द किया और टोपी पहनाकर चोट को छिपाया। हवेली लौटे तो माँ को कहीं से पता चल गया, डाँट-डपट हुई कि शादी करने की उमर में पहुँचने के बावजूद बच्चे-के-बच्चे ही बने हुए हो।

आखिर घनश्यामदास को बींद राजा यानी दूल्हा बनाकर पिलानी से चिड़ावा ले जाने का दिन आया। बिड़ला परिवार में बिंदोरा निकालकर बींदराजा को ब्राह्मण के घर ले जाने की परम्परा थी। घनश्यामदास भी घोड़ी पर बैठाकर भौमिया ब्राह्मण के घर ले जाये गये। बिड़ला-परिवार में यह रिवाज नहीं था कि घोड़ी पर वर के पीछे किसी छोटे भाई-बहन को बैठायें। छोटी बहन जयदेवी ने बारात के साथ चिड़ावा जाने की इच्छा प्रकट की, लेकिन काकोजी बच्चियों के इस तरह से बाहर जाने के पक्ष में नहीं थे। घुड़चढ़ी की रस्म जरूर हुई, मगर बारात में बींद राजा हाथी पर सवार होकर गये।

बाराती सम्पन्न, घराती सम्पन्न, चिड़ावा में यह शादी धूमधाम के साथ हुई और यादगार रही। वधू-पक्ष में कलकत्ते का मशहूर सोमानी-परिवार था, जिसके कारोबार की और धन-ऐश्वर्य की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। बारात दो दिन चिड़ावा रही और तीसरे दिन वापस पिलानी पहुँची।

बींद राजा की बहनों, दोनों भाभियों और लक्षमणगढ़ से आयी एकमात्र बुआ ने बारात का स्वागत किया। नेग बुआजी को मिला। शादी करके किशोर घणश्यो बाकायदा घनश्याम भाईजी का पद पा गया और नयी हवेली में अपने दोनों शादी-शुदा बड़े भाइयों की तरह उसे भी अलग कमरा मिल गया। ऊपर की मंजिल के चार कमरों में से एक-एक इन तीन भाइयों का और चौथा इनकी माँ का हो गया।

दादोजी सेठ शिवनारायण ने अपने इन लाड़ले पोतों की शादी ऐसी धूमधाम

प्रथम पत्नी श्रीमती दुर्गादेवी

से की और इस उपलक्ष्य में इतना दान-पुण्य कराया कि बड़वाली पिलानी 'सेठों की पिलानी', 'बिड़लाओं की पिलानी' बन चली। पिलानी और उसके दस कोस की दूरी तक के सब ब्राह्मणों को बुलाकर भोजन कराया गया और दक्षिणा दी गयी। इसके बाद सातों पूरण यानी सातों जातियों के व्यक्ति जिमाये गये। आते-जातों को हाथ जोड़कर भोजन के लिए निमंत्रित किया गया और सभी जातियों और वर्ग के लोगों को समान आदर दिया गया। अपनी बिरादरीवालों के लिए विशेष भोज कराया गया, बिरादरी में और बिरादरी से बाहर भी स्त्रियों को कपड़े दिये गये।

पोता घनश्यामदास अब शादीशुदा हो चुका था और पढ़-लिखकर पूरा विशारद बन चुका था, इसलिए उसे व्यवसाय में विधिवत डाल देना सेठजी ने जरूरी समझा। तेरह वर्षीय घनश्यामदास को पिताजी के साथ बम्बई जाना पड़ा। रामेश्वर भाईजी, जो कुछ महीने बम्बई की मुसाफिरी करके पन्द्रह वर्ष की उम्र में 5000 रुपया कमाकर अण्टी में लाये थे, उनके साथ दुबारा बम्बई गये। यहाँ दोनों भाईयों ने मिलकर चाँदी के व्यापार के गुर सीखने शुरू किये। अफीम का धन्धा धीरे-धीरे मन्दा पड़ता जा रहा था और उसकी जगह रूई, अलसी और गेहूँ का व्यापार ले रहा था। अलसी अर्जेन्टाइना से नियन्त्रित होती थी, तो चाँदी लन्दन से। रूई का बम्बई से बड़े पैमाने पर निर्यात होता था। वायदे के सौदे होते और लेवा-बेची की जाती। मारवाड़ी लोग इस धन्धे में बहुत थे। घनश्यामदास ने अपने पिता और बड़े भाई के साथ इस धन्धे के गुर समझे मगर उसे परम्परागत व्यवसाय के प्रति बहुत उत्साह था नहीं। रामेश्वरदास पूरे जोर से चाँदी के क्षेत्र में कूद पड़े। उस जमाने में चाँदी की दुनिया के चार बड़े दलाल थे—पिक्सलीऐबल, मुकाटो, मोन्टेग्यू और शार्प। विदेशों में लेवा-बेची उनकी मार्फत ही करनी पड़ती थी। अंग्रेजी बोलने-समझनेवाला घनश्यामदास इसमें बहुत काम का साबित हुआ।

शादी के पूरे तीन साल बाद घनश्यामदास मुकलावा यानी गौना कराके अपनी पत्नी के पिलानी लाये। गौने के शीघ्र बाद ही वह गर्भवती हो गयी। बम्बई की दूसरी मुसाफिरी के बाद जब रामेश्वरदास और घनश्यामदास पिलानी पहुंचे तो एक को ताऊ और दूसरे को पिता कहलाये जाने का सुख प्राप्त हुआ। घनश्यामदास की अर्धांगिनी दुर्गादेवीजी ने 11 जुलाई, 1909 को पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जिसका नाम वैश्यों की आराध्या के नाम पर लक्ष्मीनिवास रखा गया। सेठ शिवनारायणजी को पड़पोते के जन्म पर बहुत ही खुशी हुई। हर रात गाँव के अलग-अलग मोहल्ले और अलग-अलग जातियों की औरतें झुण्ड बनाकर जच्चा-बच्चा की मंगल-कामना के गीत गाती हुई बिड़लाओं की हवेली पर

पहुँचतीं और बिड़ला-परिवार की ओर से इनमें से हरेक को सीकर की चुनड़ी उढ़ायी जाती, जो उन दिनों ग्यारह-ग्यारह आने में मिलती थी।

इधर यह खुशी मिली और उधर बलदेवदासजी ने अपनी दूसरी बेटी जयदेवी के विवाह की तैयारियाँ शुरू कीं। विधि की विडम्बना कि तभी घनश्यामदास की पत्नी का स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ने लगा। अभी लक्ष्मीनिवास दुधमुँहा ही था कि उसकी माँ को खाँसी और हल्के बुखार की शिकायत हो गयी थी। तपेदिक लाइलाज राजरोग माना जाता था। सुसराल में अपनी पहली दीवाली के दिन लक्ष्मीनिवास की माँ को खांसी के साथ बहुत खून आया, जिसे देखकर सास और ननदें घबड़ा गयीं। दिसावरी पर बम्बई गये घनश्यामदास को खबर की गयी। उनके आने के बाद चिड़ावा से अम्बाप्रसाद डाक्टर रोगिणी के इलाज के लिए बुलाया जाने लगा। हर आठवें दिन डाक्टर साहब आते और अपने ढंग से दवा-दारू कर जाते। इसी बीच जयदेवी का विवाह हुआ और वह अपनी सुसराल बीकानेर चली गयी। दीवाली से लक्ष्मीनिवास की मां ने जो खाट पकड़ी थी तो वह उससे तभी छूटी जब उसकी मृतप्राय: देह को फागुन में जमीन पर रखा गया।

पत्नी की मृत्यु से 15 वर्षीय किशोर घनश्यामदास को जबरदस्त सदमा पहुँचा। वह रात-दिन बस किताबों में डूबा रहने लगा। तिलक के गीता-रहस्य जैसी न जाने कितनी पोथियाँ उसने बाँच डालीं। लक्ष्मीनिवास को ननिहालवाले लालन-पालन के लिए अपने साथ ले गये। पहली पत्नी की मृत्यु के तुरंत बाद ही घर की औरतें दूसरे विवाह की बातें करने लगीं, लेकिन इनको सुनकर घनश्यामदास जिस तरह भड़कता उसे देखकर उन्होंने फिलहाल चुप ही रहना ठीक समझा।

प्रयाग

जब घनश्यामदास अपनी पहली पत्नी के असामयिक निधन के बाद बम्बई लौटे तब रामेश्वर भाया चाँदी के व्यापार में चमक निकले थे। चाँदी का लगभग आधा आयात उनकी ही मार्फत होने लगा था। घनश्यामदास पहले की तरह इस काम में योगदान करने लगे। रामेश्वर और घनश्याम की जोड़ी चाँदी बाजार में खूब जानी-मानीं हो चली। सुप्रसिद्ध बैंकर और व्यवसायी चूनीलाल सरैया इन भाइयों का मुरीद हो गया। चाँदी के व्यापार के बारे में वह उनकी राय की कद्र करता और उनकी ही मार्फत चाँदी के विदेशी सौदे करवाता। चूनीलाल ने अपना अलग बैंक कायम किया था और इस बैंक के माध्यम से उनसे चाँदी कारनर करनी शुरू की। देश-विदेश से खरीदी चाँदी उसने यह सोच कर बैंक के खाते पोते कर ली कि सरकार को सिक्के बनाने के लिए चाँदी खरीदनी ही पड़ेगी और मैं मुँह-माँगे दाम वसूलूंगा। विदेशी सरकार से इस तरह टक्कर लेना हँसी-खेल नहीं था। अंग्रेजों ने बगैर चाँदी के काम चलाया और सरैया के घुटने टिकवा दिये। सरैया खुद डूबा और अपने साथ बहुतों को ले डूबा। सरकार ने उस पर मुकदमा चलाया। मुकदमे में जीतने के बावजूद चूनीलाल ने आत्महत्या कर ली

इस घटना से परम्परागत लेवा-बेची के व्यापार के प्रति, उस व्यापार के प्रति जो बुनियादी तौर पर एक जुआ था, घनश्यामदास के मन में वितृष्णा और बढ़ गई।

प्राप्ते षोडषे वर्षे की स्थिति आते ही घनश्यामदास ने बम्बई से विदा लेकर

कलकत्ता में अपना स्वतन्त्र व्यवसाय शुरू कर दिया। जुगलकिशोर भाईजी की इच्छा थी कि वह उनके साथ रह कर पुश्तैनी व्यापार में हाथ बटाये मगर उसने कहा कि मैं तो दलाली का काम करूंगा। सुनकर परिवार के बुजुर्ग पहले सन्नाटे में आ गये। उस समय मारवाड़ियों में दलाली करना बहुत ही नीचा काम समझा जाता था। घनश्यामदास ने बहुत दृढ़ता से कहा कि अगर धन्धे-व्यापार में हमें अंग्रेजों से टक्कर लेनी है तो दलाली से परहेज करना छोड़ना पड़ेगा। उस जमाने में कलकत्ता में कुल एक ही भारतीय दलाल था—रैली ब्रदर्स का नरसी भाटिया। सोलह वर्षीय घनश्यामदास उसके पास इस विनती के साथ गया कि मेहरबानी करके मुझे दलाली के धन्धे के गुर सिखा दो। वह बोला, 'इसके 50 हजार रुपये लूँगा।' घनश्यामदास ने कहा, 'मंजूर'। अगले दिन घनश्यामदास 50 हजार रुपये लेकर पहुँचा तब वह बोला, 'एक लाख लूँगा।' घनश्यामदास ने एक लाख का भी जुगाड़ कर दिया तब वह बोला, 'तू तो सांप का बच्चा है, तेरा क्या ठिकाना। तुझे तो किसी कीमत अपना धन्धा नहीं सिखाऊंगा।'

उस जमाने में दस्तूर यह था कि हर कोई मिलों से माल नहीं खरीद सकता था। मिलों के अंग्रेज मालिकों ने उन पार्टियों की एक लिस्ट बना रखी थी जिनके हाथ वे माल बेचते थे। सन् 1913 में इस लिस्ट में घनश्यामदासजी के ससुर का भी नाम था। उन्होंने जामाता को बुलाकर कहा कि काहे को नरसी भाटिया के पीछे भटकता है! दलाली में सीखने वाली बात ही क्या है? पार्टियों की लिस्ट में मेरा नाम है और तू अंग्रेजी जाणे ही है। तो जा और खड़ा होकर मेरे नाम से चाहे जो खरीद ले। ससुर द्वारा इस तरह उत्साहवर्धन किये जाने पर घनश्यामदासजी ने उनके नाम से माल लेना और बाजार में बेचना शुरू किया। उन्हें पहले महीने में ही जबरदस्त मुनाफा हुआ। अपने साले के साथ उन्होंने जी. एम. बिड़ला कम्पनी नामक फर्म बनायी। इसमें जी. घनश्यामदास का था और एम. पुत्र लक्ष्मीनिवास के मामा मुरली मनोहर का।

बहुत बाद में जब घनश्यामदास बिड़ला देश के प्रमुख उद्योगपतियों में गिने जाने लगे तब नरसी भाटिया उनसे एक बार मिला। तब उसने उनसे कहा कि मैं ही था जिसने आपको लड़कपन में ही देख कर समझ लिया था कि आप क्या चीज हैं? और तो आपको निरा बालक समझे हुए थे। मैंने ही जाना कि आप सफल व्यवसायी, इसलिए खतरनाक प्रतिद्वंद्वी सिद्ध हो सकते हैं।

परिवार वालों की ओर से बराबर आग्रह हो रहा था कि दूसरा विवाह कर लो। घनश्यामदास के पास इस तर्क का कोई उत्तर नहीं था कि घरवाली के अभाव

में उसके छोटे बच्चे की देखरेख कौन करेगा? लिहाजा उसने दूसरी बार शादी करने के लिए सहमति दे दी। घनश्यामदास यह आग्रह इसलिए भी नहीं टाल सका कि लड़की स्वयं पुत्र लक्ष्मीनिवास की नानी की सुझायी हुई थी। महादेवी नामक इस बालिका का विवाह पहले इलाहाबाद ठहरा था लेकिन दुर्भाग्य से वह लड़का मर गया। इसलिए लोगबाग उससे रिश्ता करने में हिचकने लगे। नये विचारों वाला घनश्यामदास इस तरह की बातों में विश्वास नहीं करता था। तो उसने सरदारशहर की इस तेरह वर्षीय कन्या से विवाह करना स्वीकार किया। सरदारशहर वाले इस शादी के लिए पिलानी आये। बिड़ला हवेली की औरतों में इस बात की चर्चा रही कि कन्या पक्ष की सभी औरतें बहुत छोटी-छोटी और नाजुक-नाजुक सी हैं-स्वयं बींदणीं भी।

लड़की बहुत शर्मीली थी और आरम्भ में वह ननदों तक के सामने नहीं आई। उसके विषय में नाइनों और ब्राह्मणियों से ही सुना गया कि ऐसी-ऐसी है। लड़की वाले पिलानी में मौजूद थे लेकिन लड़के की ओर से लड़की को स्वयं देखने या दिखवाने की कोई मांग नहीं हुई। छोटी बहनें आकर सुनातीं कि आने वाली भौजाई कैसी है तो 18 वर्षीय बुजुर्ग घनश्याम भाईजी सुनी-अनसुनी कर देते।

दूसरा विवाह दूसरा ही होता है। पहले जैसा उत्साह सम्भव नहीं। धूम-धड़ाके में कुछ कमी कदाचित इस कारण भी हुई हो कि वर के पिता व्यावसायिक उलझनों के कारण स्वयं पिलानी नहीं आ पाये थे। वर की माता को भेजकर उन्होंने संतोष कर लिया था।

गीता पढ़ने-सुनाने वाला अठारह वर्ष का 'बुजुर्ग' घनश्यामदास इस दूसरे विवाह के समय पूरा जवान था, वैसा बच्चा नहीं, जैसा कि पहले विवाह के समय। साहित्यानुरागी था। स्वाध्यायी था। हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी और बंगला की कविताएं-कथाएं बांचता था, प्रेमपूर्वक। दूसरे शब्दों में यह कि प्रेम नामक एक मनःस्थिति विशेष से परिचित था। यह बात अलग है कि तत्कालीन समाज इस मनःस्थिति को विज्ञापित करने योग्य मानता नहीं था।

पिलानी की हवेली की स्त्रियों और पुरुषों के संसार अलग-अलग थे और घरवाले घरवालियों से दिन की रोशनी में खुलेआम बात तक नहीं करते थे। घूंघटों की ओट थी और शब्द सीधे व्यक्ति विशेष को नहीं, हवाओं को सम्बोधित हुआ करते थे कि व्यक्ति विशेष तक पहुँचा दो। पिलानी की हवेली में औरतों का यही काम था कि बच्चे पैदा करो और पालो। घर-गृहस्थी के तमाम ऊपरी काम,

जिनमें आतिथ्य भी शामिल था, मुनीम लोग किया करते। रसोई बनाने के लिए ब्राह्मण महाराज थे। पत्नी पति को खुद बनाकर और परोस कर खिलाये यह एक अनजान-सी बात थी। भाभियां अलबत्ता देवरों को यह सुख दे सकती थीं। घनश्याम को भी अनेकों बार भौजाईजी यानी जुगलकिशोर भाईजी की घरवाली स्वयं परोस कर खिलाती थीं। संक्षेप में यह कि किसी भी परम्परावादी घर की तरह पिलानी की उस हवेली में सबसे निकट के रिश्ते यानी दाम्पत्य में सार्वजनिक रूप से थोड़ी दूरी रखना अपेक्षित था, अनिवार्य था।

क्या इन परिस्थितियों में वैसा कुछ हो सकता था जिसे साहित्य में प्रेम की संज्ञा दी जाती है? क्या वहां पिलानी की हवेली में नवयुवक घनश्यामदास और किशोरी महादेवी के मध्य ऐसा कुछ हुआ जिसमें एक अविस्मरणीय प्रेम-कथा की सामग्री छिपी पड़ी थी? इसका उत्तर जो सही-सही दे सकते थे अब हमारे मध्य नहीं और जब वह हमारे मध्य थे,हम में से कोई भी उस बुजुर्गों के बुजुर्ग से किसी प्रकार खुला नहीं था कि इस बारे में प्रश्न करने की बात सोच भी सकता। किन्तु ननदों की साक्षी है कि यह नयी भाभी दिन के समय अपने कमरे में इस तरह बैठी रहती कि खिड़की से मर्दानी बैठक उसे तो नजर आये लेकिन मर्दानी बैठक वालों से वह स्वयं छिपी रह सके। मर्दानी बैठक पर लगी उसकी निगाहें घनश्याम भाईजी को ढूंढती रहतीं। 'घण्टों' इस तरह बैठी रह जाती बावरी भाभी हमारी।" बताती हैं ननद जयदेवीजी।

जयदेवीजी को वह सब अभी कल की सी ही बात की तरह याद है—"कितना दुखी हो जाती भाभी जब घनश्याम भाईजी पिलानी से दिसावरी पर चले जाते। पांच-सात दिन रोती ही रहती। खाना छोड़ देती। भाभी मेरी हिन्दी थोड़ी पढ़ी-लिखी थी पहले की। पीछे भाईजी ने उसे पढ़वाया। भाईजी चिट्ठी भेजता बम्बई-कलकत्ता से और हमारी भाभी जवाब लिखती सब से छिप कर। हम लोग भाभी को बहुत छेड़ते। मगर वह खीझती नहीं। बस झेंपती जाये और हंसती जाये। हंसती तो सदा ही। बड़ी हंसमुख थी। उसकी मुस्कान बड़े बेटे कृष्णकुमार के हिस्से गयी है और उसकी हंसी शांति के।"

इस खुलते रंग वाली, इस तीखे नाक-नक्श वाली, इस हमेशा हंसती-मुस्कराती रहने वाली, इस लाजभरी लाजवंती 'गुड़िया' पर अगर युवक घनश्यामदास मुग्ध हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। बिड़ला परिवार को फैशन और इत्र-फुलेल में कोई विश्वास नहीं था। इसलिए घनश्याम वैसी कोई चीज अपनी पत्नी के लिए नहीं ला सकता था। बिड़ला परिवार के मर्द पूंजी को

धन्धे-व्यापार में लगाने के पक्ष में थे और जेवर घड़वा कर व्यर्थ में रकम जमा करना उन्हें पसन्द नहीं था। इसलिए घनश्याम ने बस दो-एक बार ही अपनी घरवाली के लिए जेवर घड़वाये। कपड़े और ऐसी ही दूसरी फेन्सी चीजें अलबत्ता वह खूब लाया। खरीददारी का शौक था उसे। जब भी दिसावरी से लौटता सौ-पचास साड़ियाँ लेकर आता और अपनी पत्नी को देता। कुछ वह ननदों में बाँट देती, कुछ खुद रखँ लेती। एक से एक बढ़िया साड़ी, मंहगी-मंहगी साड़ी। तबीयत के शौकीन थे घनश्याम भाईजी। रईस थे। ऊंची से ऊंची कीमत की तो गंजी पहनता। अपनी घरवाली को नयी-नयी किस्म की महँगी-महँगी चीजें देता और नये जमाने और नयी दुनिया को जानने-समझने के लिए प्रेरित करता।

तो शीघ्र ही नवविवाहित घनश्यामदास दिसावरी पर कलकत्ता चला गया और पिता की आज्ञा लेकर उसने पूरी तरह से स्वतन्त्र व्यापार शुरू कर दिया। व्यापार के सिलसिले में अंग्रेजों से उसका साबका पड़ा और जहां अंग्रेजों के अनुशासन, संगठन-कौशल जैसे गुणों ने उसे अपनी ओर खींचा वहां उनके जातिगत अहंकार ने उसे कचोटा। गोरों से प्रेम-घृणा का, गोरों से पार पाने के लिए गोरों को जानने और उनके तौर-तरीके अपनाने का वह क्रम घनश्यामदास के जीवन में भी आरम्भ हुआ जिससे होकर उस युग के अनेक महत्त्वपूर्ण भारतीय गुजरे। घनश्यामदास ने अंग्रेजों की भाषा पर अधिकार बढ़ाना आरम्भ किया। उसने यह भी अनुभव किया कि मात्र अंग्रेजी जान लेना ही पर्याप्त नहीं है उसे नवयुग के उन शास्त्रों और विज्ञानों का भी अध्ययन करना होगा जिनके सन्दर्भों से अंग्रेजों की बातचीत भरी पड़ी रहती थी। अंग्रेजी साहित्य के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र और दर्शन भी अब उसके अध्ययन के विषय बने। अर्थशास्त्र में उसने और तो और मार्क्स भी जम कर पढ़ा।

गोरों के दफ्तर में इस हिन्दुस्तानी दलाल को लिफ्ट का इस्तेमाल न करने दिये जाने पर, उनकी बैंचों पर प्रतीक्षा के लिए न बैठने दिये जाने पर जो तिलमिलाहट होती वह उसे उन लोगों की ओर खींचती जो गुलाम भारत को आजाद करने का, भारत की सोई आत्मा को जगाने का सपना देख रहे थे। तिलक का 'गीता-रहस्य' और स्वामी दयानन्द सरस्वती का 'सत्यार्थ प्रकाश' जी. डी. ने उतने ही उत्साह से पढ़े जितने उत्साह से विदेशियों का अर्थशास्त्र। तिलक ने उसे धर्म की सकर्मक व्याख्या का मार्ग सुझाया तो स्वामी दयानन्द ने खण्डन-मण्डन की पद्धति सिखायी और अंधविश्वासी रूढ़ियों को तोड़ने के लिए प्रेरित किया।

कलकत्ता उस समय देश का प्रमुख केन्द्र था, सारी नयी हलचलें वहीं से शुरू

होती थीं। कहा जाता था जो बात कलकत्ता आज सोचता है वही सारा देश कल सोचता है। सजग और सक्रिय घनश्यामदास कलकत्ता की इन हलचलों से अछूता नहीं रहा। भारतीय पुनर्जागरण की जितनी भी धारायें उस दौर में प्रवाहित हुईं उन सब में उसका युवा मानस ऊबा-डूबा छक कर नहाया। परिवार की सनातनी परम्परा और आर्यसमाज का प्रभाव दोनों ही उसे पुनर्जागरण की उस धारा से जोड़ रही थीं जिसे हिन्दुत्ववादी के विशेषण से परिमार्जित किया जाता है। इसी धारा के कुछ प्रवर्तकों ने हिन्दुओं को संगठित करने व आत्मरक्षा में समर्थ बनाने की बात भी समय-समय पर उठायी थी। बंकिम बाबू के 'आनन्दमठ' में निहित इस धारा ने भी घनश्यामदास को स्पर्श किया। इस धारा की आक्रामकता उसे आतंकवादी क्रान्तिकारियों की मनःस्थिति के निकट लायी और उन्हें भी उसने देखा-समझा। यद्यपि वह मार्क्स पढ़ने के बावजूद समाजवादी और साम्यवादी न तब बना, न आगे कभी। तथापि निकम्मे, अय्याश रईसों के प्रति उसके मन में तीव्र आक्रोश सदा रहा। वह आधुनिक उद्यम की ध्वजा लेकर अनुत्पादक सेठाई और सामन्तशाही के विरुद्ध खड़ा हुआ।

जब भी वह इस प्रसंग पर बोलने लगता स्वजनों को पहले बहुत आश्चर्य होता। फिर वे कहते,हमने तो बचपन में ही देख लिया था कि यह कुछ अलग ही ढंग और अनूठी किस्म का निकलेगा। घणश्यो ने छुटपन से ही ऐसा कुछ नहीं किया जिसे लड़कपना कहा जा सके या जिस पर उसे फटकार पड़ने की या उसकी ठुकाई होने की नौबत आये। दादा-दादी, माता-पिता किसी को भी कभी उस पर हाथ उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। बहुत सयाना बच्चा है, यही सब का कहना था। और अब तो यह ब्रोकर घनश्यामदास के रूप में सचमुच सयाना हो चला था। तिलक से गीता का रहस्य न केवल समझने लगा था बल्कि परिवार वालों को भी समझाने लगा था। वह पिलानी में होता तो दादीजी बराबर बुलातीं कि आ यहाँ बैठ मेरी चारपाई पर, मुझे गीता सुना। घनश्याम गीता सुनाता। घर की बहुएँ भी घूँघट काढ़कर वहीं बैठ जातीं तिलक महाराज की टीका सुनने। अलग और अनूठा तो वह छुटपन से ही था। अब ऊँचा भी माना जाने लगा। वह पारिवारिक भूमिका और प्रक्रिया शुरू हो गयी जिसने कालांतर में जी. डी. बाबू को बिड़लाओं का पर्यायपुरुष और प्रतीक बनाया।

परिवार में ही नहीं, समाज में भी नेतृत्व इस उत्साही नवयुवक के हाथ आने लगा। उसने आरम्भ से ही अपने को मात्र रुपये-पैसे वाले व्यापार तक सीमित न रख कर समूचे सामाजिक-राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ा। मेले-ठेले के लिए स्वयंसेवक बनाने हों, कोई स्वागत-समारोह करना हो, सहायता-शिविर खोलने हों,

लोग-बाग़ घनश्यामदास के पास ही आते। कलकत्ता में सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के स्नान के अवसर पर घनश्यामदास अपने कुछ युवा साथियों को लेकर भीड़ को नियन्त्रित करने और गुण्डागर्दी रोकने के लिए हुगली के आउटराम घाट पर पहुंचता। इस दौर में घनश्यामदास का उन मारवाड़ी नवयुवकों से मेलजोल बढ़ा जो समाज में नयी जागृति लाने के लिए लालायित थे और जिनके प्रमुख सामाजिक-राजनीतिक नेताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध थे। ऐसे लोगों में प्रमुख थे प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका। वह तब कलकत्ता में उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। बाद में उन्होंने वकील, समाज सुधारक और सांसद के रूप में अच्छा नाम कमाया।

प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका और देवीदत्त जालान जैसे लड़कों ने घनश्यामदास बिड़ला के साथ मिलकर 1911 में चौरंगी में म्युजियम के सामने एक क्लब की स्थापना की जो शुरू में 'मारवाड़ी स्पोर्टिंग क्लब' कहलाया और बाद में जिसका नाम 'राजस्थान क्लब' कर दिया गया। इस क्लब में तब मारवाड़ी नवयुवकों को हथियार चलाना सिखाया जाता था। यहां व्यायाम-शाला भी थी। लेजिम की शिक्षा भी दी जाती थी। फुटबाल खेलने के लिए मैदान था। मारवाड़ी नवयुवक हिन्दी शुद्ध बोलें और लिखें इस उद्देश्य से महावीरप्रसादजी पोद्दार और गंगाप्रसादजी भोतिका यहां रोज सबेरे हिन्दी कक्षा लगाते। बाद में क्लब में हाकी और क्रिकेट भी शुरू हुई। आधुनिक खेलों पर जोर बढ़ता गया। 'राजस्थान क्लब' के नये नाम से इसने कलकत्ता में और बाहर फुटबाल और वालीबाल में काफी नाम कमाया। प्रसंगवश युवा घनश्यामदास ने आधुनिक खेल भी बहुत उत्साह से सीखे। वह क्रिकेट भी अच्छी खेल लेता। उनका खेल-प्रेम कृष्णकुमारजी बिड़ला को उत्तराधिकार में मिला है। वही बाद में राजस्थान क्लब की देखरेख करते रहे और टेनिस में तो अखिल भारतीय संस्थान के अध्यक्ष बने।

आगे चलकर 1918 में इस युवक मंडली ने 'बड़ा बाजार यंग मैन असोसियेशन' नामक एक और संस्था बनायी जो बाद में 'बड़ा बाजार युवक संघ' के नाम से जानी गयी। शुरू में रामकुमार लक्षित लेन में इसका अखाड़ा बना। आजकल यह मित्रा लेन में है। युवक सभा ने कुश्ती, व्यायाम, राइफल शूटिंग और देसी-विदेशी खेलों की व्यवस्था की और साथ ही इसमें सामाजिक विषयों पर गोष्ठियों और परिचर्चाओं का भी प्रावधान किया गया। उस जमाने में साम्प्रदायिक दंगे बहुत होते और कभी-कभी तो मारवाड़ी समाज ही इन दंगों का मुख्य शिकार बनता। मारवाड़ी युवकों को आत्मरक्षा के लिए सामरिक विद्याएं सिखाने के लिए ही 'बड़ा बाजार युवक संघ' खोला गया।

घनश्यामदास तत्काल इसके सदस्य तो नहीं बने लेकिन उन्होंने अपना संरक्षण प्रदान किया। प्रशिक्षण में स्वयं भी भाग लिया और अखाड़े के पट्ठों के चने-गुड़ के लिए दो हजार रुपया सालाना मंजूर किया। मारवाड़ी युवकों के रहने के लिए एक लाज खुलवाया जो पहले एक कमरे का था और बाद में चार कमरों का। इसमें रहने वाले लगभग एक दर्जन नवयुवकों में प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका भी थे। मारवाड़ी मित्र मंडली में घनश्यामदास सीतारामजी सेकसरिया, रामकुमारजी भुवालका और बसन्तलालजी मुरारका-इन लोगों को विशेष रूप से पसंद करते थे।

2 मार्च 1913 ईसवी को कॉटन स्ट्रीट स्थित जोड़ा कोठी की एक बैठक में ओंकारमलजी सर्राफ, जुगलकिशोरजी बिड़ला, हरखचंदजी मोहता आदि समाजसेवियों के सामूहिक प्रयास से इस संस्था की स्थापना 'मारवाड़ी सहायता समिति' के नाम से की गयी। कालांतर में इसका नामकरण 'मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी' कर दिया गया।

प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका के अलावा ज्वालाप्रसादजी कानोडिया, ओंकारमलजी सर्राफ, कन्हैयालालजी चितलांगिया और फूलचन्दजी चौधरी जैसे कई मारवाड़ी युवकों ने, जो आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों में विख्यात हुए, उस दौर में भी घनश्यामदासजी को अपना नेता माना। आतंकवादी विपिन गांगुली जैसे कुछ बंगाली भी इन मारवाड़ी युवकों की व्यायामशाला में आ जाते थे। घनश्यामदास आतंकवादी तो नहीं था मगर गोराशाही के विरुद्ध था और विपिन गांगुली की तरह वह भी देश को आजाद कराना चाहता था। इसलिए उसे विपिन गांगुली और उसके आतंकवादी मित्र थोड़ा गुमराह होते हुए भी अच्छे मालूम होते। विपिन अपने मारवाड़ी मित्रों को हथियार चलाना सिखाता।

मारवाड़ी युवकों की सभा व्यायामशाला तक सीमित नहीं थी। वह ऐसी गोष्ठियां भी करती थी जिनमें राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों पर व्याख्यान होते, विचार-विमर्श किया जाता। हिन्दू-राष्ट्रवाद से लेकर वामपन्थी आतंकवाद तक भारतीय नवजागरण की सभी धाराओं में घनश्यामदास और उसके युवा साथियों का मानस गोते लगा रहा था। घनश्यामदास ने इन धाराओं के मुख्य प्रतिनिधियों और प्रवक्ताओं से सम्पर्क बनाना शुरू किया।

कलकत्ता के इन मारवाड़ी नवयुवकों पर कांग्रेस के गरम दल के प्रवक्ता बालगंगाधर तिलक ने 1916 में अपने बंगाल के दौरे के समय ही प्रभाव डाला।

उनके आगमन से बड़ा बाजार के अंचल में उग्रवादी राजनीति को बढ़ावा मिला और युवकों में यह जोश पैदा हुआ कि देश की आजादी के लिए कोई शक्तिशाली आंदोलन चले। जब 1920 में तिलक का निधन हुआ तब बड़ा बाजार में शोक की लहर दौड़ गई और मारवाड़ी युवकों की संस्था 'हिन्दी नाट्य परिषद्' ने बड़ा बाजार से गंगाघाट तक शोकयात्रा निकाली। 'तिलक स्मारक निधि' के लिए दो मारवाड़ियों ने आगे बढ़कर काम किया—एक जमनालालजी बजाज और दूसरे घनश्यामदासजी बिड़ला। 1921 में सेठ जमनालाल बजाज की कैनिंग स्ट्रीट वाली गद्दी में स्वयं महात्मा गाँधी ने आकर बड़ा बाजार जिला कांग्रेस कमेटी की स्थापना की। गाँधीजी के आवाहन पर अनेक मारवाड़ी महिलाओं ने अपने गहने राष्ट्र के स्वाधीनता संघर्ष के लिए दान कर दिए। विदेशी कपड़े की होली जला दी और घूंघट हटा दिए। इस घटना की पुरातनपंथी मारवाड़ियों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

युवा घनश्यामदास ने बराबर यह अनुभव किया कि गोरों द्वारा पददलित भारत को फिर गर्वोन्नत बनाने के लिए एक साथ कई मोर्चों पर लड़ाई छेड़नी होगी। इनमें आर्थिक-औद्योगिक मोर्चे का विशेष महत्त्व रहेगा और मारवाड़ी समाज का सार्थक नेतृत्व वही कर सकेगा जो उसे उद्योग-व्यापार की नयी दुनिया की ओर ले जायेगा। उद्योग-व्यापार के गुर गोरों से सीख कर गोरों को ही पटकनी देनी है। पुरातनपन्थी मारवाड़ी समाज उद्योगों में जाने के विरुद्ध था। वह फाटका खेल कर, अथवा कमीशन पर गोरों की बैनियनशिप (मुसद्दीगिरी) करके सन्तुष्ट था और बंगाली जमींदारों की शैली में ऐश्वर्य भोग कर रहा था। संक्षेप में यह कि वह सामन्तीयुग का ही एक पुछल्ला था, जबकि घनश्यामदास इस छटपटाहट में वैसी कायरता का विरोधी था जो इस उक्ति में आई है: **'तातस्य कूपायमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति'**—यह कुँआ हमारे पूर्वजों ने खुदवाया था, हम तो इसी का पानी पियेंगे चाहे वह खारा ही हो, यह तो कायरों की बातें होती हैं। घनश्यामदास जैसे साहसिक नवयुवक आधुनिक युग में कदम रखने को छटपटा रहे थे।

बिड़ला परिवार के बुजुर्ग भी उद्योगों के सम्बन्ध में विशेष उत्साही न थे। जुगलकिशोर भाईजी की कल-कारखानों में रुचि कम ही थी। विनोदी भाव से कहा करते, "लौह-लक्कड़, चाम-छक्कड़, यह कभी-न-कभी टूट जायेगा।" किन्तु यह धारणा भ्रान्त है कि उन्होंने युवा घनश्यामदास के उद्योग-क्षेत्र में प्रवेश करने का सक्रिय विरोध किया। सच तो यह है कि बिड़ला परिवार में अगर कोई परम्परा रही थी तो लीक छोड़ने की। स्वयं जुगलकिशोरजी ने कई नयी राहें

खोलीं। अफीम के व्यापार में पड़े तो शंघाई में अपना कार्यालय खुलवा कर सीधे निर्यात का प्रवन्ध किया जबकि शंघाई में नियुक्त उनका आदमी चीनी बोल नहीं सकता था और इशारों से काम चलाता था। कपड़े के व्यापार में गये तो एशियावादी भावना से प्रेरित होकर इंग्लैंड की बजाय जापान से कपड़ा मंगवाने में पहल की। उनकी इच्छा थी कि भारत और अन्य पूर्वी देश उन्नति करें और पश्चिम की बढ़ती हुई प्रभुता को चुनौती देने की स्थिति में आयें। ऐसा व्यक्ति अपने छोटे भाई की राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रेरित होकर औद्योगिक क्षेत्र में कूदने का भला क्यों विरोध करता?

रामेश्वरदास और घनश्यामदास इन दो भाइयों का ध्यान सबसे पहले सूती मिलों की ओर गया। वे रुई के व्यापार में प्रवेश कर चुके थे और देख रहे थे कि फाजल भाई अलाना और मथुरादास गोकुलदास जैसे बड़े रुई व्यापारी कपड़ा मिलों के मालिक भी हैं। 'अपने भी एक मिल लगावैं' ऐसा ये दो नौजवान भाई सोचने लगे। फिर छोटी मगर सही शुरूआत के रूप में उन्होंने कपास की धुनाई-दबाई की कल यानी जिनिंग प्रेस खरीदी। बिड़ला औद्योगिक साम्राज्य की नींव यह सर्वथा अकिंचन कल ही थी। शीघ्र ही पहला विश्व-युद्ध आरंभ हो गया। कपड़ा मिलें जबरदस्त मुनाफा देने लगीं। दोनों भाइयों ने फाजल भाई अलाना और अब्राहीम रहीमुत्तुल्लाह के साथ बराबर की पत्ती पर सूत मिल खरीद ली। इस मिल में ये दोनों भाई निष्क्रिय साझेदार यानी स्लीपिंग पार्टनर थे। किन्तु जुगलकिशोरजी और घनश्यामदास दोनों का यही आग्रह हुआ कि इसका नाम बिड़ला मिल रखाया जाए। लड़ाई के दिनों में इस बिड़ला सूत मिल ने पांच छः लाख सालाना की कमाई करायी जो कि उस जमाने में बहुत अच्छी समझी जाती थी। मगर बाद में अन्य कई कपड़ा मिलों की तरह यह भी डूब गयी।

इधर बम्बई में घनश्यामदास अपने रामेश्वर भाया के साथ बिड़ला उद्योगों का तानाबाना जमा रहा था और उधर कलकत्ता में उसकी मित्र मंडली पर भारतीय राजनीति के गरम दल का प्रभाव निरंतर बढ़ रहा था। घनश्यामदास स्वयं भी तिलक और लाला लाजपतराय जैसे नेताओं का भक्त होता जा रहा था। उसे उन वकीलों से कोई सहानुभूति नहीं थी जो अगर-मगर के पेचों वाली शैली में स्वाधीनता-संग्राम चलाना चाहते थे। उग्रवाद के प्रभाव से उसकी विपिन गांगुली जैसों से दोस्ती बढ़ने लगी थी। तभी एक और वकील, एक और अगर-मगर करने वाला, विलायत से दक्षिण अफ्रीका होता हुआ भारत आया। यह कुछ दूसरे ही किस्म का वकील साबित हो रहा था और इसकी अगर-मगर भी अपने ढंग की निराली थी। मोहनदास कर्मचन्द गाँधी नामक इस व्यक्ति को तब तक जनता ने

महात्मा के विशेषण से तो विभूषित नहीं किया था किन्तु कुछ प्रशंसक उसे कर्मवीर गाँधी कहने लगे थे।

यह कर्मवीर गाँधी 1915 के आरम्भ में कलकत्ते आये। घनश्यामदास और उसके साथियों ने उनका बहुत उत्साह से स्वागत किया और उनकी बातों को बड़ी उत्सुकता से सुना। सत्य के खुले सीने की असत्य की संगीन पर विजय होगी—यह गाँधीवादी स्थापना उग्रता का स्पर्श पाये हुए घनश्यामदास को विचित्र प्रतीत हुई तथापि उसे यह मानना पड़ा कि गाँधी बिल्कुल नये किस्म का नेता है। गाँधी की इस कलकत्ता यात्रा के बाद उसने उन्हें पत्र भेजा और इस प्रकार पत्र-व्यवहार और व्यक्तिगत सम्पर्क का वह सिलसिला शुरू हुआ जो 33 वर्ष बाद बिड़ला भवन दिल्ली में हुए नृशंस हत्याकाण्ड तक निरन्तर चला।

कलकत्ता में बसे परिवार के लिए कहीं किसी सुरम्य स्थल में छुट्टियां बिताने का प्रबन्ध होना चाहिये, इस विचार से 1915 में युवा जी. डी. ने रांची में जमींदारी खरीद कर एक पंथ दो काज कर डाले। गौरीदत्तजी मंडेलिया को यह जमींदारी संभालने की जिम्मेदारी दी गयी। जमींदारी की जमींदारी हो गयी और छुट्टी बिताने की जगह भी। उस जमाने में बंगाली रईस दक्षिण बिहार के रांची, स्वर्ण रेखा, घाट साल जैसे स्थान, जंगल में मंगल के आयोजनों के लिए आदर्श मानते थे। जी. डी. बाबू का परिवार कलकत्ता था और तब वह भी उसे छुट्टियां बिताने रांची ले गये।

18 सितंबर 1916 को घनश्यामदास को यह शुभ सूचना मिली कि घर में लक्ष्मी अवतरित हुई है। बिटिया का नाम उसने साहित्यिक रुचि का परिचय देते हुए रखा—चन्द्रकला। यद्यपि आइन्दा वह इस नाम की प्रथमाक्षरी को बिगाड़कर स्नेह से उसे 'चंका', 'चंकी' आदि नामों से सम्बोधित करता रहा।

इसी वर्ष एक ऐसा काण्ड हुआ जिसमें बिपिन गांगुली से दोस्ती घनश्यामदास को भयंकर संकट में डाल गयी। गांगुली का एक दोस्त रोडा कंपनी में काम करता था जिसके पास विलायत से हथियारों की बड़ी खेप आयी थी। उसने माल उतारते हुए दो पेटियाँ आँख बचा कर छुपा दीं और इन्हें बिपिन गांगुली के बताये हुए ठिकाने पर भिजवा दिया। एक पेटी में पिस्तौलें थीं और दूसरी में कारतूस। बिपिन पिस्तौलें बांटकर कारतूस की पेटी की ओर बढ़ा ही था कि खबर मिली कि पुलिस आ रही है। उसने कारतूस की पेटी घनश्यामदास के कमरे में छिपवा दी। पुलिस ने उधर रुख किया तो वहां से कहीं और भिजवा दी। पेटी इधर से उधर जाती कि

पीछे-पीछे पुलिस पहुंचती। अन्त में घनश्यामदास के एक दिलेर साथी ने, जिसका नाम देवीदयाल सर्राफ था, कुलियों वाला भेस बनाकर पेटी सिर पर रखी और उसे हुगली में फेंक आया। उधर पुलिस वालों ने सभी हैक्नी केरीज़ यानी बग्घी वालों को घेरा और डराया-धमकाया। उन्होंने पुलिस को बता दिया कि इस-इस तरह की पेटी हमने यहां-यहां से वहां-वहां पहुँचायी।

विपिन गांगुली के मारवाड़ी मित्र पुलिस ने जा पकड़े। प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका के घर से क्रान्तिकारी अतुलनाथ के पत्र बरामद हुए, जिससे पुलिस को इस मामले की अतिरिक्त जानकारी हुई। प्रभुदयालजी को दुमका में चार साल के लिए नजरबन्द कर दिया गया। विशुद्धानन्द सरस्वती महाविद्यालय के भवन के लिए 6 लाख रुपया जमा करने की प्रतिज्ञा करने और उसे पूरी कर दिखाने वाले, मारवाड़ी सहायक समिति जैसी अनेक समाज सेवी संस्थाओं को बनाने और चलाने वाले, और क्रान्तिकारियों से पूरी सहानुभूति रखने वाले फूलचन्दजी चौधरी को बंगाल से निकाल दिया गया और पंजाब भेजा गया। वहाँ उन्हें पांच वर्ष रहना पड़ा और तमाम तरह की यातनाएं सहनी पड़ीं। कन्हैयालालजी चितलांगिया उन इने-गिने मारवाड़ियों में से थे जिन्होंने आजादी की लड़ाई में सक्रिय भाग लिया और राजनीति से बराबर अपना सरोकार बनाये रखा। कारतूस पेटी कांड में भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत इन्हें गिरफ्तार किया गया और जेल में कठोर यन्त्रणाएं दी गयीं। ओंकारमलजी सर्राफ को, जो प्रसिद्ध समाज-सेवक थे, शहर से निकाल कर बाहर नज़रबन्द कर दिया गया। ज्वालाप्रसादजी कानोडिया भी नज़रबन्द किये गये

उन दिनों बिड़ला परिवार काली गोदाम के रिहायशीं कमरे छोड़ कर जकरिया स्ट्रीट के कोने पर स्थित छाजूरामजी चौधरी के मकान में किरायेदार हो गया था। पुलिस ने घनश्यामदास को गिरफ्तार करने के लिए एक साथ इस मकान पर और काली गोदाम की गद्दी पर छापा मारा। लेकिन सौभाग्य से घनश्यामदास एक ही दिन पहले उटकमंड में छुट्टियां मनाने चले गये थे। बिड़ला परिवार ने चुपचाप एक आदमी वहां भेज कर उन्हें खबर की कि पुलिस की निगाह से बचने के लिए छिप जाओ। युवा घनश्यामदास तीसरे दर्जे का मुसाफिर बनकर उटकमंड से रवाना हुआ। छिपते-छिपाते पहले मदुरै और फिर नाथद्वारा गया। नाथद्वारा से पुष्करजी गया और वहां तीर्थ-यात्रियों की भीड़ में छिप गया। उसका अपना पुश्तैनी गाँव पिलानी यहाँ से बहुत दूर नहीं था किन्तु पिलानी जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था क्योंकि पुलिस वहां भी उसे खोज रही थी। कलकत्ते के एक प्रभावशाली व्यक्ति डाक्टर सर कैलाशचन्द्र बोस के बिड़ला परिवार और पुलिस

अधिकारियों दोनों से ही अच्छे सम्बन्ध थे। उन्होंने पुलिस को आश्वस्त किया कि घनश्यामदास बिड़ला का वस्तुतः क्रान्तिकारियों से कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं है। सर कैलाशचन्द्र की कोशिशों से घनश्यामदास के नाम निकला वारंट रद्द हुआ और पूरा एक वर्ष भटकने के बाद घनश्यामदास अपने कर्म क्षेत्र कलकत्ता में लौट सका। लेकिन अज्ञातवास से प्रकट होने पर महारथियों को परास्त करने का चमत्कार फिर प्रारंभ हुआ और इस अर्थ में अर्जुन के एक वर्षीय अज्ञातवास और उससे निकलते ही सभी प्रख्यात वीरों से एक साथ निपटने की कथा मानो पुनः दोहरायी गयी।

अब तक कलकत्ता में युवा घनश्यामदास का घर-परिवार जम चुका था। जब बड़ा बेटा लक्ष्मीनिवास सात वर्ष का था तब उसकी मां को पहली बार कलकत्ता बुलाया गया। छाजूरामजी चौधरी के मकान में किराये पर ली गयी एक मंजिल पर घनश्यामदास दम्पति रहे। दादी सास के कारण परिवार की बहुएं अब भी पिलानी में ही रहती थीं। बलदेवदासजी ने अपनी मां से कई बार अनुरोध किया कि पोतों के संग कलकत्ता जाकर रहे। पोतों की ओर से भी बराबर ऐसा आग्रह होता था लेकिन दादीजी को पिलानी ही प्यारी थी। बहुत मुश्किल से पोते ब्रजमोहन के विवाह पर वह कलकत्ता गईं। हफ्ता भर हुआ होगा कि वापस आने की रट लगाने लगीं, यही कहतीं कि मैं यहां आकर निकम्मी हो गई हूँ। यहां कोई ऐसा काम हीं नहीं जिसमें मैं हाथ डाल सकूं। विनोदी पोता घणश्यो जवाब में कहता, "दादी, तू एक मटका ले ले और उसमें हाथ डाल, तिजोरी ले ले और उसमें हाथ डाल।" जो हो यह हँसोड़ पोता भी व्यापार की व्यस्तताओं में इतना घिरा हुआ था कि दादी का मन बहलाये रखने के लिए हमेशा उपलब्ध हो नहीं सकता था, तो दादी किसी तरह तीन हफ्ते कलकत्ता में काट कर वापस पिलानी चली गयी।

ब्रजमोहन का विवाह नं. 42 जकरिया स्ट्रीट पर इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट से खरीदी जमीन पर बने मकान में हुआ जो ठीक तीन महीने पहले तैयार हुआ था। 1917 में हुए इस विवाह में बलदेवदासजी भी उपस्थित हुए। सेठजी की सबसे छोटी संतान का विवाह था, कुछ इसलिए और कुछ इसलिए कि बिड़ला परिवार इस बीच उद्योग और व्यापार के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ चुका था, यह विवाह विशेष धूमधाम से किया गया। नये मकान के आगे पंडाल लगाकर बहुत ही शानदार स्वागत-समारोह किया गया। समारोह में प्रबंध इस प्रकार का रखा गया कि न केवल परम्परावादियों को बल्कि आधुनिकों को भी सन्तोष हो। जुगलकिशोर भाईजी को यह ठीक नहीं जान पड़ा कि ऐसे पारिवारिक अवसर पर गोरों को और गोरों के तौर-तरीके अपनाने वाले हिन्दुस्तानी साहबों को आमन्त्रित किया जाए

और उनके ढंग की आवभगत की जाए। उद्योग व्यापार के नव-संसार में प्रविष्ट हो चुके रामेश्वरदास और घनश्यामदास इस विचार के थे कि जिन लोगों से व्यापारिक सम्बन्ध हैं उन्हें ऐसे अवसर पर न बुलाना और उनकी मर्जी की पार्टी न देना बुद्धिमानी की बात नहीं।

इसी विवाह में एक और ववंडर इस वजह से उठा कि बिड़लाओं की बारात में इंग्लैंड से बैरिस्टरी पास करके लौटे काली प्रसाद खेतान शामिल होने वाले थे। कन्या-पक्ष के कुछ पंचों का कहना था कि विलायत जाना जाति गंवाने का पर्याय है। जिस तरह 25 साल पहले इन्द्र चन्द्र ढुढोड़िया और इन्द्र चन्द्र नाहटा को विदेश जाने पर जाति बाहर किया गया था उसी प्रकार काली प्रसाद खेतान को भी जाति बाहर किया जाए। उधर घनश्यामदास और उसके युवा साथियों की जिद थी कि कालीप्रसाद बारात में जरूर जाएंगे। बलदेवदासजी ज्यों ही पिलानी से कलकत्ता पहुंचे उन्हें इस पेचीदा सवाल से जूझना पड़ा। वह आधुनिकों का साथ देना चाहते थे मगर ऐसा भी कुछ नहीं करना चाहते थे जिससे विवाह ही खटाई में पड़ जाए। युवा घनश्यामदास की भावनाओं के साथ भी वे पूरा न्याय करना चाहते थे। तो उन्होंने यह समझौता करवा दिया कि प्रायश्चित स्वरूप कालीप्रसाद तीर्थ-यात्रा कर ले और उसे जाति में शामिल माना जाए।

कलकत्ता के मारवाड़ी समाज में चपकनियां कहलाये जाने वाले पुरातनपंथियों से कई मामलों में घनश्यामदास और उसके साथियों की टकराहट हुई। नवयुवक मंडली परदे के विरुद्ध थी और चाहती थी कि स्त्रियों को घूंघट निकालने के लिए बाध्य न किया जाये। स्त्रियों पर लगे हुए बन्धन ढीले किये जायें, औरतों को बाजार से गीत गाते हुए जाने के लिए बाध्य न किया जाए। ब्याह शादियों में सीठनां यानी गा-गाकर गालियां देना बंद किया जाए। तेरहवीं पर बिरादरी भोज न किया जाए। नवयुवकों की इस तरह की बातों से परम्परा के समर्थक बहुत क्रुद्ध हुए, उनमें से कुछ ने गाली-गलौज का, गंदे व्यक्तिगत आक्षेपों का और सनसनीखेज परचेबाजी का सहारा लिया। घनश्यामदास और साथियों ने मिल कर यह वक्तव्य दिया कि सार्वजनिक विवाद में इस तरह का गाली-गलौज सर्वथा अनुचित है। बहस बहस की तरह की जानी चाहिए।

परम्परावादी कलकतिया मारवाड़ी घनश्यामदास और उनके साथियों के इसलिए भी विरुद्ध थे कि उनके धार्मिक-सामाजिक विचारों पर उन्हें आर्य समाज का प्रभाव दीख रहा था। उन्हें इन नवयुवकों का राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में जुड़ना और गौरांग प्रभुओं से बिगाड़ करना भी खतरनाक मालूम हो रहा था।

माहेश्वरियों में शुरू में केवल घनश्यामदास ही नई विचारधारा का प्रतिनिधि प्रचारक और प्रवक्ता था मगर धीरे-धीरे उसने बिरादरी के और कई प्रमुख व्यक्तियों को अपनी ओर मिला लिया। उसने इस बात का भी काफी यत्न किया कि उसकी पत्नी उसके विचारों के अनुरूप आचरण कर सके। महादेवी अपने पति के साथ बाहर वालों के सामने आने लगी मगर घूंघट न करने का साहस वह न जुटा पाई। 1918 में 12 अक्टूबर को गोपाष्टमी के दिन महादेवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। नाम रखा गया कृष्ण कुमार।

उधर बम्बई में शेयर बाजार का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा था। मिलों की स्थापना के लिए पूंजी जुटाने का केन्द्र बम्बई ही था। बम्बई शेयर बाजार पर गुजरातियों-भाटियों का वर्चस्व था। इन लोगों ने बिड़लाओं को स्टाक एक्सचेंज का कार्ड नहीं लेने दिया। तब रामेश्वर भाया ने सासून, फाजल भाई, सर इब्राहिम, हुकमीचन्दजी, जमनालालजी और नवलचन्द जैसे लोगों के सहयोग से नया शेयर बाजार बनाया, जो बहुत जोर-शोर से चल निकला। अन्त में पुराने एक्सचेंज वालों को नये एक्सचेंज वालों से समझौता करना पड़ा।

युवा घनश्यामदास की बड़ी इच्छा थी कि वह कोई मिल पूरी तरह खुद ही अपने हाथ में ले और औद्योगिक संसार का पूरा अनुभव इसके माध्यम से करे। पहली बड़ी लड़ाई समाप्त होते-होते कुछ कपड़ा मिलें डगमगाने लगी थीं और उनके मालिक उन्हें बेचने को प्रस्तुत थे। ऐसी ही एक मिल दिल्ली में बिकाऊ थी—'गिलहरी मिल'—जो बाग्ला परिवार वालों की थी। लोगबाग चाहते थे कि घनश्यामदास खरीदने से पहले मिल की अच्छी तरह जांच-परख कर लें और मालिकों से मोल-भाव भी करें। नरसिंहदासजी कोठारी ने उसे बताया था कि अगर जरा ठहर कर सौदा करोगे तो भाव काफी टूटेगा। किन्तु घनश्यामदास में इस तरह की सलाह मानने के लिए बहुत उत्साह नहीं हुआ। उसने उस समय ही दो ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो बाद में उसकी औद्योगिक नीति-रीति के विशिष्ट अंग बने। पहला यह कि मेरा अन्तिम लक्ष्य पुरानी मिलें खरीदना न होकर नई मिलें स्वयं स्थापित करना होगा। अनुभव के लिए ही पुरानी मिल खरीदी जा रही है, बड़ा भारी लाभ कमाने के लिए नहीं। दूसरा सिद्धान्त यह कि औद्योगिक क्षेत्र में जब कोई बड़ा फैसला कर लिया गया हो तब किसी छोटे मसले के लिए उसे लटकाये नहीं रखा जा सकता। मिल सस्ती बिक रही है और हमें अनुभव के लिए उसकी जरूरत है, उसे खरीदने का फैसला मुख्य है। उसका दाम 25 या 50 हजार टूटे, इस इन्तजार में बैठे रहना या किसी दूसरे के हाथों में बिक जाने देना बुद्धिमानी की बात नहीं। दूसरे शब्दों में युवा घनश्यामदास ने 1918 में ही यह प्रदर्शित कर

दिया था कि वह उद्योगपति है, लेन-देन या लेवा-वेची करने वाला वनिया नहीं।

पहले इस मिल के संचालन के लिए वम्बई से लोग भेजे गए जिनमें नेवलचन्द टी. शाह भी थे। लेकिन घनश्यामदास का यह अनुभव रहा कि दूसरी जगह काम सीखे हुए लोग अपने काम के नहीं हैं। इसलिए उसने विश्वस्त मारवाड़ी व्यक्तियों को चुनने, अपने काम का तौर-तरीका समझाने और उद्योगों के संचालन की पूरी जिम्मेदारी उन पर सौंपने की नीति अपनायी। वह स्वयं किसी महाविद्यालय का पढ़ा हुआ नहीं था और न ही उसके पास कोई डिग्री थी इसलिए उसने शिक्षा या डिग्री को प्रवंधकों का चुनाव करने में कोई महत्त्व नहीं दिया। वह कहा करता कि गलत पढ़े हुए को सही पढ़ा सकना, गलत सीखे हुए को सही सिखा सकना, यह सव झंझट का काम है। उससे तो कोरे लोगों को लेना और उन्हें अपनी तरह से सिखाना वेहतर है। घनश्यामदासजी की इस नीति की सफलता तव समझ में आई जव ज्वाला प्रसादजी मंडेलिया ने और अनन्तर उनके भांजे मुरलीधर डालमिया ने दिल्ली की इस मिल को अच्छे मुनाफे पर चला कर दिखाया।

सूती मिलों की दुनिया में रामेश्वरदास और घनश्यामदास अपने ढंग से जम चुके थे। व्यापारी से उद्योगपति होने का दौर आ गया और इसके लिए उनके पास अच्छी पूंजी भी थी। राजा वलदेवदास के निर्देशन में रामेश्वरदास की चाँदी के व्यापार में चाँदी ही चाँदी हुई थी। मिलों ने भी अच्छा मुनाफा दिया था। घनश्यामदास ने गनीजूट की दलाली में अच्छा पैसा पीटा था। वताते हैं कि व्रजमोहन के विवाह की पार्टी में कुछ अंग्रेजों से वात करने में उसे ऐसा सूत्र हाथ लगा कि वाजार में उसने डेढ़ लाख रुपया वना लिया। जुगलकिशोर भाईजी की कलकत्ते में फाटके और आयात-निर्यात के व्यापार में अच्छी कमायी हुई थी। उन्होंने अच्छी जायदादें खरीदने का काम भी वड़े पैमाने पर किया। परिस्थितियां विड़ला परिवार के अनुकूल थीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि पहली वड़ी लड़ाई के दौरान विड़लाओं की आर्थिक हैसियत में चौगुनी वृद्धि हुई और वह विधिवत देश के इने-गिने करोड़पतियों में शुमार हो गये।

सम्पन्न व्यापारियों और उद्योगपतियों के लिए परम्परागत ढंग की गद्दी काफी नहीं थी। अव तक का काम वम्वई की 'शिवनारायण वलदेवदास' और कलकत्ता की 'वलदेवदास जुगलकिशोर' अपने ढंग से देख ही रही थीं। अव जरूरत इस वात की थी कि उद्योगों के संचालन के लिए मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति की कोई व्यवस्था की जाए। इसलिए 1918 में 20 लाख रुपये की पूंजी से कलकत्ता में विड़ला व्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड की स्थापना हुई और इसके साथ ही

घनश्यामदास बिड़ला बन्धुओं में अग्रणी बनने शुरू हुए। कुछ वर्ष बाद छोटे भाई ब्रजमोहन को, जो इस बीच कलकत्ता में जूट और गनी की दलाली तथा अन्य पारिवारिक व्यापारों में दीक्षित किया जा चुका था, घनश्यामदास ने 21 वर्ष की उम्र में बिड़ला ब्रदर्स का मैनेजिंग डायरेक्टर बनाया। अंत तक वही इस पद पर रहे।

बिड़ला ब्रदर्स ने सबसे पहले जूट की मिल लगाने की ओर ध्यान दिया। घनश्यामदास को दलाल के रूप में जूट और पटसन के व्यापार का अच्छा अनुभव था और अंग्रेजी मिल-मालिकों से परिचय होने के नाते वह जूट के उद्योग को भी कुछ-कुछ समझने लगा था। इसी समय कुछ अन्य भारतीय उद्यमी भी जूट-उद्योग में प्रविष्ट होने के लिए यत्नशील थे। इनमें से एक हुकमचन्दजी तो मिल लगाने में सफल भी हुए। अंग्रेजों को मारवाड़ियों का जूट उद्योग के क्षेत्र में आना पसन्द नहीं था इसलिए उन्होंने घनश्यामदास की राह में हर तरह के रोड़े अटकाये। इस मिल के लिए हुगली नदी के किनारे मौजा पुजाली के जमींदारों से जो जमीन ली गयी थी, अंग्रेजों के इशारे पर जमींदारों ने उसका कब्जा बिड़लाओं को नहीं दिया। मामला कोर्ट-कचहरी में गया। इसी तरह अंग्रेजों ने पौंड-रुपये की विनिमय दर अकारण बहुत अधिक बदल दी ताकि घनश्यामदास ने विदशों में जिन मशीनों के लिए आर्डर दे रखे थे उनकी लागत बहुत बढ़ जाये। इस एक झटके से ही मशीनों पर आने वाली लागत लगभग दुगनी हो गयी। फिर भी घनश्यामदास ने हिम्मत नहीं हारी और मिल स्थापित करने में जुटा रहा। आखिर मिल बनकर तैयार हुई। लेकिन इसे बनाने में इतना ज्यादा खर्च हो गया कि अन्य कामों के लिए बिड़लाओं का हाथ तंग रहने लगा। जुगलकिशोर भाईजी ने, जो यों भी उद्योगों के प्रति विशेष उत्साही नहीं थे, एक प्रकार से इस मिल को बेच देने का सुझाव दिया।

उन दिनों एंड्रयूज यूल एंड कंपनी लिमिटेड जूट मिल चलाने वाली प्रमुख मैनेजिंग एजेन्सी थी। यद्यपि इसी एजेन्सी ने बिड़लाओं के द्वारा जूट मिल स्थापित किया जाने का सबसे अधिक विरोध किया था, इसी ने ही उनके मार्ग में तमाम अड़चनें डलवायी थीं, तथापि अब इसकी शरण में जाने के अलावा और कोई चारा न था। जैसे ही घनश्यामदास इस कंपनी के बड़े साहब के दफ्तर में घुसा, उसने बतौर अभिवादन व्यंग्य वाणों की झड़ी लगायी। उन जाहिल हिन्दुस्तानियों का मखौल उड़ाया जो अपने बाप-दादों के लिये हुये काम को छोड़कर आधुनिक उद्योगों के क्षेत्रों में गोरों से टक्कर लेने चलते हैं, जिन्हें आता-जाता कुछ नहीं है, मगर जो मिल-मालिक बन जाना चाहते हैं। सुनकर घनश्यामदास का युवा खून खौल उठा। उसने मिल बेचने की बात ही नहीं की। नहले पर दहले वाली शैली में

जवाव दिये और कहा, 'हमारे पैसे हैं, हमारी मिल है, हम अपने ढंग से चला रहे हैं और चलायेंगे। हमें न तुम्हारी परवाह है और न तुम्हारी बक-बक सुनने की जरूरत।''

ऐसा वह कह तो आया लेकिन घर लौटकर थोड़ा परेशान हुआ कि बड़े भाईजी को कैसे वताऊं? राधाकृष्णजी कानोडिया बताते हैं कि फिर जुगलकिशोरजी ने ही स्थिति भांपते हुए घनश्यामदास को वुलाया और प्रेम से पास में वैठाकर कहा कि जो कुछ हुआ है वता दे, डर मत। घनश्यामदास ने सारी वात वतायी। सुनकर बड़े भाईजी ने कहा कि अब तू पैसे की चिन्ता मत कर और इस मिल को चला कर दिखा।

इस प्रकार बड़े भाई से हार्दिक प्रोत्साहन और आर्थिक आश्वासन पाने पर घनश्यामदास नयी जूट मिल को चलाने और सफल वनाने में प्राणपण से जुट गया। विड़ला जूट-मिल उद्योगों के क्षेत्र में अंग्रेजों के आधिपत्य को सफल चुनौती देने वाले भारतीय उद्यम, श्रम और आत्मसम्मान की निशानी बन चली।

1894 को रामनवमी के दिन पिलानी में जन्मा घणश्यो घनश्यामदास तो वन ही गया था,अव जी. डी. वाबू हो गया—दो-दो मिलों का मालिक। तेजी से उभरता उद्योगपति।

जी. डी. बाबू ने यह तय पाया कि दिल्ली की मिल के लिए बाहर से बढ़िया नयी मशीनें मंगवायी जायें। तय किया और फौरन आर्डर दे डाला। तभी माता-पिता से मिलने वह बनारस गये। वहां मालवीयजी ने उन्हें विश्वविद्यालय के एक समारोह में आमन्त्रित किया जिसमें राजाओं-महाराजाओं की ओर से विश्वविद्यालय के लिए अनुदानों की घोषणा की जाने वाली थी। मालवीयजी घनश्यामदास को अपना पुत्रवत राजनीतिक शिष्य मानते थे। उन्होंने उससे पूछा कि क्या तुम लोग भी यहां ग्वालियर महाराजा की तरह पांच लाख रुपये के अनुदान की घोषणा नहीं करोगे? जी. डी. वाबू एक क्षण को हिचके कि इतनी वड़ी राशि वगैर काकोजी और वड़े भाईजी से पूछे कैसे दे दूं? लेकिन फिर उन्होंने कहा कि आप जैसा उचित समझें करें। जव मालवीयजी ने मंच से यह घोषणा की कि महाराजा सिंधिया और घनश्यामदास विड़ला दोनों ने विश्वविद्यालय के लिए पांच-पांच लाख रुपये देना मंजूर किया है तव वहां उपस्थित सभी सामन्तों और श्रीमन्तों की तरह ग्वालियर महाराजा को भी यह जिज्ञासा हुई कि राजाओं-महाराजाओं वाली तवियत का धनी यह घनश्यामदास विड़ला है कौन?

जिज्ञासा से बात परिचय की ओर बढ़ी और परिचय से मैत्री की ओर। ग्वालियर महाराजा की ओर से यह आग्रह हुआ कि बिड़ला बन्धु ग्वालियर रियासत में उद्योग लगायें। उन्होंने इसके लिए सुविधायें देने का प्रस्ताव रखा। आर्थिक संकट के दौर में ये सुविधायें जी. डी. बाबू को आकर्षक प्रतीत हुईं और उन्होंने तत्काल यह निर्णय कर लिया कि दिल्ली की मिल के लिए जों नयी मशीनें मंगायी गयी हैं उनसे ही ग्वालियर में एक सूती मिल स्थापित की जाए। विलायत से बंबई पहुंची हुई मशीनरी दिल्ली की बजाय ग्वालियर भिजवायी गयी। जियाजी राव काटन मिल्स ग्वालियर नामक एक नये उद्योग का सूत्रपात हुआ जिसके लिए ग्वालियर के राज-परिवार ने ऋण भी दिया। महाराजा सिंधिया तो अपने मित्र को बहुत ही आसान शर्तों पर पैसा उधार दे देते लेकिन उनके सलाहकार दीनशा ने इसे यारी-दोस्ती का नहीं धन्धे-व्यापार का मामला बनाया और बिड़ला बन्धुओं की ओर से आये देवीप्रसादजी खेतान् को सूचित किया कि रकम बारह रुपये सैकड़ा के सालाना ब्याज पर और एक रुपंया सैकड़ा सालाना की दलाली पर उधारी दी जायेगी। जी. डी. बाबू ने यह शर्त मंजूर कर ली।

बिड़ला जूट और जियाजी राव काटन दो मिलें जी. डी. बाबू स्वयं स्थापित करके देख चुके थे। इस प्रकार उन्हें उद्योग-स्थापना का अच्छा अनुभव हो चला था। अब उन्होंने उद्योग संचालन की ओर ध्यान देना शुरू किया। घण्टों मिल के विभिन्न शेडों में घूमते रहना, हर मशीन के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करना, उत्पादन में रुकावट क्यों और कैसे आती है और उन्हें किस उपाय से दूर किया जा सकता है यह जानना, लागत का और उत्पादन का पूरा ब्यौरा समझना, यह सब उनका हर रोज का काम बन गया। उद्योगों में उनकी बढ़ती दिलचस्पी का एक प्रमाण यह था कि जब वह घर लौटते तब उनके सारे कपड़े कपास के रोयों से ढके रहते। जियाजी राव काटन मिल्स वह प्रयोगशाला बनी जिसमें जी. डी. बाबू ने कुशल और लाभदायक औद्योगिक संचालन के लिए अपनी विशिष्ट 'पड़ता-प्रणाली' का आविष्कार और विकास किया।

जी. डी. बाबू की देखा-देखी कुछ अन्य साहसी मारवाड़ी उद्यमियों ने भी मिलें लगानी शुरू कर दीं। धीरे-धीरे देश में कपड़ा उत्पादन के बम्बई के बाहर भी कई बड़े केन्द्र बन गए—मिसाल के लिए अहमदाबाद। लेकिन व्यापार क्षेत्रों में आम धारणा यही रही कि स्वदेशी सूती कपड़ा उद्योग लड़ाई के जमाने में भले ही चार पैसे कमा गया हो, लड़ाई के बाद के दौर में इंग्लैण्ड के कपड़ा उद्योग के सामने ठहर नहीं पायेगा। इंगलैंड की मिलें भारत से रुई मंगाकर जो कपड़ा बनाकर भेजेंगी वह हर माने में भारतीय मिलों के बनाये कपड़े से सस्ता और बढ़िया बैठेगा।

और तो और मारवाड़ी कपड़ा व्यापारी तक अपने यहां विदेशी माल ही स्टाक करते थे और देशी कपड़े को बहुत संदेह की दृष्टि से देखते थे। इसलिए यह आशंका की जा रही थी कि कहीं जियाजी राव काटन मिल भी देर-सबेर उसी तरह न बैठ जाये जिस तरह बम्बई की कई मशहूर कपड़ा मिलें पहली बड़ी लड़ाई के बाद के दौर में बैठ गयी। यह जी. डी. बाबू की उद्योग संचालन प्रणाली की सफलता का प्रमाण था कि मन्दी के वातावरण में भी उनकी मिलें मुनाफा कमा कर दिखाती रहीं।

यह समझना गलत होगा कि उद्योगपति जी. डी. बाबू ने खेलकूद और व्यायाम के प्रति युवक घनश्यामदास के उत्साह को भुला ही दिया था। राधाकृष्णजी कानोडिया बताते हैं, "जब 1919 में मुकुन्दगढ़ में मेरा विवाह हुआ था तब घनश्यामदासजी भी वहां आये थे। उन्हें कसरत-कुश्ती का इतना शौक था कि दो पहलवान अपने साथ लाये। पहलवानों के साथ-साथ खुद भी कसरत करते। अपने पहलवानों की स्थानीय पहलवानों से कुश्तियां करवाते। जी. डी. बाबू के साथ कुछ बन्दूकधारी भी आये थे। उन्हें लेकर वह गांव से बाहर निर्जन स्थान में चले जाते और निशानेबाजी का अभ्यास करते। घुड़सवारी का उन्हें ऐसा शौक था कि इस विवाह के तीसरे दिन वह ढूंढलोत गये घोड़ों पर। साथ में छोटे भाई ब्रजमोहन को भी ले गए। वापस आते हुए रेगिस्तान में रास्ता भूल गए। स्थानिक लोगों ने कहा कि अब आप यहां से घोड़ों पर मुकुन्दगढ़ जाने की बात भूल जायें क्योंकि रास्ते में ऊंचे-ऊंचे धोरे (टीले) मिलेंगे जिन्हें देखकर घोड़े चमक जायेंगे। मगर जी. डी. बाबू नहीं माने। धोरे मिले, घोड़े चमके और जी. डी. बाबू और ब्रजमोहन बाबू दोनों को रेत चाटनी पड़ी। घोड़े भाग खड़े हुए। किसी तरह गांव वाले घोड़ों को पकड़ कर लाये। अब और तमाम लोग तो घोड़ों पर सवार होकर मुकुन्दगढ़ जाने की बात भूल गये और चुपचाप ऊंटों पर बैठ गये किन्तु जी. डी. बाबू फिर से घोड़े पर चढ़े और घोड़े को यह मानना पड़ा कि यह व्यक्ति तो मुझसे धोरे पार करवायेगा ही। आनन-फानन घोड़ा और घुड़सवार दोनों सकुशल मुकुन्दगढ़ पहुंचे।"

राधाकृष्णजी कानोडिया के इस संस्मरण में जी. डी. बाबू को कथानायक मानने वाला जो पूजा-भाव है वह उस समय के मारवाड़ी समाज की नयी पीढ़ी की मनःस्थिति का परिचायक है। कलकत्ता के मारवाड़ियों की विधवा-विवाह के प्रश्न को लेकर नयों और पुरानों में जबरदस्त ठनी हुई थी तब पुरानों ने नयों को चेतावनी दी कि विधवा-विवाह का समर्थन करने वाले नरक में जायेंगे। इसका मुंहतोड़ जवाब देते हुए युवा पीढ़ी के प्रवक्ता जी. डी. बाबू ने कहा, "मैं उस नरक में ही जाना पसन्द करूंगा जिसमें राजा राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

जैसे लोग होंगे। मुझे आप जैसों के स्वर्ग की कोई अपेक्षा नहीं है।" इस उक्ति ने तत्कालीन मारवाड़ी समाज को विस्मित-चमत्कृत किया था और यह उक्ति इतनी तेजस्वी है या कि समाज इतना भीरु का भीरु बना हुआ है कि यह आज भी हमें चमत्कृत और विस्मित करती है। जी. डी. बाबू ने परदा-प्रथा का विरोध किया। व्यर्थ के कर्मकाण्ड का विरोध किया और दहेज लेना-देना पाप ठहराया। जी. डी. बाबू के वक्त से बिड़ला परिवार सुधारवादियों का, 'आर्यसमाजियों का' परिवार माना जाने लगा और दूसरी ओर बांगड़ परिवार को सनातन-पंथियों के प्रवक्ता का दर्जा दिया गया। समाज दो हिस्सों में बंट गया। समाचार-पत्र जगत भी। बाबू मूलचंद्र का दैनिक 'विश्वमित्र' सुधारवादियों का समर्थन करता और दैनिक 'सन्मार्ग' पुरातन-पंथियों का।

सामाजिक और औद्योगिक क्षेत्र में जी. डी. बाबू भले ही अपने बिरादरों के मुकाबले में बहुत भिन्न और साहसी रहे हों, वित्तीय मामलों में वह भी उनकी तरह बहुत दबे-ढके और ऊंच-नीच विचारने वाले थे। यही वजह है कि 1920 में जब सागरमलजी सर्राफ ने जी. डी. बाबू के सामने साथ मिलकर बैंक खोलने का प्रस्ताव रखा तब उन्होंने यह कह कर उसे अस्वीकार कर दिया कि भले ही बैंक का होना उद्योगपति के लिए बहुत लाभप्रद हो सकता है किन्तु बैंक ऐसी संस्था है जिसे कोई भी बदनीयत प्रबन्धक मात्र एक आदमी के सहयोग तक से लूट ले जा सकता है। बैंकिंग व्यवसाय में जाना अपनी और दूसरों की रकम को खतरे में डालना होगा। आगे चलकर 1942 में जी. डी. बाबू ने बैंक की आवश्यकता बहुत ज्यादा महसूस की और उन्हें अपना अलग बैंक खोलना पड़ा। जो हो,1920 में उनका इस मामले में निडर न होना कुल मिलाकर ठीक ही रहा क्योंकि उन दिनों एक अन्य मित्र ओंकारमलजी सर्राफ ने कलकत्ता इंडस्ट्रियल बैंक के नाम से जो बैंक खोला था वह प्रबंध की अव्यवस्था के कारण अन्ततः बंद हुआ और उसमें बहुतों का रुपया डूब गया।

इस शताब्दी का तीसरा दशक आरम्भ होने तक जी. डी. बाबू मारवाड़ी समाज और व्यापारी बिरादरी के एक उभरते प्रवक्ता और नेता के रूप में सभी को मान्य हो चले थे—और तो और, अंग्रेज शासकों तक को। अंग्रेजों को अंग्रेजी भाषा की और पश्चिमी दुनिया की समझ रखने वाला और कोई ऐसा मारवाड़ी मिलना मुश्किल था और मारवाड़ियों के लिए अंग्रेजों से उनकी भाषा और तेवर में बात कर सकने वाला अपना और कोई बिरादर ढूंढना असम्भव था। इसीलिए 1921-22 में जब भारत सरकार ने पहली बार राजस्व नीति के बारे में सुझाव देने के लिए 'फिस्कल कमीशन' बैठाया तब जी. डी. बाबू को भी उसकी सदस्यता प्रदान की।

आगे चलकर ऐसी कई महत्त्वपूर्ण परिषदों में सरकार ने जी. डी.बाबू को शामिल किया। 1927 में जब जेनेवा में अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन हुआ तब उन्हें मालिकों के प्रतिनिधि-मंडल में शामिल किया गया। जब 1929 में ब्रिटानिया सरकार ने श्रम सम्बन्धी राज आयोग बैठाया तब जी. डी. बाबू भी उसमें आमन्त्रित किये गये। सच तो यह है कि इस सदी के तीसरे दशक से जी. डी. बाबू भारतीय उद्योग और व्यापार के अन्यतम प्रतिनिधि बन चले।

कलात्मक रुचि से सम्पन्न और साहित्यानुरागी जी. डी. बाबू को व्यापार से इतर क्षेत्रों में सम्मानित किये जाने का क्रम भी उन दिनों ही शुरू हुआ। जब 26 मार्च 1921 को कलकत्ता में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ग्यारहवां सम्मलेन हुआ तब स्वागताध्यक्ष का पद जी. डी.बाबू को ही दिया गया।

अपने परिवार के बुजुर्ग भले ही जी. डी. बाबू के कार्यकलापों का समर्थन कर रहे थे, समाज के अन्य वयोवृद्ध व्यक्ति उनकी चेष्टाओं को शंका की दृष्टि से देख रहे थे। वह नहीं चाहते थे कि मारवाड़ी समाज में घनश्यामदास और उनके युवा साथियों के क्रान्तिकारी विचारों का बोलबाला हो जाए। उनका विरोध किसी हद तक जी. डी. बाबू की बढ़ती हुई लोकप्रियता और आर्थिक-शक्ति से उपजी ईर्ष्या का भी परिचायक था। जब 1921 में मारवाड़ी व्यापारियों की संस्था 'मारवाड़ी एसोसिएशन' के मंत्री पद के लिए जी. डी. बाबू की युवा मंडली के उम्मीदवार देवीप्रसादजी खेतान का चुनाव हो गया तब पुरातनपंथी दल बहुत तिलमिलाया। अगले वर्ष के चुनाव में उसने पूरा जोर लगा कर देवीप्रसादजी को हरवा दिया। मारवाड़ी ऐसोसिएशन को सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली यानी केन्द्रीय धारा सभा के लिए नुमाइन्दा भेजने का अधिकार 9 वर्ष में एक बार मिलता था तो 1923 में युवा मंडली ने जी. डी. बाबू को इस पद के लिए अपने उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन मारवाड़ी ऐसोसिएशन के सदस्यों ने वोट डाले तो बहुमत ब्रिटिश फर्मों के लिए काम करने वाले बनियन लोगों के एक प्रतिनिधि को प्राप्त हुआ। इस हार से युवा मंडली बहुत क्षुब्ध हुई और उसने मारवाड़ी ऐसोसिएशन का बहिष्कार करके अपनी अलग संस्था 'इंडियन चैम्बर्स आफ कामर्स' बना ली। 1927 में इस तरह के चैम्बरों के अन्तर्देशीय महासंघ 'फिक्की' की स्थापना हुई और 1929 में जी. डी. बाबू फिक्की के प्रधान चुने गये। जिस युवक को कलकत्ता के पुरातनपंथी मारवाड़ी स्थानिक नेतृत्व तक नहीं दे रहे थे उसे वणिक समुदाय का राष्ट्रीय नेतृत्व प्राप्त हो गया।

सन् 1923-24 में कलकत्ता की मशहूर हावड़ा जूट मिल आर्थिक संकट में

घिर गयी। यह प्रस्ताव हुआ कि बिड़ला ब्रदर्स उसे खरीद लें। बड़े भाईजी जुगलकिशोरजी इस बात के लिए किसी हद तक राजी कर लिए गये। जो हो, उस समय यह सौदा न करना ही जी. डी. बाबू ने अधिक उचित समझा। इसके तुरन्त बाद केशोराम काटन मिल्स बिकाऊ हुई। यह देश की सबसे पुरानी (स्थापना वर्ष 1877) दो कपड़ा मिलों में से एक थी। दूसरी थी नागपुर की एम्प्रेस। जी. डी. बाबू ने पुरानी और नामी मिल केशोराम को अविलम्ब और बहुत उत्साह से खरीदा। यही नहीं, उन्होंने इसके पुराने साझेदार राधाकिशनजी सोंथालिया को भी इसमें दो आना पांती दी।

कलकत्ता में तो कारोबार पनप ही रहा था, देश की राजधानी दिल्ली भी बहुत तेजी से बिड़लाओं की, खासकर जी. डी. बाबू की, गतिविधियों का केन्द्र बनती जा रही थी। यहां पर बिड़लाओं का अपना कोई मकान न होना असुविधा का कारण बन रहा था। इसलिए 1924 में तत्कालीन अल्बुकर्क रोड में, जो अब तीस जनवरी मार्ग कहलाती है, बिड़लाओं ने जमीन खरीदी। मकान के नक्शे की तैयारी में जी. डी. बाबू ने स्वयं रुचि ली। इसके बाग-बगीचे भी उनकी इच्छानुसार लगाये गये। फर्नीचर और भीतरी सजावट के विषय में भी उन से ही राय ली गयी। बिड़ला हाउस जब बनकर तैयार हुआ तब इसकी गणना नई दिल्ली के सुन्दरतम निवास स्थानों में हुई। यह भवन बिड़लाओं की ही नहीं, देश के शीर्षस्थ नेताओं की भी बराबर अगवानी करता रहा। गाँधीजी 1932 में पहली बार यहां ठहरे और उसके बाद अक्सर उन्होंने अपना नयी दिल्ली प्रवास यहीं किया। मालवीयजी के लिए तो यह अपना घर-जैसा ही रहा। सरदार पटेल भी यहां कई बार लम्बी अवधि तक रहे। नेहरूजी भी एक मर्तबा यहां ठहरे।

इसी बिड़ला हाउस में अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय लिये गये। कांग्रेस की कार्यकारिणी की कई सभाएं यहीं हुईं। जब 1936 में सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार बनी तब गोविन्द बल्लभ पन्त जैसे कई 'प्रधानमंत्री' (मुख्यमंत्रियों के लिए तब यही शब्द प्रयुक्त होता था।) बिड़ला हाउस में ही आकर ठहरने लगे। जी. डी. बाबू का निजी सेवक केदारदत्त बताता है, "बिड़ला हाउस में नेताओं का जमघट लगा रहता था और हम लोग इस बात का ध्यान रखते थे कि हरेक की पसन्द का भोजन बने और परोसा जाये। कई बार तो सौ-सवा सौ लोग दोपहर के खाने के लिए इकट्ठा होते। नेताओं में कुल दो ऐसे थे जिन्हें बिड़ला हाउस में खाने से परहेज था—नेहरूजी और मौलाना आजाद। वे अपनी चाय तक थरमस में रखकर साथ लाते थे। नेहरूजी ने एक ही बार बिड़ला हाउस में भोजन किया और उस दिन भी बिना नमक की खिचड़ी खायी।"

1924 में रामेश्वरदासजी के दूसरे विवाह के प्रसंग में जबरदस्त खलबली मची। रामेश्वरदासजी के लिए रिश्ता खुर्जा में कोलवार कहे जाने वाले माहेश्वरियों में तय किया गया, जिन्हें कलकत्ता की पुरातनपन्थी डीडू माहेश्वरी पंचायत माहेश्वरी मानने को ही तैयार नहीं थी। दूसरे शब्दों में यह कि मारवाड़ी माहेश्वरी उत्तर प्रदेश के माहेश्वरियों को अपने से बाहर मानते थे। जब बिड़लाओं ने इन कोलवारों से रिश्ता तय किया तब उन्होंने यह धमकी दी कि आप लोगों को भी बिरादरी से बाहर कर दिया जायेगा। जी. डी. बाबू पूरी तरह अड़ गये कि हम विवाह खुर्जा में अवश्य करेंगे। प्रतिपक्ष ने बिड़लाओं के खिलाफ धुआंधार आन्दोलन किया और पांच लाख पर्चे छपवा कर सारे देश में बंटवाये। बिड़लाओं के खिलाफ कविताएं लिखी और सुनायी गईं। जब इसके बावजूद रामेश्वरदास का विवाह कोलवारों में कर दिया गया तब पुरातनपन्थियों ने पंचायत बैठाकर बिड़लाओं को जाति बाहर करके इस दुस्साहस के लिए दण्डित किया।

इस बहिष्कार से माहेश्वरी समाज दो हिस्सों में बंट गया। नये और पुराने विचारों की टकराहट से रिश्तेदारी में दरार आने लगी। बहू-बेटियां इस मारे बहुत परेशान हुईं। बिड़लाओं ने अपनी बेटियों को नेग वगैरा भेजे तो दूसरी ओर से लौटा दिये गये। इसी तरह बिड़ला बहुओं के अपने पीहर से सम्बन्ध लड़खड़ाने लगे। सबसे छोटे भाई ब्रजमोहन की पत्नी रुक्मणीजी जिस प्रसिद्ध तापड़िया परिवार की बेटी थीं उसने भी जाति बहिष्कार के मामले में पुरातनपन्थियों का विरोध किया था। जिस तापड़िया परिवार ने उसके पति को जाति बाहर मान लिया हो उनके पास वह कैसे जा सकती थी? इसलिए पूरे 12 वर्ष तक वह अपने पीहर नहीं गयीं। रामेश्वरदासजी की घरवाली हमेशा इस बात के लिए अपनी देवरानी का बहुत मान करती थीं।

बहू-बेटियों को इस तरह परेशान होता देख राजा बलदेवदास स्वयं कलकत्ता आये और उन्होंने पंचों को समझाने-बुझाने और समझौते का कोई रास्ता निकालने का यत्न किया। समझौता कराने का एक तरीका तो यह हो सकता था कि कोलवारों से सम्बन्ध रामेश्वरदास ने किया है इसलिए केवल उसे ही जाति बाहर किया जाये, अन्य बिड़लाओं को नहीं। यानी बिड़ला परिवार स्वयं रामेश्वरदास का जाति बाहर किया जाना स्वीकार कर ले। कुछ बुजुर्ग इस समझौते के पक्ष में भी थे। किन्तु घनश्यामदास इसके लिए तैयार नहीं हुए। ब्रजमोहन की भी यही राय रही। एक और तरीका यह था कि बलदेवदासजी पंचायत के सामने अपनी भूल स्वीकार करें, माफी मांगें और दण्ड भरें। इस अपमानजनक शर्त को स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। बिड़लाओं ने पुरातनपन्थियों से कह दिया कि

पराजय हमारी नहीं, आपकी होगी। जी. डी. बाबू ने माहेश्वरी समाज के कई जागों को, जो जजमानों की बहियां रखते हैं, देश के कोने-कोने से बुलाकर कलकत्ता में जुटाया। वह उनकी बहियों का बारीकी से अध्ययन करते रहे। अंत में उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि जिन मानकों की पुरातनपन्थी पंचायत दुहाई देती है उनके ही अनुसार रामेश्वरदासजी की ससुराल वाले बीसा माहेश्वरी ठहरते हैं। यानी वह उन लोगों से कहीं श्रेष्ठ हैं जो उन्हें जाति-बाहर मानते हैं।

यह झगड़ा तीन वर्ष तक पूरे जोर-शोर से चला। फिर अखिल भारतीय माहेश्वरी महासभा ने सेठ गोविन्ददास, ब्रजलालजी बियाणी और श्रीकृष्णदासजी जाजू जैसे गणमान्य व्यक्तियों का एक जांच आयोग बैठाया जिसने यह निर्णय दिया कि कोलवार माहेश्वरी समाज के ही अंग हैं।

इस बीच पिलानी से परिवार का संबंध टूट गया था। सभी लोग कलकत्ता या बंबई में बस गये थे और बलदेवदासजी और उनकी पत्नी भी बलदेवदासजी की माता के देहान्त के बाद बारहों महीने बनारस ही रहने लगे थे। जब तक दादीजी जिन्दा थीं तब तक न केवल काकोजी पिलानी जाते रहते थे बनारस से बल्कि उनके और जी. डी. बाबू के आदेशानुसार बहुएं भी दादी सास की सेवा के लिए पिलानी में बनी रहती थीं। जी. डी. बाबू की दादीजी के देहान्त के बाद बहुएं भी स्थायी रूप से बंबई-कलकत्ता रहने लगीं। कलकत्ता में बिड़ला परिवार अपने बढ़ते आकार और बढ़ती समृद्धि के अनुसार मकान बनाता और बदलता चला गया। जकरिया स्ट्रीट में 1917 में बने जिस मकान से बी. एम. बाबू का विवाह हुआ था उसमें दो ढाई साल ही रहकर 1920 में परिवार चला गया 6 नंबर रैनी पार्क में। यहीं जी. डी. बाबू की पत्नी कलकत्ता में रहने आयीं। 1923 में बिड़ला पार्क तैयार हुआ और परिवार वहीं चला गया।

6 नंबर रैनी पार्क में ही 1921 में महादेवीजी ने अपने दूसरे बेटे बसन्तकुमार को जन्म दिया। रात ठीक 12 बजे बच्चे का जन्म हुआ। ननद जयदेवीजी ससुराल से मोटर भेजकर बुला ली गई थीं। वह जच्चा के लिए अपनी समझ से अच्छे-अच्छे पकवान बनाकर लायी थीं। लेकिन भाभी बोली, "भाईजी को दिखा लो, वह पास करें तो मैं खाऊं।" भाईजी प्राकृतिक चिकित्सा, संतुलित भोजन आदि के प्रवक्ता बन चले थे। इसलिए भाभीजी उनकी अनुमति के बिना हलवा और पंजीरी जैसी गरिष्ठ चीजें खा नहीं सकती थीं।

जचगी के समय नर्सें डाक्टर सब मौजूद थे। इतना लंबा-चौड़ा इंतजाम था

दसरी पत्नी श्रीमती महादेवी

अपनी धर्मपत्नी महादेवी बिड़ला के चिर-विछोह के वाद श्री घनश्यामदास बिड़ला ने उमर खैयाम की रुवाई की ये अंग्रेजी में अनूदित पंक्तियाँ अपने हाथ से इस चित्र पर लिखी थीं-

Alas, that Spring should vanish with the Rose!
That Youth's sweet-scented manuscript should close!
The Nightingale that in the Branches sang,
Ah, whence, and whither flown again, who knows!

कि कुछ बड़े-बूढ़े मारवाड़ी मजाक उड़ा रहे थे कि घनश्यामदास के घर तो विलायती जापा हो रहा है। इतने डाक्टरी प्रबंध के बावजूद जी. डी. बाबू दुबली-पतली काया और नाजुक स्वास्थ्य वाली अपनी पत्नी के विषय में स्वयं भी चिन्तित रहते थे। बराबर खुद देखने आते और पूछते क्या खाया, क्या पीया,आराम किया कि नहीं?

1923 में बिड़ला पार्क तैयार हुआ और परिवार वहीं चला गया। यह नया घर शायद महादेवीजी को रास नहीं आया। कमजोर तो पहले से ही थीं, चन्द्रकला, कृष्णकुमार, अनुसूया और बसन्तकुमार इन चार बच्चों को जन्म देते हुए कुछ और कमजोर हो चली थीं। इधर वह फिर गर्भवती हुईं। उन्हें हल्का बुखार रहने लगा। खांसी की भी बराबर शिकायत बनी रहने लगी। जिस राजरोग यक्ष्मा ने जी. डी. बाबू के दादोजी और पहली पत्नी को काल का ग्रास बनाया था, उसी ने उनकी दूसरी पत्नी को भी धर-दबाया। पुराने विचार वाले लोगों की हंसी की परवाह न करते हुए जी. डी. बाबू ने नर्सों, डाक्टरों वाला ही प्रबंध फिर से कराया और स्वयं भी पत्नी की अतिरिक्त देखरेख करने लगे। रुग्णा महादेवीजी ने अपनी पांचवीं और अंतिम संतान शान्ति को जन्म दिया।

नर्सों-डाक्टरों के होने के बावजूद, अपनी तमाम व्यावसायिक व्यस्तताओं के बावजूद, जी. डी. बाबू अपनी पत्नी की व्यक्तिगत देखभाल में कोई कसर उठा नहीं रखते थे। बीच-बीच में दफ्तर से घर आते, उसकी नब्ज देखते, टेम्प्रेचर देखते और यह पूछताछ करते कि क्या खाया और कैसा अनुभव किया। अगर कोई ऊंच-नीच नजर आती तो डाक्टर का ध्यान उस ओर दिलाते। जयदेवीजी का, जो कलकत्ता में होने के कारण भाभी की सहेली जैसी बन गयी थीं, कहना है कि उस समय घनश्यामभाईजी ने अपनी पत्नी की खूब ही सेवा की। यह जानते हुए भी कि मर्ज लाइलाज है, अच्छे-से-अच्छे डाक्टर को बुलाया और उसकी बताई हुई हर दवा-दारू की। हवा बदली के लिए उसे पहले रांची और फिर सोलन ले गये। विडम्बना कि कोई वर्ष भर पहले इसी रांची में घनश्याम भाई जी अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर छुट्टियां मनाने गये थे। जी. डी. बाबू की बड़ी बेटी चन्द्रकला को अपने पिता के विषय में जो पहली-पहली स्मृतियां हैं वह रांची में बिताये उन्हीं छुट्टी के दिनों की हैं। तब वह आठ वर्ष की थीं और लक्ष्मीनिवासजी 12 वर्ष के थे।

बीमार होकर जब महादेवीजी रांची गईं तब लक्ष्मीनिवास तथा अन्य सब बच्चे साथ में थे। किशोर लक्ष्मीनिवास सबसे बड़ा था इसलिए मां की देखरेख की खास जिम्मेदारी उसकी ही थी। जब भी जी. डी. बाबू न होते वह ही उनके

आदेशानुसार मां की तीमारदारी करता। विड़ला परिवार में आज भी इस वात की चर्चा होती है कि किशोर लक्ष्मीनिवास ने कितनी निष्ठा से अपनी बीमार मां की सेवा की!

जी. डी. वावू समझ गये थे कि शीघ्र ही उन्हें फिर विधुर हो जाना है और इन छोटे-छोटे बच्चों के लिए मां और बाप दोनों की भूमिका अपनानी है। पत्नी के स्वास्थ्य के सम्वन्ध में गाँधीजी से उनका पत्र-व्यवहार होता रहा था। 30 मार्च 1925 को गाँधीजी ने जी. डी. वावू को लिखा, "जहां तक आपकी पत्नी का सवाल है, आप यह शपथ ले सकते हैं कि यदि उनका निधन हो जाए तो आप पुनर्विवाह नहीं करेंगे और एक साधु विधुर का जीवन ही वितायेंगे। यदि आप में ऐसी शपथ लेने की वलवती इच्छा जाग्रत हो तो यही उत्तम रहेगा कि आप इसे अपनी पत्नी के सामने ही ग्रहण करें।" यह कहना कठिन है कि बापू के आदेशानुसार जी. डी. वावू ने अपनी मरणासन्न पत्नी के समक्ष कोई शपथ ली या नहीं ली, किन्तु जहां तक फिर विवाह करने का प्रश्न है यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि रांची में अपनी वीमार पत्नी के सान्निध्य में वह ऐसा मन वना चुके थे। चन्द्रकला बाई को उन दिनों की जो वातें याद हैं उनसे ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है कि जी. डी. वावू ने वाप की ही नहीं, मां की भी जगह लेनी शुरू कर दी थी। वह बच्चों से बार-बार कहा करते कि किसी चीज की भी जरूरत हो तो मुझसे ही कहो। मैं न हूं तो लक्ष्मीनिवास से कहो, मगर मां को आराम करने दो। चन्द्रकला बाई बताती हैं कि काकोजी हमारी हर छोटी-वड़ी आवश्यकता का ध्यान तब से खुद ही रखने लगे थे।

रांची में जव विशेष स्वास्थ्य लाभ नहीं हुआ तब महादेवीजी को कलकत्ता लाया गया। डाक्टरों ने सलाह दी कि किसी हिल स्टेशन में ले जाइये। सोलन जाने का फैसला हुआ। जी. डी. वावू अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सोलन के लिए रवाना हुए। रास्ते में वह बनारस में बलदेवदासजी के पास कुछ दिन रहे। बलदेवदासजी ने कहा कि वच्चे सारे साथ जायेंगे तो ठीक नहीं रहेगा। हद से हद छोटे वच्चों को साथ भेज दो। चन्द्रकला और किशन (कृष्णकुमार) को यहां छोड़ जाओ। महादेवीजी अपने वड़े वेटा-वेटी को पीछे छोड़कर जाना नहीं चाहती थीं और वेटा-वेटी भी मां से अलग नहीं होना चाहते थे। मगर उस जमाने में वड़ों की वात पत्थर की लकीर हुआ करती थी और फिर तपेदिक छूत का रोग था, लाइलाज रोग था। चन्द्रकला और किशन अपने दादोजी के साथ वनारस में रह गये। उनकी मां चली गयी।

सोलन और शिमला में महादेवीजी को स्वास्थ्य लाभ तो हुआ नहीं उल्टे

उनकी तबीयत बराबर गिरती चली गयी। जी. डी. बाबू अपनी पत्नी को देखने बार-बार आते किन्तु हर बार व्यापार और राजनीति की पुकार उन्हें रोगिणी को अपने बड़े पुत्र लक्ष्मीनिवास के जिम्मे छोड़कर जाने को बाध्य कर देती। तपेदिक के रोग में दिनोंदिन घुलती चली जाती अपनी मां की सेवा लक्ष्मीनिवास ने निश्शंक होकर पूरी निष्ठा से की। उसके मन में बराबर यही विचार रहा कि भाई-बहनों में मैं सबसे बड़ा हूं इसलिए मां की सेवा और भाई-बहनों की देखभाल में मुझे ही आगे रहना चाहिए। मां की बीमारी की वजह से उन्हें किसी भी तरह का अभाव या कष्ट ना हो और आगे मां की मृत्यु से उन्हें जबरदस्त आघात न पहुंचे, यह देखना मेरा ही काम है।

जब महादेवीजी का स्वास्थ्य और गिर गया तब उन्हें दिल्ली ले आया गया और शांत -एकान्त स्थल ओखला में रखा गया। अनुसूया, शान्ति और बसन्त इन छोटे बच्चों को रोगिणी के पास से हटा लिया गया और बड़े बेटे किशन को बुला लिया गया। बच्चे माँ से दूर होकर बहुत कलपे। वे अभी नादान थे, मगर बड़ों की बातें उनके कान में कभी-कभी पड़ ही जाती थीं, जिनसे पता चलता कि उनकी मां को कोई गम्भीर बीमारी हो गयी है। चन्द्रकलाजी बताती हैं, "यह जानकर हमारा मन दुखी हो जाता कि हमारी माँ तकलीफ में है। हम उससे मिलने को छटपटाते। मगर उसके पास जाना न जाना अपने बस में था नहीं। फिर जब खुद माँ ने ही जोर दिया कि सब बच्चों को मेरे पास भेजो तब हम दिल्ली ले जाये गये, जहां ओखला में मां मृत्यु-शैया पर पड़ी थी। यह बात अलग है कि हम सब ठीक से न मृत्यु का मतलब समझते थे और न शैया का।"

दिल्ली में उन दिनों बिड़ला हाउस जैसी कोई चीज नहीं थी। बिड़ला काटन मिल्स वाली कोठी में ही परिवार के लोग आते-जाते टिक जाया करते थे। इस बार वहां ठहरने का प्रश्न नहीं था। महादेवीजी को ओखला के जिस मकान में रखा गया था उसी के बाहर एक तम्बू लगाकर बच्चों को ठहरा दिया गया। बच्चों के गार्डियन-ट्यूटर पण्डित उदित मिश्र उसी कमरे में दिन भर पाठशाला लगाये रखते। रात को भी बच्चों को बंगले के बरामदे में ही रजाई-वजाई उढ़ा कर सुला दिया जाता। यह सब इसलिए करना पड़ा कि तपेदिक डाक्टरों के अनुसार भयंकर छूत की बीमारी थी और छोटे बच्चों का अपनी रुग्णा मां के पास रहना-सोना निरापद नहीं था। दिन में एकाध बार बच्चे थोड़ी देर के लिए अपनी मां के सामने ले जाये जाते।

रुग्णा महादेवीजी की यह बड़ी इच्छा थी कि एक बार उन महापुरुषों के

दर्शन अवश्य कर लूं जो देश की आजादी के लिए लड़ रहे हैं और जिनकी चर्चा मेरे पति वहुधा करते हैं। उन्होंने यह इच्छा जी. डी. बाबू के समक्ष व्यक्त कर दी थी। जी. डी. बाबू के कहने पर लाला लाजपतराय महादेवीजी से सोलन में ही मिल आये थे। फिर एक ठिठुरती सुबह महात्मा गाँधी जी.डी. बाबू के आग्रह पर दिल्ली स्टेशन से 15 मील दूर ओखला एक रुग्णा को देखने गये जबकि उनकी गाड़ी छूटने में कुल एक घंटे का समय था। लक्ष्मीनिवासजी बताते हैं, "जाड़ों के दिन थे,फिर भी हम लोग बरामदे में सोते थे। अकस्मात सुबह पांच बजे पिताजी महात्माजी को लेकर ओखला पहुंचे और हम लोगों को पुकार कर जगाया। हम लोग हड़बड़ा कर उठे और हमने गाँधीजी को प्रणाम किया। महात्मा गाँधी हमारी रुग्णा मां के कमरे में गये। पांच मिनट वहां ठहरे और फिर मोटर में बैठकर अपनी गाड़ी पकड़ने चले गये।"

उस समय तक जी. डी. बाबू अपने बड़े बेटे लक्ष्मीनिवास और बड़ी बेटी चन्द्रकला की सगाई कर चुके थे। पत्नी का अंतिम समय निकट आया जानकर उन्होंने कई बार उससे पूछा कि क्या तू उस लड़के को देखना चाहती है जिससे चंका की शादी तय की है और उस लड़की को जिससे लक्ष्मीनिवास की सगाई हुई है। तू कहे तो उन्हें बुला दें। महादेवीजी ने कहा, "आपने देखा समझो मैंने भी देख लिया, क्यों उन बच्चों को यहां आने की तकलीफ देते हो।"

महादेवीजी की यह इच्छा जरूर थी कि लक्ष्मीनिवास का विवाह कर दिया जाए। लेकिन लक्ष्मीनिवास अपनी रुग्णा मां की सुश्रूषा में इतना डूबा हुआ था कि विवाह की बात उसे सुहाती नहीं थी।

एक दिन दोपहर बच्चों को रुग्णा मां के पास बुलाया गया। उन्होंने प्रणाम किया। मां ने असीसा। उन्हें क्या पता था कि यही उनकी अपनी मां से आखिरी भेंट है।

सवेरे से ही महादेवीजी की तवीयत बहुत खराब थी। शाम के समय उन्होंने जी. डी. वावू से कहा अव मैं मरना चाहती हूं। मुझे दुख है कि मैं आपको और बच्चों को तकलीफ ही तकलीफ दे सकी।

पति ने पत्नी की यह वात सुनकर उसके सिर पर प्यार भरा हाथ रखा और कहा, "तूने मेरे लिए वहुत कुछ किया और अव भी कर सकती है। मेरे कल्याण की कामना कर और मेरे वच्चों को आशीर्वाद दे।"

सुनकर पत्नी के चेहरे पर एक फीकी मुस्कान फैल गयी और वह बोली, "मेरी क्या शक्ति है? यों मैं तो यही चाहूंगी कि आप और हमारे बच्चे हमेशा सुखी रहें।"

जी. डी. बाबू ने कहा, "शक्ति हरेक में है दूसरे के अच्छे के लिए, बुरे के लिए नहीं। तू भले ही भौतिक स्तर पर मेरी कोई भलाई न कर सके, आत्मा के स्तर पर तो कर ही सकती है। आदमी अपनी प्रिय और अच्छी वस्तु का ही ईश्वर के सामने भोग चढ़ाता है। कभी-कभी ईश्वर के लिए प्रियजन को बलिदान भी करता है। इस समय जब तू ईश्वर के चरणों में चढ़ा दी गयी है,मेरे कल्याण की चिन्ता कर और बाकी सब चिन्ता छोड़।"

युवा पति के ऐसे दार्शनिक वचन सुन महादेवीजी ने संतोष के साथ अपनी आंखें बंद कर लीं। पति के समक्ष मरने की इच्छा प्रकट करने के ठीक एक घण्टे बाद उन्होंने शरीर छोड़ दिया, अपने मन में राम-राम जपते हुए।

शरीर छोड़ देने का मुहावरा यहां मात्र आडम्बर के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया है। युवा घनश्यामदास ने स्वयं यह माना और दूसरों से भी यही कहा कि महादेवी मरी नहीं है। अपने पुत्र बसन्तकुमार को कुछ वर्षों बाद उन्होंने एक पत्र में लिखा कि तुम्हारी मां मरी नहीं है, केवल उसके रोगी शरीर का ही नाश हुआ है। उसकी आत्मा ने रोग-जर्जर काया छोड़ दी तो यह ठीक ही हुआ। इसमें रोना-कलपना कैसा?

बच्चों को घूमने के लिए बाहर भेज दिया गया था। शाम के समय लक्ष्मीनिवास उनको जाकर बुला लाया। उसने उनसे कुछ कहा नहीं। लेकिन उसका चेहरा देखकर स्पष्ट लग रहा था कि इस बीच कुछ अप्रिय हुआ है। घर लौटने पर पण्डित उदित मिश्र बच्चों को इधर-उधर की बातों से बहलाते रहे और फिर उन्होंने उन्हें बरामदे में सुला दिया। बच्चों ने काकोजी से मिलना चाहा। वह आये, उनके चेहरे पर बड़ी थकन, बड़ी टूटन लिखी हुई थी, मगर उन्होंने कुछ बताया नहीं। सिर्फ यही कहा कि अब सो जाओ, और बच्चे सो गये। लेकिन चन्द्रकला को नींद नहीं आयी। जिस समय मां की अर्थी ले जायी जा रही थी वह रजाई उघाड़कर सब देख रही थी। सवेरे उठने पर छोटे बच्चे बसन्तो ने मां को इधर-उधर ढूंढना शुरू किया। फिर उसने अपने काकोजी से ही पूछा कि मां कहाँ गयी? पिता ने पुत्र से कहा, "बा भगवान कने चली गी।"—वह भगवान के पास चली गयी। अबोध बालक के समझ में यह बात आयी नहीं। किशन भाई बड़ा था, वह समझ गया।

तो इस प्रकार 32 वर्ष की उम्र में जी. डी. बाबू दूसरी बार विधुर हो गये। उन्होंने यह जबरदस्त आघात बगैर विचलित हुए सहन किया। लक्ष्मीनिवासजी का कहना है कि काकोजी अपने को इस धक्के के लिए पहले से तैयार कर चुके थे। डाक्टरों ने तो तभी जवाब दे दिया था जब मां सोलन में थी। भीतर उन पर जो भी बीत रही हो, बाहर उन्होंने कुछ भी जाहिर नहीं होने दिया। 13 अप्रैल 1925 को गाँधीजी ने यह लिखा था कि जब डाक्टरों ने भी जवाब दे दिया है तब पत्नी की सम्भावित मृत्यु से चिन्ता कैसी ? तो जी. डी. बाबू ने बगैर उफ् किये यह वज्रपात ग्रहण किया। उन जैसे सजग पाठक के मन में पत्नी के देहान्त से शोकाकुल महाराज अज को समझाई गयी बात निश्चय ही स्मरण आयी होगी। '**द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः** (रघुवंश)। पेड़ और पहाड़ में क्या अन्तर होगा यदि हवा से दोनों हिल जायें ? और अपने जीवन के इस प्रबलतम झंझावात में वे हिले नहीं।

जैसे पहली पत्नी के देहान्त पर वैसे दूसरी पत्नी के देहान्त पर स्वजनों की ओर से तुरन्त आग्रह होने लगा कि फिर शादी कर लो। इस बार भी तर्क वही था कि बच्चों की देखभाल कौन करेगा ? जी. डी. बाबू पक्का फैसला कर चुके थे कि अब शादी नहीं करनी है। उनकी मां इस पक्ष में थी कि बेटे का जल्दी से फिर विवाह करा दिया जाये। उन्होंने इस काम में मालवीयजी की सहायता चाही। मालवीयजी ने कोशिश करके देखी, मगर घनश्यामदास माने नहीं।

फिर माताजी ने बलदेवदासजी से ही कहा कि बेटे को समझाओ। मगर उन्होंने यही जवाब दिया कि सयाने बेटे पर किसी तरह का जोर दिया नहीं जा सकता। पत्नी के बहुत जोर देने पर उन्होंने बेटे से बात की। उन्होंने कहा कि मेरा अपना दृष्टिकोण सुधारवादी है और मैं भी यह मानता हूँ कि किसी मर्द का शादियां करते ही चले जाना बहुत शोभन नहीं। लेकिन 32 वर्ष की उम्र से लेकर आजीवन विधुर रहना भी तो कुछ ठीक नहीं होगा। फिर बच्चे भी छोटे-छोटे हैं।

जी. डी. बाबू ने काकोजी की बात ध्यान से सुनी और विनम्रता से अस्वीकार कर दी। उन्होंने कहा कि मेरे जिन छोटे-छोटे बच्चों के लालन-पालन का आप लोग सवाल उठाते हैं वह सौतेली मां के आने से दुखी हो सकते हैं। उनके मन में इससे कोई गांठ भी पड़ सकती है। गृहस्थ आश्रम का जितना सुख मेरे लिए बदा था वह भोग चुका। बच्चे भी काफी हैं। बाहर की दुनिया में मेरे लिए इतना कुछ करने को पड़ा है कि घर के लिए समय निकालना मुश्किल है। ऐसे में मेरे लिए यह ठीक नहीं होगा कि मैं किसी तरुणी को ब्याह कर लाऊं और उसे बच्चों की देखभाल

करने के लिए उपेक्षित छोड़ दूं घर में।

पत्नी के निधन के बाद तत्काल यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि बच्चों को कहां भेजा जाए? रामेश्वर भाया उस समय बिड़ला काटन मिल्स के गेस्ट हाउस में ही रह रहे थे। अनुसूया और शान्ति को उनके पास भेज दिया गया और वे फिर अपनी ताई के साथ बम्बई रहने चली गईं। कृष्णकुमार के विषय में जी. डी. बाबू के विशेष चिन्तित होने का प्रश्न नहीं उठता था क्योंकि वह अपने ही शब्दों में 'तब भी बहुत आत्मनिर्भर' थे। उसे उन्होंने तत्काल ही कलकत्ता में ब्रजमोहन बिड़ला के संरक्षण में रखवा दिया। वहां चाचा-चाची से उन्हें वैसा ही स्नेह प्राप्त हुआ जैसा कि अपने माता-पिता से होता है। बसन्तकुमार छोटे थे और उनके विषय में जी. डी. बाबू को थोड़ी चिंता भी थी, वह भी ब्रजमोहन चाचाजी के यहां रहे। लक्ष्मीनिवास तत्कालीन मानकों के अनुसार सयाने थे और अपने ताऊ जुगलकिशोरजी के साथ रह रहे थे। चन्द्रकला की शादी तय हो चुकी थी, उसे भी कलकत्ता ताईजी के पास भेज दिया गया। वैसे भी जहां तक घर के बच्चों की पूरी देखरेख का सवाल है बिड़ला परिवार में यह जिम्मेदारी बड़े बाबूजी यानी जुगलकिशोरजी की ही मानी जाती थी जो स्वयं निःसन्तान थे।

इस प्रकार बच्चों के लालन-पालन का समुचित प्रबंध होते ही जी. डी. बाबू गाँधीजी के साथ उड़ीसा की पदयात्रा पर निकल गए। वह महीने डेढ़ महीने वहीं रहे। तम्बुओं में रहते। चटाई पर सोते। खटमल इतने कि इधर आंख लगती उधर नींद खुल जाती। उस समय की मनःस्थिति में यह कठिन जीवन उन्हें बहुत भाया। कई दिन तक वैरागी से बने रहे।

जी. डी. बाबू की बहनों को ही इस बात का थोड़ा सा आभास मिल सका कि भाभी की मृत्यु ने भाईजी के मन में ऐसा घाव किया है कि कभी भी भरा नहीं जा सकेगा। वह ऊपरी तौर से कुछ नहीं कहते। मगर भाभीजी का प्रसंग छिड़ते ही उनका चेहरा कुछ अजीब सा हो जाता, मानो वह अपने भीतर की वेदना से लड़ रहे हों। जयदेवीजी का ख्याल है कि उनके भाईजी ने भाभीजी की मृत्यु के बाद अपने को फौरन तमाम तरह की योजनाओं में उलझा कर स्वयं को अपनी ही पीड़ा से छिपाये रखा। कर्मठता ने मानो उनके लिए कवच का काम किया। सार्वजनिक जीवन उनके लिए मानो निजी गम को गलत करने वाला नशा बन गया। जब तक गाँधीजी जिंदा रहे तब तक उन्होंने अपने को उनके साथ इतना एकाकार किये रखा कि अकेलापन महसूस नहीं हो पाया। गाँधीजी के उठने के बाद ही लोग जान सके कि 32 वर्ष की उम्र में विधुर हुए इस व्यक्ति के भीतर कितना अकेलापन रहा है।

उड़ीसा से लौटे तो दंगों में उलझे। 1926 में कलकत्ता में जो दंगे हुए उनसे जी. डी. बाबू को बहुत दुख पहुंचा। अपने प्राणों को हथेली पर रखकर वह लोगों के प्राण बचाने में लग गए। दंगाग्रस्त क्षेत्रों से लोगों को बचा-बचाकर लाना उनका रोज का काम बन गया। इस दंगे के बाद महात्मा गाँधी कलकत्ता आये और बिड़ला पार्क में ही ठहरे। गाँधीजी का घनश्यामदासजी के घर आने और ठहरने का क्रम शुरू हुआ।

1926 भी देखते-देखते बीत गया। नये वर्ष में जी. डी. बाबू ने एक नयी योजना बनाई विदेश यात्रा करने की। तत्कालीन वैश्य समाज विलायत जाने को कुछ वैसा ही समझता था जैसा कि नरक जाने को। उसने इस योजना का बहुत विरोध किया। जी. डी. बाबू अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। गाँधीजी ने उन्हें अपने आशीर्वाद भेजे और विलायत में क्या करना चाहिए क्या नहीं, इस बारे में लम्बी-चौड़ी हिदायतें भी। लोगों ने बलदेवदासजी से कहा कि अपने लड़के को विलायत जाने से रोकिये, नहीं तो व्यर्थ ही माहेश्वरी समाज में आपके खिलाफ फिर तूफान उठेगा। उन्होंने कहा कि लड़का बड़ा है और उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। मैं उससे ऐसी कोई बात कहूं क्यों जिसमें उसकी ओर से 'न' हो सकने की गुंजाइश हो। वह मेरी बात न माने तो मेरा पद छोटा हो जाए। उसे विलायत जाने में भले ही कोई परेशानी न हो मुझे अपना पद जाने में बड़ी परेशानी है।

जी. डी. बाबू भारतीय पुनर्जागरण के अन्य प्रवक्ताओं की तरह शुरू से ही यह मानते थे कि आज की दुनिया में आगे बढ़ने के लिए भारत को अपनी सांस्कृतिक जमीन पर कायम रहते हुए भी पश्चिम की तमाम अच्छी-अच्छी चीजें अपनानी होंगी। इस विदेश यात्रा में पश्चिम की आर्थिक-औद्योगिक प्रगति का परिचय पाकर उनकी यह धारणा और भी पुष्ट हुई। यूरोप और अमेरिका की यात्रा करते हुए उन्होंने हर चीज को इस दृष्टि से देखा, ''इसमें ऐसा क्या है जिसे हम भारतीयों को तुरन्त अपनाना चाहिये और ऐसा क्या है जिसके विषय में सतत सावधान रहना चाहिए।'' विदेश यात्रा के अपने अनुभवों को उन्होंने लिपिबद्ध भी किया और आगे चलकर पुस्तकाकार छपवाया।

कलकत्ता में व्यापार के सिलसिले में जी. डी. बाबू गोरों के सम्पर्क में आ चुके थे और उनसे अपने मेलजोल के कारण तथा पुस्तक-पत्रिकाओं के अध्ययन के कारण पश्चिम के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानते भी थे। लेकिन परोक्ष रूप से जानना एक बात है, प्रत्यक्ष रूप से देखना दूसरी। फिर यह भी था कि जिन साहब

लोगों को वह भारतवर्ष में जानते थे वे भारतीयों से एक सीमा तक ही खुलते थे। उसके आगे पर्दादारी रहती थी। इस पहली विदेश यात्रा के दौरान जहाज से ही वह पर्दादारी खत्म हो गयी और जी. डी. बाबू ने गोरों को अपने असली रूप में देखा-समझा।

पश्चिम और पश्चिमी लोगों से इस सम्पर्क के दौरान 33 वर्षीय जी. डी. बाबू के मन में कई स्तर की और कई प्रकार की प्रतिक्रियायें हुईं। एक तो वह स्तर था जिसमें पश्चिम के लोग भोगवादी इसलिए भ्रष्ट प्रतीत होते हैं। एक वह स्तर था जिस पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि भाई इन गोरों ने इतनी सम्पन्नता अर्जित की है कि भोग कर सकें। इनमें कुछ ऐसे हैं कि दुनिया भर पर राज कर रहे हैं और दुनिया भर का माल खुद उड़ा रहे हैं। जहां तक धर्म है वहीं जय है—ऐसा प्राचीन भारतीय मनुष्यों ने कहा है तो क्या गोरों की विजय होने से यह माना जाए कि धर्म इनके साथ है?

जी. डी. बाबू के शब्दों में, "बार-बार मुझे यह विचार आने लगा कि या तो मैं जो देख रहा हूं वह सत्य नहीं है, या **'यतो धर्मस्ततो जयः'** सत्य नहीं है। या हम दुखी और ये सुखी नहीं, अथवा इनका पाप, पाप नहीं और हमारा धर्म, धर्म नहीं। मैं हठात् इस निर्णय पर पहुंच सकता था कि यह जाति तो मृत्युलोक में नरक ला रही है। शीघ्र ही पृथ्वी इनके पापों के बोझ से दबकर देवताओं सहित किसी कन्दरा में जा छिपेगी और वहां आकाशवाणी द्वारा श्री विष्णु भगवान पृथ्वी सहित ऋषि-मुनि और देवताओं को आश्वासन देने जाएंगे कि 'हे पृथ्वी! चिन्ता न कर, मैं शीघ्र ही काशी नगरी में अमुक ब्राह्मण के घर जन्म धारण करके तेरे भार को हलका करूँगा। जा, तेरा कल्याण हो। और हे देवताओ, तुम भी काशीपुरी में जाकर नाना रूप-देह धारण करो और मेरे सहवास में रहकर धर्मस्थापन करने में सहायक बनकर कल्याण को प्राप्त होओ।'

"किन्तु मैं इस निर्णय पर कैसे पहुँचता? जर्मन-युद्ध में इन्हीं शिक्षा-विहीन महिलाओं ने अपने ऐहिक सुखों को लात मारकर किस शौर्य और अदम्य उत्साह के साथ अपने देशी सैनिकों की सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाया था, इस घटना को क्या कोई भूल सकता है? इतना ऐशो-आराम होते हुए भी आंग्ल-जाति मौका पड़ने पर देश और जाति की मर्यादा के लिए किस प्रकार अपना सर्वस्व निछावर कर सकती है, इससे मैं भली-भाँति परिचित था। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए अमीर-गरीब सब किस प्रकार मर-मिटने को तैयार हैं, इसका मुझे पूरा ज्ञान था। जहाँ भोग की लालसा और विषय-सुख की तृष्णा की इनमें अधिकता थी, वहाँ

शौर्य, उत्साह, धैर्य, सच्चाई हम लोगों से कहीं अधिक इनमें देखने में आयी। इसके विपरीत हम तो आज पूरे कायर बन गये हैं।"

जी. डी. बाबू यथार्थवादी होने के नाते इस सच्चाई को नजरअन्दाज नहीं कर सकते थे कि भारतीय समाज बहुत कुरीतियों से ग्रस्त है और भारतीय मानस तेजहीन हो गया है। उनके ही शब्दों में, "हम बलवान की चापलूसी करते हैं, गरीब पर जुल्म करते हैं। अपनी स्त्रियों की रक्षा और देश, जाति, धर्म के प्रति अत्याचारों का सामना करने की असमर्थता को हम 'क्षमा' का सुन्दर नाम देकर फूले नहीं समाते। अपनी अकर्मण्यता एवं आलस्य का परिचय **'जो प्रभु किन्हीं सो भला कर मान्यो, यह सुमति साधु से पाई'** नानकजी का यह सुन्दर पद गाकर देते हैं। जब अपनी कायरता को ढकना चाहते हैं तो **'नहिं कोई बैरी नहिं बेगाना, सकल संग हमरी बन आयी'** यह कहकर संसार को धोखा देते हैं। हमारा अपरिग्रह 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की तरह रह गया है। इस हालत में मैं कैसे निर्णय कर लेता कि हम धर्म की वृद्धि कर रहे हैं और श्वेतांग लोग पाप की?" जी. डी. बाबू ने **"शत्रोऽपि गुण वाच्या, दोषा वाच्या गुरोऽपि'**—शत्रु के भी गुणों को कहना चाहिए और गुरुजनों के भी दोष को कहना चाहिए—इस नीति का अनुसरण किया।

पश्चिम से अपने पहले साक्षात्कार के अवसर पर पश्चिम की प्रगति और भारत की दुर्गति का विचार करते हुए जी. डी. बाबू के मन में यह सवाल उठा कि भारत के प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने समाज के सामने जो आदर्श रखा, क्या उसमें ही ऐसा खोट था जिसने हमें निकम्मा बना दिया? इस सवाल के जवाब में एक और सवाल मन में उठा कि अगर हमारे ऋषियों—मुनियों का वह आदर्श वास्तव में निकम्मा बनानेवाला होता तो आखिर भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र कैसे बना? सोने की चिड़िया क्यों कहलाया? इन दो प्रश्नों की टकराहट से कौंधी बिजली में युक्तियुक्त समाधान सूझ गया, "इतिहास-पुराणों का कोई भी पन्ना उलटकर देखें तो कोई ऐसा समय नहीं मिलेगा कि जब भारत के सारे-के-सारे राष्ट्र ने अहिंसा या संतोष को राष्ट्र-धर्म माना या अपनाया हो। इस हालत में इन उच्चादर्शों को कोसना और हमारे अधःपतन का कारण मानना, गलत निदान है। असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े हैं। हम अपनी अकर्मण्यता को संतोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, ब्राह्मणोपचारी रूढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शान्ति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं। और इसी में अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में हम तमोगुण में डूबे पड़े हैं और पाश्चात्य लोग रजोगुण में गोता खाते हैं। सतोगुण को न हम पा सके हैं, न पाश्चात्य लोग।"

वैष्णव मारवाड़ी जी. डी. बाबू को जहां गोरी जाति का अपनी बुद्धि, कौशल और कर्मठता से अधिकाधिक सम्पन्नता अर्जित करना नितांत प्रभावप्रद लगा वहीं उनका भोगरत रहना नैतिक दृष्टि से संदिग्ध ही मालूम हुआ—"सुबह 9 बजे उठे कि नाश्ता किया, दौड़े आफिस में, वहां काम नहीं करना है, केवल हिसाब लगाना है कि आज कितने रुपये आ गये। एक बजे लंच, फिर वही आफिस। सात बजे भोजन, साढ़े आठ बजे नाटक, साढ़े ग्यारह बजे ब्यालू, फिर नाच, 2 बजे शयन। यह साधारण दिन और रात्रि चर्या है। शराब, धुआं, चाकलेट, चाय इसका जिक्र फिजूल है। लोगों में दिमाग है, मगर रात-दिन उससे यही काम लिया जाता है कि कैसे किसी को खा जायें? दया है, सहृदयता है, किन्तु वातावरण से दूषित है। लोग निरे राक्षस नहीं हैं, किन्तु वातावरण के कारण उन्होंने सिद्धांतों में और जीवन में अंतर बना रखा है। लोग सर्वनाश की ओर जा रहे हैं, ऐसा इन्हें पता भी नहीं है। यदि इनकी भोग-पिपासा मिट जाये तो बाकी साधना रह जाती है। एक अजीब मिश्रण है, जो मनन करने योग्य है।"

कुल मिलाकर जी. डी. बाबू ने यह पाया कि भारतीयों को राष्ट्रीयता, देशभक्ति, प्रजातंत्र, सेवाभावना, नागरिकता और सार्वजनिक कर्तव्यबोध इन बातों को गोरों से सीखना चाहिए। लेकिन उनके भोगवाद से, उनकी भौतिकता से अपने को मुक्त रखना चाहिए।

एक साधारण सैलानी की हैसियत से भी जी. डी. बाबू ने इस यात्रा में बहुत कुछ देखा और इस बारे में उन्होंने टिप्पणी भी की। महलों, गिरजाघरों से लेकर खेतों-बगीचों तक ऐसी कोई चीज नहीं थी जिन पर उनका ध्यान न गया और जिनके बारे में उन्होंने मित्रों और परिवार वालों को नहीं लिखा। लन्दन को उन्होंने एक बदसूरत महानगर करार दिया, "नब्बे लाख मनुष्यों से गुंजरित इस घोंसले को क्या उपमा दें? पृथ्वी फिरती है, इस पर लोगों ने संदेह किया। किंतु लन्दन फिरता है या नहीं, इसको लोग स्वयं आकर देख लें। चर्खी के घोड़े पर चढ़ने वाले लड़के की तरह जिसने लन्दन में पांव रखा नहीं कि लगा उड़ने। राह चलते मनुष्य तो मानो दौड़ते हैं। रास्तों में मोटरों का और मनुष्यों का इस तरह का तांता-सा लगा रहता है, मानो रात-दिन सड़कों से कोई जलूस गुजर रहा हो। भीड़ पहले मैंने इतनी कहीं नहीं देखी। इस पर भी हर एक चौरस्ते पर केवल एक पुलिस का जवान भीड़ को सम्भालता है। संसार की दौड़ की बाजी में हम लोग कितने पिछड़ गये हैं, यह यहां आने पर प्रत्यक्ष होता है। ऊपर से हवाई जहाज, सड़कों पर मोटर और ट्राम, सड़कों के नीचे बुगदे में रेल—एक साथ एक स्थान से दूसरे पर जाने के लिए दो-तीन रास्ते, शहर के बीच में बड़े-बड़े बगीचे, आलीशान इमारतें, साफ-सुथरी

सड़कें, धन, वुद्धि, विद्या-वल और यह सब कुछ लन्दन में है, किंतु तब भी लन्दन ने मुझे मोहित नहीं किया।"

पेरिस की दो-चार सड़कें, वहां के संग्रहालय और रंगशालायें ही उन्हें जंचीं, वाकी शहर में उन्हें कोई खास वात नहीं मालूम हुई। वर्लिन के विषय में उत्साही हुए, लिखा: "वर्लिन सबसे निराला है। सुन्दरता तो कूट-कूटकर भरी है। सड़कों पर अधिक भीड़ नहीं है, क्योंकि रास्ते अत्यन्त चौड़े और सीधे हैं। शहर में इधर-उधर घूमने के लिए जमीन के भीतर की रेल, जमीन के ऊपर पुल बांध कर पुल पर चलने वाली रेल, मोटर, वस, ट्राम इत्यादि तो हैं ही, रास्ते के दोनों तरफ गाड़ियां चलती हैं, वीच में सड़क के किनारों पर राहगीरों के लिए फुटपाथ बने हैं। वीच का फुटपाथ भी एक अलग सड़क समझिये जिसके दोनों ओर वृक्ष लगे हैं। मकान सब सुन्दर हैं। रास्ते इतने साफ हैं कि कलकत्ते के चौरंगी से बढ़कर नहीं तो समान जरूर हैं। चौराहों पर भीड़ को सम्भालने के लिए पुलिस नहीं खड़ी होती, लाल-हरी वत्ती दिखाकर भीड़ को सम्भालते हैं।"

इस दौरे में दुस्साहसी जी. डी. बाबू ने नयी-नयी चली हुई जनेवा-लन्दन विमान सेवा का भी उपयोग किया। 800 मील की यह यात्रा आठ घण्टे में पूरी हुई—शोर और धचकोलों से सभी यात्री बहुत परेशान हुए। मगर जी. डी. वावू ने इसका भी आनन्द लिया—"यह नया अनुभव था। नये-नये दृश्य देखने की लालसा थी, इसलिए हमारी मण्डली में अदम्य उत्साह था। किन्तु यह उत्साह अधिक देर तक न ठहर पाया। आकाश में बीस मिनट भी न रहने पाये थे कि सब को चक्कर आने लगे। हमारे एक-दो साथियों ने कै कर के विमान को भी दूषित कर दिया। मुझे भी जरा-जरा चक्कर आ रहे थे, किन्तु राम-राम करके किसी तरह लन्दन पहुंचे। साथियों को परेशानी इतनी हुई कि लन्दन पहुंचने पर किसी ने भोजन तक न किया। कानों के घौंघाट ने तो 12 घण्टे पीछे तक दिमाग को बेकार बनाये रखा।"

1927 की इस यात्रा के साथ जी. डी. बाबू के विदेश भ्रमण का ऐसा क्रम शुरू हुआ कि लगभग अनवरत चलता रहा। साल में दो-तीन मर्तवा विदेश हो आना उनके लिए मामूली-सी वात वन चली। विदेश के अनेक प्रमुख उद्योगपतियों, राजनीतिक नेताओं, चिन्तकों और विद्वानों से उनका सीधा सम्पर्क वन गया। इन सम्पर्कों से उन्होंने देश का और स्वदेशी उद्यम का हित साधा।

इस लन्दन प्रवास में जी. डी. वावू की लाला लाजपतराय से भेंट हुई। लालाजी का विड़ला परिवार से पुराना सम्पर्क था। उन्होंने ही जी. डी. वावू के

जुगलकिशोर भाईजी को अछूतोद्धार के लिए प्रेरित किया था। लालाजी की यह इच्छा थी कि घनश्यामदास देश के राजनीतिक जीवन में और ज्यादा हिस्सा लें। यहां भी उन्होंने घनश्यामदास को यही समझाया कि तुम्हें उत्तर भारत के हिन्दुओं का नेतृत्व करना चाहिए। मुझे एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत है जो अपने सहयोगियों का और आम जनता का प्यार पा सके, विश्वास जीत सके। तुम्हारे सिवाय मुझे कोई ऐसा व्यक्ति दिखता नहीं है। तुमसे मुझे बड़ी-बड़ी आशाएं हैं। मैं चाहता हूं कि तुम उन गुणों का विकास करो जो नेतृत्व के लिए आवश्यक हैं और उन अवगुणों से मुक्ति पाओ जो नेतृत्व में बाधक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए तुम बहुत मुंहफट हो। नेता को वाणी पर नियंत्रण रखना होता है।

लाला लाजपतराय ने बार-बार जी. डी. बाबू से यह कहा कि मैं तुम्हें और जयकर को अखिल भारत मंच पर प्रतिष्ठित देखना चाहता हूं। उन्होंने कहा कि तुम जब यूरोप से लौटो तो मैं लाहौर और अमृतसर में तुम्हारे भाषण कराना चाहूंगा। सार्वजनिक सभाओं में बोलो और आगे चलकर जनसमुदाय का नेतृत्व ग्रहण करो।

इधर गाँधीजी भी अपने शिष्य घनश्यामदास को बराबर पत्र भेज रहे थे कि लन्दन में उसे किससे मिलना चाहिए, क्या कुछ देखना और करना चाहिए। गाँधीजी के निर्देशानुसार जी. डी. बाबू ने ब्रिटेन में अच्छे राजनीतिक सम्पर्क बनाये और गोरों के शासन-समाज को नजदीक से देखा और समझा।

पहली विदेश यात्रा से लौटने पर फिर वही बहिष्कार वाला चक्कर चला लेकिन इस बार बहुत जोर पकड़ नहीं पाया। जो मुट्ठी भर पुरातनपन्थी थे वे इस बीच अकेले पड़ चुके थे और मारवाड़ी समाज का नेतृत्व एक प्रकार से जी. डी. बाबू के हाथ में आ चुका था। इस विदेश यात्रा के तुरन्त बाद ही जी. डी. बाबू अपने एक राजनीतिक गुरु मालवीयजी के आग्रह पर पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर-आजमगढ़ क्षेत्र से केन्द्रीय धारा सभा के लिए स्वराज्य पार्टी के एक गुट की ओर से चुनाव लड़े। जी. डी. बाबू के दूसरे राजनीतिक गुरु उनके चुनाव लड़ने के सर्वथा विरुद्ध थे लेकिन उन्होंने अन्तिम फैसला जी. डी. बाबू पर ही छोड़ दिया था। इस चुनाव में उन्होंने अपने कांग्रेसी प्रतिद्वंद्वी श्रीयुत् श्रीप्रकाश को हरा दिया। श्रीयुत् श्रीप्रकाश स्वयं विद्वान थे और बलदेवदासजी के मित्र तथा काशी के सर्वसम्मान्य विद्वान डा. भगवानदास के सुपुत्र थे। जी. डी. बाबू जिस भी चुनाव सभा में बोले उसमें उन्होंने अपनी बात ही श्रीप्रकाशजी और भगवानदासजी की प्रशंसा से शुरू की। उन्होंने कहा, "श्रीप्रकाशजी तो बहुत ही योग्य व्यक्ति हैं,

विद्वान व्यक्ति हैं और सज्जन व्यक्ति हैं। मेरा उनसे किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है। मैं यहां उनके खिलाफ खड़ा हुआ हूं तो मालवीयजी की तरफ से। मालवीयजी भी इनके और इनके नेताओं के खिलाफ हैं तो इसलिए कि मालवीयजी समझते हैं कि सोच-समझकर समुचित सहयोग दिया जाना चाहिए अंग्रेज शासन को, जबकि ये समझते हैं कि पूरा असहयोग होना चाहिए। जिन्हें असहयोग करना हो वे असेम्बली में क्यों जायें? आपको दो सिद्धान्तों में से चुनना है जिसे आप चुनें उसके प्रतिनिधि को वोट दें।"

शीघ्र ही जी. डी. बाबू बीमार पड़ गये। लाला लाजपतराय के निर्देशानुसार असेम्बली में गरजने अथवा सार्वजनिक सभाओं मे बरसने की बातें भूल कर उन्हें स्वास्थ्य लाभ के लिए पिलानी चले जाना पड़ा। यहीं से गाँधीजी और अन्य नेताओं से पत्र-व्यवहार करके राजनीति से अपना सम्पर्क उन्होंने बनाए रखा। उन दिनों असहयोग आंदोलन फिर से शुरू करने की बात चल रही थी। जी. डी. बाबू ने इसका पक्ष लिया और साथ ही चेतावनी भी दी कि उचित निर्देशन, नियंत्रण के अभाव में यह व्यर्थता को प्राप्त हो सकता है। गाँधीजी के निर्देश पर जी. डी. बाबू ने जामिया मिलिया इस्लामिया जैसी कई संस्थाओं के लिए अनुदान भी दिया। अपनी बीमारी के बारे में भी गाँधीजी से उनका पत्र-व्यवहार हुआ। गाँधीजी ने उन्हें प्राकृतिक चिकित्सा की ओर प्रेरित किया।

चिकित्सा के प्रति जी. डी. बाबू के मन में आरम्भ से ही बहुत अनुराग था। अपनी दोनों पत्नियों की बीमारी और इलाज क्रम में उनकी यह दिलचस्पी और भी बढ़ी। जिस समय वह वारण्ट से बचने के लिए पुष्कर में जा छिपे थे, उस समय अस्वस्थ होने पर उन्होंने एलोपैथी यानी आधुनिक दवाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। एलोपैथी को लेकर उनका अपने पिता से मतभेद भी हुआ था। बाद में वह आयुर्वेद की ओर झुके। राधाकिशनजी कानोडिया बताते हैं कि 1923 के आस-पास जब वह राजस्थान आये थे तब वह गांव के लोगों को आयुर्वेदिक औषधियां बांटा करते थे। गाँधीजी के सम्पर्क से प्राकृतिक चिकित्सा में उनकी आस्था बढ़ी, आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान भी वह बराबर अर्जित करते रहे। मंसूरी के डाक्टर जादोराम गोयल,जो एलोपैथी में दीक्षित होम्योपैथ हैं, बताते हैं कि जी. डी. बाबू अपने या परिवार वालों के लिए कोई डाक्टर नियुक्त करने से पहले उसकी डाक्टरी परीक्षा स्वयं ले डालते थे। मंसूरी में मुझसे पहली मुलाकात में उन्होंने एक रोग के कुछ लक्षण बताकर निदान मांगा। मैंने जो निदान दिया वह कलकत्ता के प्रमुख विशेषज्ञ के निदान से भिन्न था मगर हार्ले स्ट्रीट के प्रमुख विशेषज्ञ से मिलता था। इस आधार पर ही शायद उन्होंने मुझे अपने परिवार का होम्योपैथ बनाया।

इस बीमारी के बाद जी. डी. बाबू न केवल अपने बल्कि दूसरों के भी स्थायी डाक्टर बन गये। उनके प्रथम सचिव बी. एल. पुरोहित बताते हैं कि एक बार जब मैं दिल्ली में बीमार पड़ा तब जी. डी. बाबू कलकत्ता में थे। रोजाना वह इलाज और दवा-दारू के बारे में पूछते। ठीक होने के बाद भी वह मेरा बहुत अर्से तक इलाज करते रहे। बताते रहे क्या पथ्य है क्या अपथ्य। किस खुराक में कितनी कैलोरी है यह वह फौरन बता देते।

रोग और उपचार के बारे में जी. डी. बाबू का ज्ञान इतना विस्तृत था और उसे प्रदर्शित करने में उन्हें इतना कम संकोच था कि उनके मित्र डाक्टर बिधानचन्द्र राय उन्हें डाक्टर बिड़ला कह कर पुकारा करते थे।

राजनीतिक क्षेत्र में अगला वर्ष साइमन कमीशन के आगमन के कारण कुख्यात बना। सर जौन साइमन के नेतृत्व में यह आयोग इस बात का विचार करने आया था कि भारत में संसदीय लोकतंत्र का किस हद तक विचार किया जा सकता है। यह एक विचित्र विडम्बना थी कि भारत के बारे में इतना महत्त्वपूर्ण निर्णय करने आये हुए इस आयोग में एक भी भारतीय सदस्य नहीं रखा गया था। इसलिए सारे देश में 'साइमन कमीशन वापस जाओ' के नारे लगने लगे। साइमन कमीशन विरोधी एक प्रदर्शन में जी. डी. बाबू के राजनीतिक संरक्षक लाला लाजपतराय पर पुलिस ने इस बेरहमी से डंडे बरसाये कि अन्दरूनी चोटों के कारण बाद में उनकी मृत्यु हो गयी। इससे जी. डी. बाबू को गहन आघात पहुंचा।

देश के राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता-संग्राम से जुड़ जाने पर जी. डी. बाबू ने पत्रकारिता के महत्त्व को पहचाना। कलकत्ता आने के बाद से ही वह छोटी-मोटी पत्र-पत्रिकाएं निकालने में मदद देते आये थे। अब उन्होंने देश के वरिष्ठ नेताओं को दैनिक समाचार-पत्र निकालने में सहायता देने का क्रम शुरू किया। राजधानी दिल्ली से 1924 में शुरू किये गये दैनिक पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स को उन्होंने कांग्रेस की रीति-नीति के प्रचार-प्रसार के लिए 1927 में खरीद लिया। महामना पंडित मदनमोहन मालवीय हिन्दुस्तान टाइम्स के पहले चेयरमैन बने। पारसनाथसिंहजी, जो कभी लक्ष्मीनिवास आदि पुत्रों के लिए ट्यूटर नियुक्त किये गये थे और बाद में जी. डी. बाबू के निजी सलाहकार की हैसियत से काम करते रहे थे, हिन्दुस्तान टाइम्स के पहले प्रबन्ध सम्पादक बनाये गये। आगे चलकर गाँधीजी के सुपुत्र देवदास गाँधी को यह पद दिया गया और पारसनाथ बाबू मैनेजिंग डायरेक्टर बना दिये गये। इसी प्रकार बिहार की राजधानी पटना से देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद और सच्चिदानन्द सिन्हा जैसे नेताओं को 'सर्च लाइट'

निकालने में जी. डी. वावू ने सहायता दी। इलाहाबाद से महामना मालवीयजी ने 'लीडर' भी विड़लाओं के सहयोग से ही निकाला।

अव जी. डी. वावू के सामने प्रश्न था पारिवारिक जिम्मेदारियों को पूरा करने का। 1927 में वसन्तपंचमी के शुभ दिन लक्ष्मीनिवास का विवाह किशनगढ़ में हुआ। अपने वड़े वेटे का विवाह तय करने में जी. डी. बाबू की कोई विशेष भूमिका नहीं रही और लड़की देखने भी वह नहीं गये। लक्ष्मीनिवास के श्वसुर किशनगढ़ के दीवान साहव थे। इसलिए यह विवाह पूरे राजसी ठाठ-वाट और धूमधाम से हुआ। जयपुर महाराजा द्वारा 'सोने की ताजीम' से विभूषित राजा वलदेवदासजी के पोते की वारात थी और अपने दीवान साहब की लाड़ली बेटी सुशीला का विवाह था, इसलिए किशनगढ़ के महाराजा साहब ने इस आयोजन में वहुत उत्साह से हिस्सा लिया। वलदेवदासजी अपने पोते की बारात में पधारे थे। उनके स्वागत के लिए किशनगढ़ के महाराजा साहब ने दरवार किया। अव तक के विड़ला परिवार के विवाहों में यह सबसे अधिक शानदार रहा। वर्षों तक लोग इसकी चर्चा ही करते रहे। कितनी तो बड़ी जनेत (बारात) गयी थी। जनेत को कैसे वढ़िया महल में ठहराया गया था। जनेत की सरबरा (सेवा-सत्कार) का कितना उत्तम प्रवन्ध था। जनवासे से लेकर विवाह मण्डप तक सारा रास्ता कितनी खूवसूरती से सजाया गया था। इन सब बातों की बाराती बाद में प्रसन्नता से जुगाली करते रहे। विजली उन दिनों नयी-नयी सी चीज थी। बम्बई कलकत्ता रह चुका विड़ला परिवार इससे अपरिचित न था लेकिन किशनगढ़ वालों ने इस विवाह के मौके पर लड़की के घर पर और वारात के रास्ते पर विजली के लट्टूओं की जो वन्दनवार वांधी थी वह उनके लिए भी नयी सी चीज थी। उस जमाने में सम्पन्न लोगों में भी सवारी के नाम पर हद-से-हद रथ-ऊंट ही दहेज में दिया जाता था, लेकिन किशनगढ़ के दीवान साहव ने अपने जवाई लक्ष्मीनिवास को हाथी भेंट किया, जो वर्षों तक पिलानी में चर्चा और गर्व का विषय बना रहा।

दूसरी जिम्मेदारी थी चन्द्रकला का विवाह। उसका रिश्ता जलपाईगुड़ी के डागा परिवार के सुपुत्र वंसीधर से तय हो चुका था। इस विवाह के ठहरने का प्रसंग भी वहुत मजेदार है। हुआ यह कि दार्जिलिग से लौटते हुए ब्रजमोहनजी विड़ला को अपने डिव्वे में एक वहुत ही सज्जन सहयात्री मिले। वातों ही वातों में पता चला कि उनके विवाह-योग्य वेटा है। इधर विवाह योग्य बेटी थी। तो वात वन गयी।

चन्द्रकला का विवाह 'विड़ला पार्क' कलकत्ता से 21 अगस्त, 1931 को आखातीज के दिन हुआ। इस अवसर पर वेटी को स्वाभाविक रूप से अपनी मां की

बहुत याद आयी। जी. डी बाबू ने उसे ढाढस बंधाया और बार-बार यह कहा कि मां को याद करना अच्छा है मगर मां की याद में रोते रहना ठीक नहीं है। अगर मां को याद करती हो तो मां की जैसी बनो भी, वह तो बहुत बहादुर औरत थी। तुम्हें सोचना चाहिए कि आज वह जिन्दा होती तो उसे तुम्हारा विवाह होता देख कितनी खुशी होती! वह आज नहीं है तो उसकी जगह में तुम्हारी काकी है, मामी है, सभी हैं, सभी तुमसे प्रेम करती हैं। सभी तुम्हारा अच्छा रिश्ता होते देख कर प्रसन्न हैं। तुम इस खुशी पर ध्यान दो, पुराने दुख पर नहीं।

विदाई के क्षण पिता ने पुत्री से कहा, "रोओ मत, खुशी-खुशी अपने नये घर जाओ। अपनी मां का यश फैलाओ अपने ससुराल में। अपने नये परिवार की सेवा करो। अब मैं ही तुम्हारी मां की जगह हूं। जब जो कहना-लिखना हो मुझे बिना संकोच कहो-लिखो। यह मत सोचो कि तुम्हारा दुख-सुख सुनने के लिए काकोजी के पास फुर्सत नहीं है।"

चन्द्रकला बाई आज भी यह याद करके विह्वल हो जाती हैं कि काकोजी ने इस विवाह के अवसर पर और इसके बाद अपने पत्रों में बराबर मुझे वैसी ही सीख दी जैसी कि कोई मां अपनी विवाहिता बेटी को देती है। उन्होंने सचमुच मेरे सन्दर्भ में तो मां की भी जगह ले ली।

उस जमाने का चन्द्रकलाबाई को लिखा गया एक पत्र बहुत ही सार्थक है:

"यह पत्र तुम्हारे सन्तोष के लिए लिख रहा हूँ। कल रात को तुमने काफी कमजोरी दिखायी। आखिर तो तुम्हें अपने नये घर से ही नाता जोड़ना है। इसलिए अब तुम्हें अपने कर्त्तव्य-पालन में कटिबद्ध होना चाहिए। अधैर्य ठीक नहीं। तुमको मैंने थोड़ा-सा पढ़ा-लिखा दिया है। अच्छा लड़का तुम्हारे लिए ढूँढ दिया है। अब तुम प्रसन्न रहे, फलो-फूलो, और मेरा और तुम्हारी मां का यश फैलाओ। इसके सिवाय मैं क्या चाह सकता हूँ! ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे। तुम्हारे मन को धर्म में लगावे, यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

"अब तुम वहाँ रहो इतने दिन अपने कर्त्तव्य-पालन का ध्यान रखना। सेवा, संयम, त्याग इन तीन बातों को जितना अपने सामने रखोगी उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हारी सासू-सुसरे एवं तुम्हारी देवरानी-जिठानी इत्यादि का खूब परिचय कर लेना और उनका प्रेम सम्पादन भी करना। और सबसे अधिक तो जिस पुरुष के साथ तुम्हें जीवन व्यतीत करना है उसके प्रेम सम्पादन करने की तो

कोशिश करना ही है और तुम कर ही रही होगी।

"पत्नी पति की सहचारिणी है और पति के धर्म की रक्षक भी है। ऐसी घटना मैंने देखी है जहाँ पत्नी ने पति को सीधे रास्ते पर रखा है। बंसी भला लड़का है। तुम्हारे दोनों का परस्पर शुद्ध प्रेम तुम्हारे धर्म की वृद्धि करेगा। शुद्ध प्रेम के मायने हैं निस्वार्थ प्रेम। विषय-वासना का प्रेम नहीं।

"तुम्हारे विलायत जाने की वात अभी मेरे दिमाग में नहीं आयी है। अच्छा तो यह हो कि तुम दोनों जने अभी दो साल ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करो। किन्तु इसमें तो तुम लोगों की राय को ही मैं अधिक वजन दूँगा। प्रसन्न रहना। प्रार्थना नियमित करना। तुम्हारा...काकोजी।"

जी. डी. वाबू भले ही परीक्षाओं और डिग्रियों में विशेष आस्था न रखते हों, विद्या के प्रचार-प्रसार के प्रति बहुत उत्साही थे। पिलानी में उनके प्रयासों से 1922 में मिडिल स्कूल और 1925 में हाईस्कूल खुला। तीन साल बाद इण्टर कालेज हो गया। फिर 1929 में जी. डी. वाबू ने अपने पिता का आशीर्वाद लेकर बिड़ला एजूकेशन ट्रस्ट पिलानी स्थापित किया, जिसकी गणना देश में इस ढंग की सबसे बड़ी गैर-सरकारी संस्थाओं में होती है। इस ट्रस्ट ने पूरे उत्साह से काम किया और बड़वाली पिलानी को सात ही साल में कालेजवाली पिलानी बना दिया। पिलानी के शिक्षा-संस्थानों पर जी. डी. वाबू की इस धारणा का गहरा प्रभाव पड़ा कि शिक्षा मात्र किताबी न होकर नैतिक और व्यावसायिक भी होनी चाहिए, ताकि पढ़ा-लिखा व्यक्ति संस्कार और रोजगार दोनों का धनी बने। जी. डी. बाबू जिस हद तक महात्मा गाँधी के स्वाधीनता-संग्राम में जुड़े हुए थे उस हद तक पिलानी का यह विद्या-विहार गाँधीवादी और राष्ट्रीय रंग में भी रंगा।

पिलानी का नक्शा तेजी से बदलने लगा। जी. डी. बाबू ने चाहा कि काकोजी एक वार खुद अपनी आंखों से देखें कि वहां बिड़लाओं की जन्मभूमि में कितना परिवर्तन हुआ है, लेकिन वीतरागी राजा बलदेवदास ने कहा कि मेरे लिए अब देखने को काशी से बढ़िया और कोई जगह नहीं है। लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूं कि तुमने जो कदम बढ़ाया है सो सही दिशा में बढ़ाया है।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का एक आयाम सांस्कृतिक भी था। सरस्वती के साधक अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी तरह से राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतिष्ठा में जुटे हुए थे। अपने पितामह और पिता की तरह जी. डी. बाबू भी वहियों से भिन्न पोथियां बांचने में विश्वास रखने वाले 'बामणी' बनिये थे। इसलिए इस राष्ट्रवादी

सारस्वत समुदाय से उनका सम्पर्क बनना अनिवार्य था। इनमें कई की उन्होंने सहायता की। सहायता देने के मामले में व्यक्तिगत परिचय-अपरिचय का अथवा विचार-साम्य का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं था। युवा भौतिकवादी चंद्रशेखर वेंकटरमण ने जब तीसरे दशक के आरम्भ में उन्हें लिखा कि मैं कुछ महत्वपूर्ण प्रयोग कर रहा हूं जिनकी सफलता के लिए इंग्लैंड से बीसेक हजार रुपये के कुछ उपकरण मंगाना जरूरी है तब जी. डी. बाबू ने तुरन्त बीस हजार का चैक बनाकर भेजा कि आपकी सफलता में यह काम आ सके तो मेरा अहोभाग्य। जब 1930 में रमण को भौतिक शास्त्र का नोबेल पुरस्कार मिला तब उन्होंने सार्वजनिक रूप से जी. डी. बाबू के प्रति आभार व्यक्त किया और यह बात लोगों के सामने आयी। स्वयं तो जी. डी. बाबू गुप्तदान विश्वासी थे। बता कर देना और देने की बात का ढिंढोरा पीटना, उनकी दृष्टि में 'दान के पुण्य को पाप में बदलो' वाले काम थे।

जहां युवा वैज्ञानिक रमण के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि सुपात्र से अपरिचय ने जी. डी. बाबू के दानी हाथ को नहीं रोका वहां युवा पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी का अनुभव यह दर्शाता है कि सुपात्र के वैचारिक विरोध ने भी उस पर अंकुश नहीं लगाया। जब 1929 में बनारसीदासजी ने जी. डी. बाबू से भेंटवार्ता के लिए समय मांगा तब साथ ही यह भी लिख दिया कि मैं आपसे आर्थिक सहायता लेने के लिए यह नाटक नहीं कर रहा हूं। जी. डी. बाबू ने इस उक्ति का बुरा नहीं माना। बनारसीदासजी को इण्टरव्यू के लिए आधा घण्टा समय दिया। उन्होंने स्वयं आर्थिक सहायता वाला प्रसंग नहीं उठाया। बनारसीदासजी ने अलबत्ता उसे स्पष्ट करना आवश्यक समझा और कहा कि हम पत्रकारों के लिए आप खतरनाक जीव हैं क्योंकि आप रिश्वत देकर हमारा विवेक खरीद सकते हैं। बनारसीदासजी ने उन पत्र—पत्रिकाओं के नाम भी गिनाये जो उनके अनुसार जी. डी. बाबू के हाथ बिकी हुई थीं। जी. डी. बाबू मुस्कराकर बोले, "मैं तो पत्र-पत्रिकाओं की थोड़ी-बहुत ही सेवा करता हूं उसे आप रिश्वत मानते हैं?" इसके कुछ ही महीने बाद कलकत्ते में आयोजित राष्ट्रभाषा सम्मेलन की स्वागत समिति के सचिव की हैसियत से बनारसीदासजी को जमनालालजी बजाज के साथ जी. डी. बाबू के पास इस अनुरोध के साथ जाना पड़ा कि आप सम्मेलन के कोषाध्यक्ष बनें और आर्थिक सहायता भी दें। जी. डी. बाबू इसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। जमनालालजी से इतना उन्होंने मुस्कराकर अवश्य कहा, "जरा सावधान रहें, चौबेजी मुझे खतरनाक आदमी समझते हैं।"

इतिहासकार डा. आर. सी. मजूमदार को जी डी. बाबू स्वयं नहीं जानते थे, किन्तु उन्होंने कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के साथ मिलकर यह प्रस्ताव किया

कि मजूमदार महोदय के सम्पादकत्व में 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल' (भारतीयों का इतिहास और संस्कृति) नामक ग्रन्थमाला निकलवायी जाये। इस कार्य के लिए उन्होंने विड़लाओं के कृष्णार्पण चैरिटी ट्रस्ट से पैसा दिलवाया। एक दिन वनारस के हवाई-अड्डे पर मजूमदार अपने मित्र से कह रहे थे कि यह जी. डी. विड़ला कुछ अलग किस्म के उद्योगपति मालूम होते हैं कि उन्होंने ऐसे पाण्डित्यपूर्ण कार्य के लिए अनुदान किया। मेरी दृष्टि से उनका यह काम उनकी औद्योगिक सफलताओं से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है।

प्रोफेसर मजूमदार की ये टिप्पणियाँ पास ही बैठा एक और यात्री सुन रहा था। उसने मुस्कराकर पूछा, "आप इन जी. डी. विड़ला को जानते हैं?" प्रोफेसर साहब वोले, "नहीं, वह तो वहुत बड़े आदमी हैं।" सहयात्री हँसा, "इतने बड़े तो वह नहीं, आपसे उन्मुख हैं, आप खुद देख लीजिए।" इस तरह इतिहासकार मजूमदार और अलग किस्म के उद्योगपति जी. डी. विड़ला का प्रथम परिचय हुआ, जो वाद में जी. डी. बाबू के इतिहास-प्रेम के कारण घनिष्ठता की ओर बढ़ा।

इसी दौर में जी. डी. वावू ने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती के लिए और मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़ तथा जामिया मिलिया इस्लामिया दिल्ली के लिए गाँधीजी के आदेशानुसार खुले हाथों अनुदान दिया। अन्तिम दो संस्थाओं को तो उन्होंने वताया तक नहीं कि दान देनेवाला है कौन।

जी. डी. वावू ने इस दौर में जो पत्र लिखे हैं, अपनी डायरी के जो पन्ने रँगे हैं, उनसे उनके भीतर छिपे साहित्यकार का अच्छा परिचय मिलता है। साहित्यानुरागी तो खैर वह थे ही। तो कोई आश्चर्य नहीं जो हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार में जुटी विभिन्न संस्थाओं ने इस राष्ट्रवादी उद्योगपति को अपने से सम्वद्ध किया। जी. डी. वावू ने इन सबको अनुदान दिया। मांगने वालों की ओर से मांगने में भले कमी हो जाए, उनकी ओर से देने में कोई कमी नहीं थी। इस सिलसिले में एक रोचक प्रसंग तव का है जव हजारीप्रसाद द्विवेदी बालकृष्णजी शर्मा नवीन के साथ जी. डी. वावू से काशी नागरी प्रचारणी सभा के लिए अनुदान लेने गये और मात्र पांच हजार रुपये में संतुष्ट हो गये। तव नवीनजी ने कहा कि कल्पवृक्ष के नीचे आकर वैठे और मांग लिया वैंगन, यह भला कोई वात हुई। किसी योजना का पूरा व्यय मांग लो जी. डी. वावू से। द्विवेदीजी ने मांगा, जी. डी. बावू ने मंजूर किया।

यद्यपि जी. डी. वावू लक्ष्मी के सफल साधक वनते जा रहे थे तथापि वह

अपने पिता से मिली इस धारणा पर दृढ़ थे कि सरस्वती का दर्जा लक्ष्मी से बड़ा है। वह उन वैश्यों में से थे जिन्होंने सीमित वैश्य कर्म को सदा एकांगी ठहराया। वह पैसा कमाने में जुटे हुए थे किन्तु उन्होंने ऐसे लोगों को हमेशा आधा-अधूरा और इसलिए निम्न कोटि का माना जो पैसा कमाने के अलावा कुछ नहीं जानते। कोई आश्चर्य नहीं जो इस बौद्धिक वैश्य का तत्कालीन सुहृद और रसिक समाज ने पूरे उत्साह से स्वागत किया—रवीन्द्रनाथ जैसे अग्रणी साहित्यकार व भातखण्डे जैसे अग्रणी संगीतज्ञ इस दौर में उनके निकट आये। कला और सांस्कृतिक क्षेत्र के अनेक विद्वानों और संस्थाओं को उनसे अनुदान प्राप्त होता रहा और मात्र इसी से संतुष्ट न होकर जी. डी. बाबू वैचारिक स्तर पर भी आदान-प्रदान करते रहे।

काशी

महादेवीजी के देहावसान के बाद अपने बड़े बेटे और बेटी का विवाह करा कर जी. डी. बाबू ने स्वयं को पूरी तरह से सार्वजनिक जीवन में झोंक दिया। उद्यमी-उद्योगपति, भारत के आर्थिक विकास एवं आत्मनिर्भरता के लिए समर्पित आर्थिक सेनानी, स्वतंत्रता-संग्राम के साथ अभिन्न रूप से जुड़े देश-प्रेमी एवं समाज सुधार कार्यक्रमों के अगुआ के रूप में अपनी बहुमुखी प्रतिभा को प्रकाशित करने, अपने व्यक्तित्व को निखारने के अनेक अवसर जी. डी. बाबू को इस दौर में मिले। अपने जीवन-काल में ही अपने करोड़ों देशवासियों के लिए प्रेरक किंवदन्ती बन जाने वाली जी. डी. गौरवगाथा का विस्तार इन्हीं वर्षों में हुआ।

मनुष्य कितना भी अध्यवसायी क्यों न हो और कर्मठ क्यों न हो, समय की सीमा, इसके बन्धन को अनदेखा करना कठिन है। 24 घण्टे कर्मयोग की साधना में सफल होने के लिए यह परमावश्यक है कि अपने को निरन्तर कठोर अनुशासन में रखा जाये और समस्त कार्य-व्यापार को अद्‌भुत कौशल के साथ सम्पादित किया जाये। यों जी. डी. बाबू को अनुशासन, आत्मानुशासन और कार्यकुशलता अपने पितामह और पिता से विरासत में मिले थे तथापि उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार इसमें परिष्कार कर लिया। इसके पश्चात् जो दिनचर्या उन्होंने अपने लिए इस समय तय कर ली उसका जीवन-पर्यन्त पूरी कड़ाई के साथ पालन करते रहे। काल-प्रवाह के साथ इसमें थोड़ा-बहुत व्यावहारिक संशोधन जरूर हुआ पर मूल ढांचा बरकरार रहा।

सुबह जाड़ों में साढ़े 4 बजे और गर्मियों में 4 बजे उठ जाना, उठते ही दाढ़ी बनाना। मुंह-हाथ धोना और तैयार होकर पौने पांच बजे घूमने निकल जाना। डेढ़-दो घण्टा घूमना (अगर ठण्डे देश होते तो सुबह उठने का समय थोड़ी देर का रखते और सैर की अवधि ढाई तीन घण्टे की)। सैर से लौटने के बाद वह चाय पीते जिसे आम तौर पर खुद ही बनाना पसन्द करते। अगर खुद न भी बनाते तो अपनी देख-रेख में बनवाते। चाय का नपातुला डेढ़ कप पीते। फिर 45 मिनट का समय देश-विदेश के प्रमुख अखबारों पर नजर मारने का होता। कहीं समसामयिकता में गोते लगाते हुए सनातन की डोरी न छूट जाए इस विचार से समाचार बांच लेने के बाद गीता के कुछ श्लोक जरूर पढ़ लेते। सात बजे के आस-पास नहाने चले जाते और स्नान ध्यान करके आठ बजे तक ब्रेकफास्ट की मेज पर आ जाते। सुबह का कलेवा और दिन का लंच जी. डी. बाबू अधिकतर पश्चिमी ढंग का लिया करते। नाश्ते में मूली, गाजर और गांठ-गोभी कच्ची काट कर रखी जाती, खजूर और संतरे रखे जाते, मौसम के अन्य फल और सब्जियां भी। इडली-डोसा जैसी कोई और चीज भी ताकि लोग यह न कहें कि ब्रेकफास्ट में घासफूस ही रखी है। ब्रेकफास्ट टेबल पर आध घण्टे तक परिवार वालों से बातचीत करके और दो कप काफी के पीकर जी. डी. बाबू अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते, वहां पत्र-पत्रिकाएं उलटते-पलटते और जिन लोगों को समय दे रखा होता उनसे बातचीत करते,साथ ही फोन पर वह अपने वरिष्ठ प्रबन्धकों से सम्पर्क करते।

ठीक 10 बजे कार्यालय चले जाते और वहां ढाई घण्टे तक जमकर काम करते। फिर लंच का समय हो जाता। वह स्वयं बहुत हल्का लंच लेते थे। अधिकतर सूप और वैजीटेबिल कटलेट्स। मेहमानों की खातिर कढ़ी-राइस जैसी कुछ और डिशेज तैयार की जातीं। 12 आदमी की लंच टेबल आम तौर पर पूरी भरी रहती। ऐसे भी अवसर आते जब व्यावसायिक, राजनीतिक, सामाजिक जीवन के अपने 100-150 साथियों को जी. डी. बाबू घर पर ही लंच करवाते। लंच कम से कम चार कोर्स का होता। बाहर के लोग ज्यादातर लंच पर ही आमन्त्रित किये जाते थे क्योंकि जी. डी. बाबू का एक नियम यह भी था कि रात के खाने के समय काम-धन्धे की कोई बात नहीं होगी और वातावरण पूरी तरह घरेलू रखा जायेगा। इस नियम के चलते रात के भोजन पर बाहर के वही लोग बुलाये जा सकते थे जिनसे रिश्तेदारी हो या घरोपा हो। जी. डी. बाबू ने न तो आम हिन्दुस्तानी की तरह दोपहर में भर पेट भात खाना सीखा और न भात खाकर घण्टा डेढ़ घण्टा पसर जाने का सुख ही जाना। सादा और हल्का लंच करके, मेहमानों से उपयोगी परामर्श करके, वह फिर कार्यालय लौट जाते और तुरन्त काम में जुट जाते। दफ्तर में कुल मिलाकर पांच घण्टे काम करूं, ऐसा उनका नियम था। न ज्यादा न कम।

शाम की चाय के वह बहुत शौकीन नहीं थे लेकिन कभी-कभी ऐसा होता कि वह लोगों को चाय के लिए आमन्त्रित करते। शाम की चाय वह आधा कप से ज्यादा नहीं लेते। चाय कैसी होनी चाहिये इस बारे में उनकी अपनी मान्यताएँ थीं। उनका निर्देश यह था कि चाय गाढ़े सुनहरे रंग की होनी चाहिए। यों बताया जाता है कि शुरू में जी. डी. बाबू चाय-काफी पीते ही नहीं थे और दूध ही उनका एकमात्र पेय था। चाय-काफी की ओर अधिक रुझान 1962 के बाद हुआ।

दफ्तर से लौटकर टायलेट जाने का नियम था। वहां से आध-पौन घण्टे में वह तैयार होकर निकलते और बरामदे में अथवा बगीचे में टहलते। डिनर के लिए शाम सात बजे का समय निश्चित था। रात को यह खाना हिन्दुस्तानी ढंग का होता इसे बनाने वाला रसोइया भी भिन्न रहता। जी. डी. बाबू गाँधीजी के प्रभाव और प्राकृतिक चिकित्सा के आग्रहवश खाना खाते बहुत कम थे मगर खाने के शौकीन थे। वह खुद बहुत अच्छा खाना बना लेते थे। इसलिए आज क्या बने, कैसा बने, इस विषय में रसोइयों को उचित निर्देश देने में हर तरह से समर्थ थे। भोजन पर आमन्त्रित व्यक्तियों से वह उनकी रुचि-अरुचि के विषय में विस्तार से प्रश्न करते और फिर उनके लिए उनकी पसन्द का ही भोजन बनवाते। परिवार के लोगों से भी उनका यह आग्रह होता कि भाई तुम अपनी पसन्द का खाना भी बनवा लेना। भोजन सम्बन्धी अपनी रुचि उन्होंने किसी पर कभी लादी नहीं।

मिठाइयां उन्हें सभी तरह की बहुत अच्छी लगती थीं। मारवाड़ी होने के नाते सीरा और जलेबी उन्हें प्रिय थे तो बंगाल में बसे हुए होने के कारण सन्देश और रसगुल्ला उन्हें बहुत अच्छा लगता था। सच तो यह है कि सन्देश ही उनकी सबसे प्रिय मिठाई थी। कलाकन्द और बालूशाही भी उन्हें अच्छी लगती थी। नमकीन के वह खास प्रेमी नहीं थे। यों चिवड़ा और बड़ा कभी-कभी खा लेते थे। सब्जियों में पसन्द -नापसन्द का कभी उन्होंने आग्रह नहीं किया, लेकिन यह जरूर कहा कि वे बराबर बदल-बदल कर बनायी जायें। अचार, चटनी, मिर्च-मसाला भी लिया करते थे। भोजन का स्वाद बढ़ाने के लिए पहले काली मिर्च ही लिया करते,बाद में कभी हरी मिर्च भी लेने लगे। फलों में उन्हें आम बहुत प्रिय था और यद्यपि वह उसे काट कर चम्मच से खाते तथापि उनका कहना था कि इसे खाने का पूरा मजा तो उस देहाती ढंग से ही लिया जा सकता है जिसमें सारा रस और हर रेशा चूस-खिंच कर मुंह में आ जाता है। उन्होंने मुझे बताया कि आम का असली मजा तो गुठली चूसने में है। इन आखिरी वर्षों में पपीता का भी उनको शौक हो गया था। उनके निर्देश पर कई स्थानों में थाईलैंड के मीठे पपीतों के बीजों को यहां बड़ी सफलता से उगाया गया है। अपने स्वजनों को आम और पपीते भिजवाते रहने का उनका शौक आखिर तक चालू रहा।

परिवार से बाहर के किसी व्यक्ति को जी. डी. बाबू रात के खाने के लिए निमन्त्रण दें यह बहुत बड़ी बात समझी जाती थी। डिनर टेबल पर वह उन्हीं लोगों को बुलाते थे जिनकी संगति में बैठना और बतियाना उन्हें प्रिय हो।

चाहे मेहमान हों या घर वाले, सभी को पता था कि डिनर ठीक सात बजे शुरू हो जाता है। जी. डी. बाबू किसी के लिए रुकते नहीं थे। पहले, रात के भोजन के लिए उनका आदेश यह था कि जो साढ़े सात बजे न आया हो उसका खाना लगा कर थाली उसके कमरे में रख दी जाये।

जी. डी. बाबू की रसोई में सदा शाकाहारी भोजन ही बना और उनके डायनिंग रूम की मेज पर मांस-मदिरा का सेवन कभी नहीं हुआ। मगर उन्होंने अपने से भिन्न रुचि रखने वाले मेहमानों पर कभी अपना शाकाहारी आग्रह लादा नहीं। अगर उन्होंने दूसरी तरह का भोजन करना चाहा तो मकान से बाहर तम्बू लगवा कर उनके लिए बनवा दिया गया और उन्हें वहीं खिलवा भी दिया गया।

रात्रि के भोजन पर और उसके तुरन्त बाद इष्टमित्रों से सरस वार्ता करना जी. डी. बाबू का नित्य का नियम था। ब्रिटिश पत्रकार इयान जैक ने लिखा है, "उनकी बातें दिलचस्प तो सदा होती थीं, बहुधा मुग्ध करने वाली सिद्ध होती थीं।" एक अन्य विदेशी प्रशंसक डगलस एंसमिंजर का कहना है कि जी. डी. जैसा व्यक्ति वास्तव में बिरला ही होता है, जिसकी इतने अधिक विषयों में गति हो और जिसे इतना कुछ अनुभव करने का अवसर मिला हो। मानवता के उज्ज्वल भविष्य में उनकी आस्था बराबर गुंफित रहती थी।

इस बातचीत में उनकी व्यंग्य-विनोद की फुलझड़ियां भी बीच-बीच में फूटती रहती थीं। अक्सर ये फुलझड़ियां बाकायदा पद्य-बद्ध भी होतीं। उर्दू, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी और कभी-कभी मारवाड़ी में भी। एक बार अपने संगी महन्तजी के पंखे से दूर बैठने पर बोले, "महन्त मच्छर एक सुभाऊ, पंखा चले निकट नहीं आऊ।" एक बार किसी ने रबड़ी तो खा ली मगर पराठा गरिष्ठ मानकर त्याज्य ठहराया। इस पर जी. डी. बाबू ने टिप्पणी की, "रबड़ी न छोड़ी, लड्डू न छोड़ा, पराठा काहे छोड़ दिया रे, मनुआ राम भजन काहे छोड़ दिया रे।"

साढ़े-आठ बजे वह अपने शयनकक्ष में चले जाते। हमेशा पांच-छः पुस्तकें साथ रखना और उलट-पलट कर देखते रहना भी उनकी दिनचर्या का एक विशिष्ट अंग बना। जब जरा समय मिले तब कुछ पढ़ लूं, कुछ सीख लूं, ऐसा

उनका आग्रह बना। किताबें खरीदना, पढ़ना और खुद खरीद कर परिवार वालों में, मित्रों में बांटना उनका शौक बन गया। मगर पुस्तकों के विषय में भी उन्होंने संग्रह-वृत्ति नहीं अपनायी। ऐसा नियम बनाया कि जो पुस्तक पढ़ ली हो वह पिलानी के संग्रहालय को भेज दें ताकि ज्यादा से ज्यादा लोगों के काम आ सके। किन्तु अपने सभी निवास-स्थानों पर वह गीता, भागवत, शब्दकोश, सन्दर्भग्रंथ, रामचरित मानस और साहित्य के क्लासिक जरूर रखते। जी. डी. बाबू सिर्फ सुधी पाठक ही नहीं थे, समर्थ लेखक के रूप में भी उभर रहे थे। उनका पत्राचार तो उनके लेखकीय रूप को उजागर करता ही है, समय-समय पर अवसरानुसार प्रकाशित लेख एवं पुंस्तकें भी इसका प्रमाण देती हैं।

जी. डी. बाबू ने निश्चित समय पर ही भोजन करने और बीच में कुछ भी न खाने के नियम का हमेशा कड़ाई से पालन किया। प्राकृतिक चिकित्सा के आग्रहवश पानी अलबत्ता खूब पीते थे और वह भी खूब ठण्डा। जाड़ों तक में आइस क्यूब डालकर पानी पीते थे।

आमतौर पर यह देखा गया है कि इस तरह की दिनचर्या बनाने वाले उसमें अपवाद की पूरी गुंजाइश रखते हैं। किन्तु जी. डी. बाबू ने ऐसा नहीं किया। उनके लिए तो मानों यह दिनचर्या पत्थर की लकीर हो गयी। भले ही खुद की बनायी हुई थी मगर वह कैसी भी जरूरत पड़ने पर इसे तोड़ने में असमर्थ थे। दिनचर्या के प्रति निष्ठा को उनका इस तरह सर्वोपरि मानना परिवार वालों और बाहर वालों के लिए समान रूप से आश्चर्यजनक था। ऐसे उदाहरण हैं जब उन्होंने किसी पारिवारिक कर्मकाण्ड की खातिर अपना भोजन का निश्चित समय आगे बढ़ाने से इनकार कर दिया। ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें उन्होंने देश-विदेश की बड़ी-बड़ी हस्तियों की सुविधा की परवाह न करते हुए अपनी दिनचर्या के पालन का आग्रह किया। उदाहरण के लिए जब हिण्डालको की स्थापना में उनके सहयोगी श्री एडगर एफ़ काइजर ने उनके सम्मान में रात्रि भोज का आयोजन किया तब उन्होंने उससे कह दिया कि मेरी दिनचर्या तो मुझे 9 बजे तक सो जाने को बाध्य करती है। काइजर महोदय ने इसे विनोद में कही गयी एक बात माना। पार्टी आराम से चलने लगी। ठीक साढ़े सात बजे जी. डी. बाबू ने कहाः भोजन परोसिये, मुझे तो फिर होटल लौटना है। अमेरिकी मेजवान स्तम्भित हो गये। उन्होंने जल्दी-जल्दी खाना लगवाया और मेहमान की दूसरी जिद का भी सम्मान करते हुए स्वास्थ्य कामना के जाम शराब नहीं, औरेंज जूस से भर-भर कर उठाये। बिड़ला हाउस के काशी मुनीम बताते हैं कि उनकी जानकारी में जी. डी, बाबू ने केवल एक बार रात्रि-भोज के निश्चित समय की अवहेलना की। वह तब जब उनके एक मित्र राष्ट्रपति

राजेन्द्र प्रसाद ने उनके एक अन्य मित्र प्रेसिडेण्ट आइजनहावर के सम्मान मे रात्रिभोज दिया।

बेहतरीन से बेहतरीन चीज का आकर्षण जी. डी. बाबू को अपनी दिनचर्या में व्याघात डालने के लिए बाध्य नहीं कर सकता था। रंगमंच के वह प्रेमी थे इसलिए जब वह ख्रुश्चेव के निमन्त्रण पर 1961 में सोवियत संघ की यात्रा पर गये,उन्हें मास्को के विश्वविख्यात बोलशोई थियेटर में ले जाया गया। बैले का नयनाभिराम कार्यक्रम चल रहा था किन्तु उसके दुर्निवार आकर्षण से भी पार पाकर ठीक समय खाने और सोने के लिए होटल लौट गये।

दिनचर्या तय करने के साथ-साथ उन्होंने इसी प्रकार अपने लिए और अपने परिवार वालों के लिए तथा अपने सारे प्रबंधकों के लिए बारह मार्गदर्शक सूक्तियां तैयार कर दीं। गलती से सीखो तो वह आशीर्वाद है, नहीं सीखो तो श्राप है। मेहनत ने आज तक किसी को नहीं मारा। आलस्य, अनियमितता और आराम तलबी जी-जान के दुश्मन हैं। जरूरी और गैर-जरूरी में भेद करने की जिसे समझ हो वही अक्लमंद है। काल करे सो आज कर, आज करे सो अब। जो जल्दी सोये, जल्दी उठे, सुखी रहे, निरोग रहे, धनी बने। जो समझता है कि मैं सब समझता हूं वही सबसे बड़ा नासमझ है। परोपकार का कोई अवसर मत चूको। असली आनन्द देने में है, लेने में नहीं। क्षीर सागर है जीवन इसे जितना मथोगे, उतना ही नवनीत पाओगे। बीती ताहि बिसारिये आगे की सुध लेय। मीठी वाणी बोलिये मन का आपा खोय। क्षमा बड़न को चाहिये छोटन को उत्पात।

कभी उनके दादाजी सेठ शिवनारायण अण्टी में पांच रुपया लेकर निकला करते थे, अब जी. डी. बाबू ने उसी तरह का यह नियम बनाया कि मेरी जेब में आकस्मिक व्यय के लिए 50 रुपये रख दिये जायें। इसी से बाद में एक अच्छा लतीफा बना। हुआ यह कि उनके नये सचिव राजकुमार ने यह सोचकर कि इतने बड़े आदमी के लिए 50 रुपये बहुत थोड़े हैं,50 की जगह 100 रुपये बटुए में रखने शुरू कर दिये। जब एक दिन जी. डी. बाबू को इसका पता चला तब उन्होंने मास्टर श्रीराम से कहा:अभी हाल में मैंने इसका मंहगाई भत्ता बढ़ाया और आज इसने मेरा 50 रुपये से बढ़ाकर 100 रुपये कर दिया है।

दिनचर्या, नियमावली, सूक्तिसंग्रह औरों से कुछ अलग ही रंग और ढंग था जी. डी. बाबू का। समय की पाबन्दी में कभी भूल से भी चूक न हो इसलिए जहां और तमाम घड़ियां सही समय पर रखते वहां अपनी घड़ी 15 मिनट आगे रखते।

इन तमाम वातों के कारण विड़ला परिवार में, मारवाड़ी समाज में, वैश्य समुदाय में जी. डी. वावू को विशिष्ट व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा मिलने लगी। जीते जी गाथा वन जाने का क्रम आरम्भ हुआ और गाथा भी ऐसी जो विभिन्न क्षेत्रों में व्यापकता से पसरी हुई है। विड़ला-वंश के इस सपूत की गौरवगाथा वामनावतार वनकर मानवीय उद्यम के सभी लोक नाप गयी।

किन्तु इससे ऐसा समझना गलत होगा कि सार्वजनिक जीवन में रमने के साथ जी. डी. वावू मशीनी हो गये थे या अपने घर-परिवार से कोई दिलचस्पी उन्हें नहीं रही थी। अपनी तमाम व्यस्तताओं के वावजूद उन्होंने सदैव अपने जीवन के पारिवारिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण माना। वच्चों के विषय में ज़ी. डी. बाबू को कितनी दिलचस्पी थी इसका एक अच्छा उदाहरण उन दिनों पुत्र वसन्तकुमार व पुत्री चन्द्रकला से उनके हुए पत्र-व्यवहार से मिलता है। वालक वसन्तकुमार ने अपने पिता को शिकायत की कि चन्द्रकला वाई विलायती सूत का कपड़ा पहनती हैं और नाटक वहुत देखती हैं। यह शिकायत मिलने पर जी. डी. वावू ने तुरन्त दो पत्र भेजे—सदा की तरह हाथ से लिख कर।

पहला पत्र वेटे को, "क्या तुमने वह पत्र चन्द्रकला को दिखाया था जो मुझे लिखकर भेजा है। यदि नहीं तो तुमने अनुचित किया। मुंह पर शिकायत करना अच्छा है। पीछे से करना ऐव है। इससे द्वेष वढ़ जाता है। प्रेम कम हो जाता है।"

दूसरा पत्र चन्द्रकला को, "वसन्त ने तुम्हारी दो शिकायतें मेरे पास भेजी हैं। एक-तुम विलायती सूत का कपड़ा पहनती हो। दो—तुम नाटकों में अधिक प्रेम रखती हो। यदि यह वात सत्य है तो तुमने मुझे आघात पहुंचाया है। मुझे कलकत्ते के पते पर लिखना कि तुम्हारी कहां तक भूल है? भूल को छिपाना नहीं। जो छिपाता है वह पाप करता है। जो प्रकट करता है, सत्य बोलता है, ईश्वर का प्रिय वनता है।"

इसके वाद चन्द्रकलाजी ने जो सफाई भेजी वह जी. डी. वावू को सन्तोपजनक नहीं मालूम हुई, "यदि पास में पुराणी विलायती सूत की धोती है तो कोइ ने दे देनी चाहिये। जलानी तो उचित नहीं मालूम दे है। नाटक में शिक्षा मिलनी असंभव है। नाटक आमोद-प्रमोद का साधन है और लड़कियां ने अधिक समय पवित्र विचार, पवित्र आचार में लगानी चाहिये। तू छिपाकर नहीं रखी या तो अच्छी वात है।"

इस दौरान अपनी पुत्री और होने वाले जामाता बंसीधर डागा से जी. डी. बाबू ने जो नियमित पत्र-व्यवहार किया है उससे इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि अपने जामाता को जीवन में सफलता पाने के गुर सिखाने के लिए उन्होंने कितना उद्यम किया। जितनी नसीहतें और निर्देश पुत्री चन्द्रकला को दिये उससे कुछ ही कम जामाता बंसीधर डागा को दिये।

"परीक्षा में पास न हुए इसकी चिन्ता अब करना व्यर्थ है। हरेक काम हम जब हाथ में लें तभी से उसकी चिन्ता करनी चाहिये। पीछे चिन्ता करने वाले 'पंच्छम बुद्धि' होते हैं। पास या न पास का मेरे निकट कोई मूल्य है नहीं। तुम पास भी हो जाते तो तुम्हारी विद्या की पूंजी में एकाएक कोई वृद्धि हो जाने वाली नहीं थी। असल बात तो यह है कि हमारे ज्ञान की वृद्धि हो। परीक्षा के लिए पढ़ना मेरी समझ में इष्ट नहीं होना चाहिए। ज्ञान वृद्धि के लिए तो पढ़ना चाहिए ही। पठन-पाठन से, अच्छी पुस्तकों के पढ़ने से, अच्छी संगीत से काफी ज्ञान का उपार्जन कर सकते हो। यह तो लगन की बात है। धन्धा भी विद्या है। इसलिए धन्धा भी सीखो। पढ़ो भी। ऐसी मेरी राय है। समय का सदुपयोग करना। ठलुआपन की आदत न डालना। स्वास्थ्य के लिए शारीरिक परिश्रम भी करना।"

इन्हीं पत्रों में जी. डी. बाबू का विनोदी स्वभाव भी बराबर झलकता दिखाई देता है। इनमें खाली नीरस नसीहतें ही नहीं हैं,सरस नोंक-झोंक भी है—"गजानन ने कहा कि चंका तो मोटर चलाना सीखती है। तमाशे देखती है। खूब होशियार हो चली है। सुनकर लक्ष्मी रोयी कि काकोजी मुझे तो यहां रख लिया,चंका को होशियार होने को भेज दिया। मैंने उसे समझाया कि चंका तुमसे कहीं अधिक बेवकूफ है।"

"मेरे स्वास्थ्य की चिन्ता न करना। अधिक खा लेता हूं तो उसका प्रायश्चित शरीर को करना ही पड़ता है। अच्छा रसोइया मेरे लिए हितकर नहीं है क्योंकि वह तो स्वाद बढ़ा कर मुझे ज्यादा ही खिला सकता है। जिसे तुम खराब रसोइया कहती हो वही मेरे लिए हितकर है।"

"सुशीला को आशीर्वाद कहना। उसकी भी कोई चिट्ठी नहीं आई, वह भी तुम्हारी तरह बुद्धी गीगी है। मुझे तो मालूम होता है कि तुम लोग सब मुझसे पहले बुद्धे बनने वाले हो।"

"थे सगली वहिन के के सीखी। आवूंगो तब चूल्हें, चाकी, चर्खे की परीक्षा लूंगो। और जो पास होसी जीकी मैं इनाम दूंगा। फेल होसी जीकी एक दिन को भोजन वन्द।"

जो हो, कुल मिलाकर इन पत्रों में पिता एक अनुशासन प्रिय अध्यापक की भूमिका में ही अधिक प्रकट होता है। सिर चढ़ाने वाले, बहुत अधिक लाड़ लड़ाने वाले पिता की छवि इनमें कहीं देखने को नहीं मिलती। पूना से 27 जून 1933 को लिखे गये इस पत्र में हम वच्चों के लिए कठोर नैतिक मानक स्थापित करने वाले उन जी. डी. वावू की झांकी पा सकते हैं जिनके प्रभाव से आज भी बिड़ला परिवार में लोग-वाग किसी भी कमरे से जाते समय वहां की बत्ती बन्द करके आना नहीं भूलते,चाहे कैसी भी व्यस्तता हो। शाम को खाना खाने के लिए समय से घर लौटते हैं और वहुत जल्दी सो जाने और वहुत ही जल्दी उठ जाने के नियम का पालन करते हैं।

पिता की भूमिका में जी. डी. वावू के मन में अपने वच्चों को कितना सयाना वनाने और मानने का आग्रह था यह 12 जुलाई 1929 को आठ वर्षीय बसन्त कुमार के नाम लिखे गये एक लम्बे पत्र से मिलता है। इसमें वह लिखते हैं, "तुमसे शास्त्रार्थ करना कठिन काम है। तो भी तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देना चाहता हूं। मैं 90 वर्ष जीऊंगा या नहीं यह कौन कह सकता है। मेरा तात्पर्य यही था कि कोई ऐसी वात मालूम नहीं होती जिससे कम जीने का अनुमान हो। यह सच है कि मनुष्य की किसी वात के लिए प्रवल इच्छा होती है तो वह फलती है। किन्तु 90 साल की आयु ऐसी कौन-सी वात है जिसके लिये मैं प्रबल इच्छा करूं? असल बात तो यह है कि जीना-मरना यह एक अत्यंत साधारण घटना है जिसको हमने अत्यंत महत्त्व दे दिया। वैसे तो मनुष्य क्षण-क्षण बदलता रहता है। तुम में कल जितने परमाणु थे उतने आज नहीं। इसलिए यदि परिवर्तन को ही हम मृत्यु कहें तो हमारी क्षण-क्षण मृत्यु होती है किन्तु उस मृत्यु के लिए हम नहीं रोते क्योंकि वह परिवर्तित मनुष्य हमारी आंखों के सामने रहता है। इसी तरह का एक परिवर्तन मृत्यु भी है। मृत्यु में शरीर का परिवर्तन होता है किन्तु आत्मा का नहीं। आत्मा तो अमर है। इसलिये इसमें भी रोने की गुंजाइश नहीं। उदाहरण के लिए तुम्हारी मां ने अपना रोगी शरीर वदल लिया तो उससे वह मर नहीं गयी। हानि के वदले लाभ हुआ। इसलिये मृत्यु भयंकर वस्तु नहीं है तो फिर हम क्यों चिंता करें कि नब्वे साल जीयें या नब्वे क्षण जीयें।

"दूसरी वात,जव खेत सूखते हैं अर्थात् पौधे मरते हैं तो अन्न तैयार होता है।

वृक्षों के पत्ते मरते हैं तो नयी पत्तियां आती हैं। जमीन का पानी सूखता है अर्थात् मरता है तो बादल बनकर बरसता है। इसके माने यह कि हरेक वस्तु का मरना अर्थात् परिवर्तन संसार की भलाई के लिये ही होता है इसलिये मैं क्यों चिंता करूं कि नव्वे साल जीऊंगा या नब्बे क्षण?

"दिन भर काम करते-करते हम थक जाते हैं तो रात को नींद लेते हैं। नींद से थकान उतरती है। कभी-कभी ज्यादे थकान होने पर हम दिन में भी सो लेते हैं। प्राणी को जब बड़ी थकान आती है तब मृत्यु में विश्राम मिलता है। तुम्हारी मां ने मरने के एक घंटे पहले कहा अब मैं मरना चाहती हूं। उसके बाद राम-राम करते सो गयी। यदि मृत्यु विश्राम है तो जब हमें थकान होगी तभी विश्राम अपने आप मिल जायेगा। इसलिये हम मृत्यु का क्यों भय मानें? उसकी क्यों चिंता करें?

"प्रिय बसन्तजी, इस हिसाब से मृत्यु एक आवश्यकीय विधि है। जैसे खाना-पीना, शौच जाना, सोना-उठना, वैसे जीना-मरना।

"जीना इसलिये है कि हम सेवा करें, मरना इसलिये है कि विश्राम लेकर फिर सेवा करें। हम कामना करें तो यही करें। दूसरी कामना क्या करें।"

जी. डी. बाबू ने इस दौर में बराबर यह यत्न किया कि जिन नेताओं से, जिस स्वाधीनता संग्राम से मैं अपने को जोड़े हुए हूं उनसे मेरे बच्चों का भी सम्पर्क हो। जमनालालजी बजाज तो अपनी मारवाड़ी जाति और अपने कलकत्ता शहर के होने के नाते बच्चों के अच्छे परिचित थे, अभिभावक समान थे। महात्मा गाँधी के विषय में जी. डी. बाबू अपने बच्चों को बराबर कुछ लिखते और बताते रहते और उन्हें बढ़ावा देते कि वे गाँधीजी की शिक्षाओं का पालन करें, गाँधीजी को पत्र भेंजें, गाँधी जी से मिलें। 19 जुलाई 1930 के एक पत्र में वह अपने छोटे बेटे बसन्त कुमार को स्वाधीनता संग्राम के लिए बिड़ला बालकों की वानर-सेना बनाने का सुझाव देते हैं—"तुम्हारी और अन्य वानरों की चिट्ठियां मुझे मिलती रहती हैं। तुम्हें पता होगा कि आजकल तुम्हारी उम्र के लड़कों ने जगह-जगह अपनी सभायें कायम की हैं जो वानर-सेना कहलाती हैं। वानरों की सहायता से श्री रामजी ने लंका का-सा गढ़ ढाहा और तुम लोगों की सहायता से श्री गाँधीजी स्वराज्य लेने वाले हैं। इसलिए हे बन्दर-बन्दरी, अभिवादन! अब तुम्हारा सबों का नामकरण कर देता हूं—कृष्णजी तो हैं रिछराज जाम्बवन्त। माधवजी हैं हनुमान। तुम हो अंगद। गिरधरजी और विष्णुजी के लिए कोई नाम नहीं मिला, वह पंडितजी ढूंढ देंगे।"

वानर-सेना

वायें से दायें : गंगाप्रसाद विरला, माधवप्रसाद विरला, कृष्णकुमार विरला, गिरधरदास कोठारी, वसन्तकुमार विरला

मध्य में वैठी हुई वालिका गंगावाई

इसी पत्र में आगे चलकर जी. डी. बाबू ने एक पौराणिक कथा के सहारे यह शिक्षा दी कि असली बल भगवान का है और जो इस बल पर विश्वास कर काम करता है उसे सफलता मिलती है। उन्होंने लिखा, "यह बात सच्ची है और जिन्हें इसमें विश्वास है वे निर्भय बन गये। गाँधीजी ने विश्वास किया यही कारण है कि वह महात्मा हैं। जो मनुष्य ईश्वर में विश्वास करके काम करता है उसकी चिन्ता ईश्वर करता है। तुम्हारी भजनावली में लिखा है, 'हम भक्तन के भक्त हमारे। सुन अर्जुन प्रतिज्ञा मोरी यह टरे न टारे'। पण्डितजी से कहना यह भजन तुम्हें सुना देंगे।"

इस महत्त्वपूर्ण पत्र के अन्त में अपनी मानवीय प्रकृति का परिचय देते हुए जी. डी. बाबू ने एक गरीब ग्रामीण का चित्र खींचा है जो मोटर पर सवार जी. डी. बाबू को आला अफसर समझ कर सलाम बजाने और गिंड़गिड़ाने लगा। वह कहते हैं, "इनं गरीबों के उद्धार के लिए गाँधीजी ने जन्म लिया है और गाँधीजी के लिए तुम वानरों ने, इसीलिए बोलो महात्मा गाँधी की जय, वानर सेना की जय।"

बच्चों में राजनीतिक और धार्मिक विवेक पैदा करना जी. डी. बाबू ने अपना कर्तव्य माना। जब 13 वर्षीय बसन्तकुमार ने उन्हें भाई परमानन्द बनाम अब्दुलगफ्फार खां विवाद के बारे में लिखा तब अपने जवाब में उन्होंने कहा, "हमें किसी आदमी को अच्छा बुरा कायम करने के लिए उसके चरित्र को देखना चाहिये न कि उसके मजहब को। गीता में जिसे दैवी-सम्पदा कहा है उसे ही मनु ने धर्म के 10 लक्षण बताये हैं। इसी तरह एक श्लोक है कि हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, भीतर और बाहर से पवित्र रहना, इन्द्रियों का संयम करना यह चारों वर्णों का धर्म है। अब इसमें कहे गये लक्षण जिस आदमी में पाये जायें वह धार्मिक और अच्छा मनुष्य है, जिसमें इसके विपरीत लक्षण हों वह बुरा है। पूज्य बड़े भाईजी को मुसलमान मात्र से घृणा है यह उनमें दोष है। हमारे श्रीकृष्णजी ने गीता में यही कहा है कि राग-द्वेष, यह पाप है। इसलिए किसी को मुसलमान होने के कारण बुरा बताना यह दोष है। ईश्वर अपने दरबार में चोटी और दाढ़ी से लोगों की परख नहीं करते, चरित्र देखते हैं। बड़ों के ऐब नहीं लेना।"

अनुसूया और शान्ति अपनी इन दो छोटी बच्चियों को भी जी. डी. बाबू देश-विदेश से पत्र भेजते रहते थे, और कुछ नहीं तो पिक्चर पोस्ट कार्ड ही। इन पोस्ट कार्डों पर वह बहुत रोचक टिप्पणियां लिखकर भेजते बन्दर-बन्दरी के जोड़े वाले एक तस्वीर कार्ड पर उन्होंने लिखकर भेजा, "ये तुम्हारे बन्दर और बन्दरी हैं। बन्दर का नाम है सवा सेर खां। रोज सवा सेर गुड़ खाता है। बन्दरी का

नाम है शान्ति। यह खाती है खूब, काम करती है कम। कभी-कभी रोती भी है।'

अनुसूया बाई का नाम उन्होंने प्यार से "सुई" रखा दिया था और शान्तिबाई का नाम इसी वजन पर "डोरा"। वह पूछते कि सुई-डोरा कहां हैं? इसी तरह वे जानते थे कि दोनों बहनों ने कृष्णकुमार का नाम "किन्तु बाबू" रख छोड़ा था और बसन्तकुमार का "मनता भाया"। वे चन्द्रकला बाई को तो "चंका-चंकी" कहते ही थे। कृष्णकुमारजी के लिए अक्सर पत्रों में उन्होंने "पोयट" (कवि) सम्बोधन का उपयोग किया है। इसका एक कारण तो किशोर कृष्णकुमार का नाजुक-नफीज़ होना था और दूसरा उनका तुकबंदी करने का शौक। वह साहित्य में खूब रुचि लेते थे। कभी-कभी जी. डी. बाबू बसन्तकुमार को "सेठजी" कहकर सम्बोधित करते थे।

इस दौर के पत्रों से स्पष्ट होता है कि किस तरह जी. डी. बाबू का यह आग्रह रहा कि उनका जामाता अपना स्वतंत्र व्यवसाय शुरू करे। उन्होंने बंसीधरजी को लिखा, "जो आदमी बिना काम किये खाता है वह चोर है। संसार में जीवन निर्वाह तो सभी करते हैं। किन्तु जो यश पैदा करे उसी ने दरअसल में जीया।"

इसी प्रकार उन्होंने बंसीधरजी डागा को इस बात के लिए जरा भी अनुमति नहीं दी कि वह उनके साथ अथवा अपने परिवार वालों के साथ किसी काम में जुड़ कर आराम से दिन काटें। बारबार उन्होंने यही लिखा कि कोई अपना काम करो और उसे करते हुए व्यवसाय चलाने की ट्रेनिंग लो। इस ट्रेनिंग के लिए उन्होंने सबसे पहले केशोराम मिल के एजेंट के रूप में अपने जामाता को काम करने को कहा। इसके आय-व्यय का सारा हिसाब विस्तार से उन्होंने लिख कर दिया और फिर बताया, "इस तरह ज्यादा से ज्यादा 200 रुपये माहवार की बचत होगी। यह काम तुम्हारी ट्रेनिंग के लिए ही है। पैसे की दृष्टि से इसे मत देखना। यह काम तुम अपने हाथ से देखोगे, अपने हाथ से करोगे, यह सोचकर प्रयोग करते हैं। न तो इसमें आर्थिक पैदा की ही भावना है और न तुम कोई भारी अंदाजा ही लगाना।" यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि उद्योग-व्यवसाय में भाई-भतीजों, रिश्तेदार-बिरादरों के प्रति पक्षपात के कट्टर विरोधी थे जी. डी. बाबू। नियुक्ति की उनकी कसौटियां थीं — पारिवारिक निष्ठा और परिश्रम।

जी. डी. बाबू के सामने यह लक्ष्य हमेशा स्पष्ट रहा कि उनका मुख्य काम स्वदेशी उद्यम की सफलता के लिए, देश के आत्मनिर्भर आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। वह नहीं चाहते थे कि किसी भी तरह की

राजनीतिक पक्षधरता और अतिवादिता इसमें बाधक बने। उनकी दृष्टि मध्य-मार्गी थी और व्यावहारिक लचीलापन उनमें हमेशा बना रहा। इसी से वह सफल मध्यस्थ की भूमिका निभा सके।

राजनीतिक गहमा-गहमी के बीच जी. डी. बाबू अपने घर वालों को भूले नहीं थे। गाँधीजी के स्वागत के विषय में लन्दन से उन्होंने जामाता बंसीधर को लिखा, ''यहां उन्हें काफी सम्मान मिला है। लोग उन पर बहुत रीझे हैं। परन्तु गरीबों का रीझना न रीझना समान है। जिनके पास सत्ता है वह अभी घमण्ड में ही हैं। देखें क्या होता है!'' सम्मेलन की सम्भावित उपलब्धि के विषय में उन्होंने लिखा, ''इतना है कि महात्माजी के यहां आने से हमारी इज्जत बढ़ी है। लोगों में भी यहां एक लहर दौड़ गयी है। भविष्य का निर्णय करना तो कठिन है किन्तु हमारा कुछ-न-कुछ लाभ है ही।'' गाँधीजी के अंग्रेज भक्तों से मिलने के बाद उन्होंने जामाता को सूचित किया, ''गाँधीजी यहां वही पहनते हैं जो देश में पहनते थे। आश्चर्य यह है कि यहां उन्हें मुफ्त में काम करने वाले सेवक मिल जाते हैं। उनकी टाइपिस्ट मुफ्त की। उनको खाने में फल मुफ्त में मिलते हैं। मोटर मुफ्त में। रहने को मकान मुफ्त में। संक्षेप में लोग उन्हें प्यार करते हैं।''

गाँधीजी के उन अंग्रेज भक्तों में अधिकतर 'क्वेकर' कहे जाने वाले अत्यंत नैतिकता-सजग और विलास-विरोधी प्रोटेस्टेंट पंथ के थे। 'कमाओ मगर उड़ाओ मत, बचाओ और बचत को प्रभु का नाम लेकर धन्धे व्यापार में लगाओ' की नीति पर चलने वाले क्वेकरों ने ही अमेरिका में विराट कारोबार की नींव रखी। स्वाभाविक था कि वैष्णव संस्कारों और आर्यसमाजी विचारों वाले जी. डी. बाबू अपने को क्वेकरों के बहुत निकट पाते। आगे चलकर उन्होंने बहुधा सार्वजनिक रूप से यह कहा कि हम मारवाड़ी लोग क्वेकरों जैसे हैं। आगे चलकर जी. डी. बाबू लन्दन स्थित अंग्रेज गाँधी-भक्तों की हर तरह से सहायता करते रहे। लन्दन में 1931 में इस भक्त मण्डली ने 'इण्डिया कान्सलियेशन ग्रुप' नामक जो संस्था बनायी उसकी महासचिव अगाथा हेरिसन और उसकी बहन से जी. डी. बाबू का बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा। यही नहीं हैरिसन बहनों को उनकी ओर से आजीवन सहायता भी मिली।

लन्दन में बिताये हुए इन महीनों में जी. डी. बाबू ने राजनीति और वाणिज्य-व्यवसाय के शीर्षस्थ लोगों से औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही स्तरों पर विचार-विमर्श किया। उनका बराबर यही यत्न रहा कि भारतीय उद्यम के रास्ते में जो रोड़े हैं उन्हें दूर करवाया जाये। एक संगोष्ठी में उन्होंने इस बात की

आलोचना की कि भारत में वित्तीय मामले लेजिस्लेटिव काउंसिल (धारा सभा) और जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार दोनों के कार्य-क्षेत्र से बाहर रखे गये हैं। भारत पर से ब्रितानी उद्यम का आर्थिक आधिपत्य समाप्त कराने की ये कोशिशें इंग्लैंड में लोकप्रिय भला कैसे होतीं ? जो हो ब्रितानी प्रतिनिधि सर कैम्पबेल रोड्ज और स्ट्राकोश इतना तो मानने को मजबूर हुए ही कि जी. डी. बाबू भारतीय उद्यम की वकालत जोरदार कर रहे हैं। लोगों ने मजाक में कहा कि मिस्टर बिड़ला आपको कभी भी नौकरी की जरूरत हो, स्ट्राकोश से मिलें वह दे देगा।

लन्दन प्रवास में जी. डी. बाबू ने यह प्रस्ताव भी रखा कि वित्तीय मामलों में भारतीय हितों की रक्षा के लिए एक विशेष समिति का गठन किया जाये। औपनिवेशिक सरकार ने इस सुझाव को न तुरन्त माना और न पूरी तरह माना। बाद में एक सलाहकार समिति अवश्य बनायी गयी और जी. डी. बाबू को उसका सदस्य होने का आमन्त्रण भेजा गया। पर तब तक सिविल नाफरमानी और असहयोग फिर से शुरू हो चुके थे इसलिए आमन्त्रण के स्वीकार किये जाने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

राजपूताना जहाज से और बाद में लन्दन से जी. डी. बाबू ने मित्रों और स्वजनों को बहुत से पत्र भेजे। इनमें कहीं राजनीति की बातें थीं, तो कहीं धन्धे-व्यापार की। कहीं सजीव यात्रा-विवरण था तो कहीं रोचक चरित्र-चित्रण। यायावर जी. डी. बाबू का विनोदी रूप अपने पुत्र बसन्त के नाम भेजे गये एक पत्र के इस अंश से स्पष्ट है, ''हम खाने को बैठे तो 'प' ने अपना चश्मा साफ करके दूर से खाने को पड़ी हुई चीजों की तरफ दृष्टि डाली तो सूअर के मांस का लोंदा उसे भतीरा-सा नजर आया। बस झट 'प' का मन 'भतीरा' पर गड़ गया। नौकर को हुक्म दिया कि भतीरा लाओ। नौकर ने नम्रतापूर्वक कहा साहब भतीरा नहीं है, पर साहब कब मानने वाले थे। गुस्से में आ गये। कहा, तुम मूर्ख हो, अपनी आंखों देखी बात है। मारवाड़ी में कहावत भी है 'आंख्या देखी परसराम कदे न झूठो होय'। नौकर भी अड़ गया। कहने लगा भतीरा आजकल मिलता ही नहीं। इसी तनातनी में साहब ने गुस्से में आकर खाना भी छोड़ दिया। हम लोग तो हंसते-हंसते लोटपोट हो गये। पर साहब ने नौकर की नौ पीढ़ी आगे की और सात पीढ़ी पीछे की याद कर डाली। आखिर प्रधान भृत्य को बुलाया तब उसने कहा कि साहब आपने जो देखा वह भतीरा नहीं पर सूअर का पेट था तब साहब थू-थू करने लगे।

''ऊपर एक तालाब है उसमें हम लोग तैरते हैं। मेरे पास तो तैराकी जांघिया था जैसा कि इस फोटो से विदित होगा। किन्तु 'प' के पास गंजी का मामूली जांघिया

था। सो साहब तालाब में से निकले तो दिखने लगी जैसे मां के पेट से निकला हुआ नया बालक कुंवर कन्हैया। लोग खूब भर-पेट हंसे। पर साहब को तुम्हारी तरह दृष्टि कम है और तैरने के वक्त चश्मा ताक पर धर दिया था सो लोगों का हंसना भी उन्हें नहीं दिखायी दिया।" यह 'प' पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास थे।

प्रवास के अवसर पर बच्चों को लिखे गये इन पत्रों से स्पष्ट है कि उनके प्रति उनके व्यस्त और बहुधा अनुपस्थित पिता में कितना स्नेह, कैसा ममत्व था। कृष्णकुमारजी बिड़ला कहते हैं, "जब मैं अपने बचपन को याद करने बैठता हूं और तब के पिताजी के बारे में सोचता हूं, मेरे मन में एक नितांत सहृदय और स्नेही व्यक्ति की छवि उभरती है। बल्कि मैं तो कहूंगा कि कभी-कभी पिताजी लाड़-प्यार में थोड़ी अति कर जाते थे।"

बच्चों की शिक्षा-दीक्षा घर में ही होती थी। उनकी मां की मृत्यु से एक वर्ष पहले ही पण्डित उदित मिश्र बच्चों के गार्डियन-ट्यूटर नियुक्त कर दिये गये थे। वह अंग्रेजी, हिन्दी और गणित ही मुख्यतः पढ़ाते थे। श्रीमती बर्क नामक एक अंग्रेज महिला अंग्रेजी के अतिरिक्त अभ्यास करातीं और भूगोल इतिहास जैसे आधुनिक विषय पढ़ातीं, ऐसा कृष्णकुमारजी से ज्ञात हुआ।

कलकत्ता में और वैश्य समाज में समाज सुधारक के रूप में जी. डी. बाबू ने जो भूमिका ग्रहण की थी उसका वह स्वयं बराबर निर्वाह करते रहे। उनके आग्रह से शादी-ब्याह में आडम्बर कम होता चला गया, दहेज को बुरा माना जाने लगा। यही नहीं, मृतक संस्कार के अंतर्गत बिरादरी भोज दिये जाने का भी विरोध किया जाने लगा। इसी विरोध के कारण 1932 में थोड़ी कटुता तब पैदा हुई जब जी. डी. बाबू के साथियों ने रामेश्वरप्रसादजी पोद्दार की तेरहवीं पर आयोजित बिरादरी-भोज का बहिष्कार करवाना चाहा। वे लोग भोज स्थल के फाटक पर जम गये कि जिसे जाना हो हमें लांघ कर ही जाये। जिन लोगों ने इस इनसानी दीवार को फलांग कर बिरादरी भोज में हिस्सा लिया उनमें तरुण ब्रजमोहन बिड़ला भी शामिल था। इस पर बिड़ला परिवार में थोड़ा विवाद होना स्वाभाविक था। आगे चलकर ब्रजमोहनजी ने जी. डी. बाबू के सामने अपनी भूल स्वीकार की।

जी. डी. बाबू के नेतृत्व में बिड़ला परिवार वैश्य समाज में अन्यतम स्थान प्राप्त कर चुका था। जब इसने रूढ़ियों को तोड़ने की दिशा में पहल की तब औरों को भी यह साहस हुआ कि कुरीतियों की बेड़ियां तोड़ें और सामाजिक प्रगति के पथ

पर तेजी से आगे बढ़ें।

इन मामलों में जी. डी. बाबू केवल सैद्धांतिक विरोध के कायल नहीं थे। वह कहते थे कि जो दूसरों से करने को कह रहे हो, जिसके बारे में सामाजिक मंच से प्रवचन कर रहे हो,पहले उसे स्वयं करके दिखाओ। तो जी. डी. बाबू ने मात्र यह कहकर ही संतोष नहीं किया कि नेग-दस्तूर बन्द किये जाने चाहिये, उन्होंने स्वयं बहू-बेटियों, जंवाई-भांजों को नेग-दस्तूर देना बिल्कुल बन्द कर दिया। परिवार वाले कहते हैं कि महादेवीजी के निधन के बाद जी. डी. बाबू की ओर से नेग-दस्तूर किसी को नहीं मिला और महादेवीजी के जीते-जी भी वह सब जी. डी. बाबू के आदेश पर तो क्या होता था। यों तो बाद में बहुएं भी अपनी ननदों और अन्य सम्बन्धियों को जी. डी. बाबू से पूछे बगैर यथावसर यथोचित भेंट देती रहीं बराबर। जहां तक जी. डी. बाबू का प्रश्न है उन्होंने राखी तक पर बहनों को कुछ देना राखी का अपमान करने के बराबर माना। राखी की कीमत रुपये से दी जा सकती है कहीं—ऐसा वह कहते थे।

जयदेवीजी बताती हैं, "बड़ा भाईजी जुगलकिशोरजी पांच गिन्नी देता, और रामेश्वर भाई भी देता, पर घनश्याम भाई कुछ नहीं देता, राखी बंधाने आता जरूर।"

जी. डी. बाबू को यह भी अनुचित जान पड़ता था कि जिन लोगों को पैसा देने का रिश्ता है उन्हें मात्र इसलिए पैसा दे दिया जाये कि अपने पास फालतू है, उनके काम आयेगा। इस स्तर पर पैसा लेना-देना उन्हें अपमानजनक प्रतीत होता रहा। उन्होंने दूसरों को कभी पैसा दिया तो उनकी ट्रस्टों के नाम पर ही, या उनके किसी विशेष कल्याणकारी आयोजन के लिए ही।

जहां इस तरह के मामलों में जी. डी. बाबू आधुनिक या सुधारवादी हो गये वहां स्कूल-कालेज की शिक्षा के बारे में उनकी राय कुल मिलाकर अपने बुजुर्गों वाली ही रही। उनके मन में उच्चतर शिक्षा के प्रति उपेक्षा भाव बहुत आगे जाकर पौत्रों के युग में समाप्त हुआ। पुत्रों के मामले में वह पुरानी रीति पर कायम रहे। लक्ष्मीनिवास को उन्होंने मैट्रिक करते ही 1927 में उद्योग-धन्धे में डाल दिया। गनी और पटसन की दलाली के बाद लक्ष्मीनिवासजी ने सूती कपड़ा मिलों के संचालन का अनुभव प्राप्त किया।

कृष्णकुमार नयी पीढ़ी का पहला प्रतिनिधि था, जिसने विद्यार्जन के प्रति

विशेष रुचि और उत्साह का प्रदर्शन किया। किन्तु उसे भी 1932 में ही जब वह साढ़े तेरह वर्ष का था, विधिवत स्कूल भेजा गया। कलकत्ते के 'इस रेज' स्कूल में मुश्किल से साल भर पढ़ा होगा कि उसे और माधोप्रसाद को जी. डी. बाबू ने आगे पढ़ने के लिए दिल्ली में रख लिया। दोनों 'गीगे' (बालक) इस आज्ञा पर पिनपिनाये।

जी. डी. बाबू ने 26 सितम्बर '33 को चन्द्रकला को सूचित किया, "बच्चे सब यहां हैं। बसन्त तो मोटा-ताजा है, गंगू ठीक-ठीक है, माधो माड़ा है और कृष्ण तो बीमार है। दोनों बेड़े गीगों को यहां रखने का विचार है। दोनों यहां रहने के नाम से घबड़ाते हैं। कलकत्ता इन्हें बड़ा प्यारा है।"

खैर, दोनों बालक दिल्ली आये। माडर्न स्कूल में उन्हें भरती किया गया। छात्रावास में जगह दिलायी गयी कि वहीं रहो। गीगों ने विरोध किया मगर काकोजी माने नहीं। तभी नाजुक सेहत वाले गीगे कृष्णकुमार को निमोनिया ने धर दबाया और वह न स्कूल जा सका, न छात्रावास। गीगा माधोप्रसाद गया लेकिन थोड़े ही दिनों में चीत्कार कर उठा कि मेस का खाना अपन खा नहीं सकते। बोर्डिंग की उधम-धाम में अपन रह नहीं सकते। तब जी. डी. बाबू ने सदय होकर गीगों को वापस कलकत्ता भेजा कि जाओ वहीं ट्यूटरों से पढ़ो और प्राइवेट परीक्षा दो।

जी. डी. बाबू के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी इधर जीवन बीमा के नये व्यवसाय की ओर आकर्षित हुए थे। 1933 में बिड़लाओं ने "दि न्यू एशियाटिक इंश्योरेंस कम्पनी" बनायी और 1936 में "रूबी जनरल इंश्योरेंस"। आगे जब बिड़लाओं ने 'कोयला खनन' में प्रवेश किया तब वह भी लक्ष्मीनिवासजी का ही विशेष क्षेत्र बना।

इसी दौरान पहले पौत्र के जन्म की खुशखबरी मिली। दिसम्बर 1934 में पुत्र लक्ष्मीनिवास के घर बेटा हुआ जिसका नाम सुदर्शन कुमार रखा गया। शुभ संवादों का यह क्रम 1935 में तब आगे बढ़ा जब दूसरे पुत्र कृष्णकुमार ने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी से पास कर दिखायी। समस्त छात्रों में उनका ग्यारहवां स्थान रहा और मारवाड़ी छात्रों में वह प्रथम रहे। प्राइवेट परीक्षा देने वाला बालक, अक्सर बीमार रहने वाला बालक, पच्चीस हजार छात्रों में से ग्यारहवां आये और मारवाड़ी समाज से 'रामदेव-चोखानी स्वर्ण-पदक' पाये, यह बहुत बड़ी बात थी। जी. डी. बाबू ने पुत्र की पीठ थपथपायी, साथ ही उन्होंने यह दोहराना भी आवश्यक समझा कि स्कूल-कालेजों में मिलने वाली किताबी शिक्षा से कहीं

अधिक महत्त्वपूर्ण है जीवन में मिलने वाली व्यावहारिक शिक्षा। इसलिए अब तुम्हें धन्धे-व्यापार की ओर भी ध्यान देना चाहिए। कृष्णकुमारजी का कहना है, ''काकोजी मन में जरूर खुश होते थे मगर मुंह से ज्यादा तारीफ करना उनके स्वभाव में नहीं था।''

इस विषय में लक्ष्मीनिवासजी की भी यही राय है। उनका कहना है कि पिताजी यह अधिक पसन्द करते थे कि बच्चों की प्रशंसा औरों के मुंह से सुनें। जब 'उमा तपस्या' गद्य में लिखी और मालवीयजी ने उनसे उसकी प्रशंसा की तब उन्होंने मुझे फोन किया कि मालवीयजी तुम्हारी तारीफ कर रहे थे, यह तो बड़ी खुशी की बात है। बच्चों से उनके काम के बारे में ज्यादा बात करना या बच्चों की बहुत तारीफ करते रहना यह उनकी आदत नहीं थी। मगर बच्चों का उन्हें कोई काम पसन्द आता तो वह बच्चों को उसे करते रहने के लिए उत्साहित कर देते थे।

जी. डी. बाबू ने आग्रहपूर्वक कृष्णकुमार को अपने बड़े जामाता बंसीधर डागा की फैक्टरी में मैनेजिंग डायरेक्टर नियुक्त करा दिया। साथ ही उन्होंने कृष्णकुमार को यह अनुमति भी दे दी कि वह दिल्ली आकर पढ़ाई आगे जारी रखे। कृष्णकुमार ने हिन्दू कालेज में प्रवेश लिया और विज्ञान को अपने अध्ययन का विषय बनाया। यह पहला अवसर था जबकि बिड़ला परिवार का कोई व्यक्ति कालेज जा रहा था, और विज्ञान पढ़ रहा था।

एक ओर मैनेजिंग डायरेक्टरी, दूसरी ओर पढ़ाई, तीसरी ओर राजनीतिक साक्षरता का वह स्पर्श जो पिता की छत्रछाया में मिल रहा था और चौथी ओर फेफड़ों की कमजोरी से आये दिन हो जाने वाली बीमारी। कहीं पढ़ाई में पिछड़ न जाऊं इस भय से कृष्णकुमार ने ट्यूटर लगवा लिये थे। घर में पढ़ाई ठीक से हो नहीं पाती थी इसलिए वह मोटर साईकिल पर सवार होकर, ट्यूटर को पिछली गद्दी पर बैठा कर बिड़ला हाउस से कुछ ही दूरी पर स्थित वन-प्रदेश में पठन-पाठन करने चला जाता था। प्रसंगवश जहां यह जंगल था वहीं आजकल दिल्ली की राजनयिक बस्ती चाणक्यपुरी है। वन-उपवन कृष्णकुमार को शुरू से ही प्रिय रहे इसलिए उसने उन्हें पढ़ाई-लिखाई के लिए भी उपयुक्त स्थल माना।

इस वन प्रेम के कारण एक दिन ऐसी घटना घटी जिससे 'निस्संग' जी. डी. बाबू का बच्चों के प्रति उत्कट लगाव प्रदर्शित होता है। कृष्णकुमार जी के शब्दों में, ''मैं तब सैकिंड ईयर का स्टुडैंट था। एक दिन पढ़ाई में ऐसा मन लगा कि घर लौटने में घण्टा भर विलंब हो गया। लौटकर देखा कि पिताजी बिड़ला हाउस के

फाटक के बाहर 20 सेवकों और कर्मचारियों के साथ खड़े हैं। अत्यंत व्यग्र हैं। कभी किसी को इधर दौड़ा रहे हैं कभी किसी को उधर। मुझे देखकर उनकी सांस में सांस आयी। पता चला कि इस बीच मेरी चिन्ता के मारे उन्होंने सारी दुनिया सिर पर उठा ली। वह जानते थे कि मैं मोटर साईकिल लेकर पास के जंगल में जाता हूं इसलिए उन्हें चिन्ता होनी नहीं चाहिए थी। लेकिन शायद जंगल और मोटर साईकिल ये दोनों ही उनके वात्सल्यबद्ध मन को चिन्तातुर कर बैठे हों।"

1937 में पुत्र कृष्णकुमार बिड़ला वंश का पहला इण्टर पास व्यक्ति बना। वह आगे पढ़ना चाहता था लेकिन बीमारी ने उसे फिर धर-दबोचा। पुत्र के फेफड़ों के इस पुराने रोग से जी. डी. बाबू अत्यधिक दुःखी रहते थे। बारबार आशंका उठती कहीं तपेदिक न हो। विशेषज्ञों से निदान कराया जाता। किन्तु यह तपेदिक रोग था नहीं। इस बार पांच छः महीने तक गीगा बिस्तर पर पड़ा रहा और काकोजी गहरी चिन्ता में डूबे रहे। बीमारी से उठकर उसने आगे पढ़ने की बात फिर चलायी, प्राइवेट हिन्दी प्रभाकर परीक्षा भी दी जिसके बाद केवल अंग्रेजी परीक्षा देकर बी. ए. की डिग्री मिल सकती थी। किन्तु पिता ने यही कहा कि बी. ए. हो जाने से धन्धे-व्यापार में क्या फर्क पड़ना है। तात्कालिक वैश्य मानकों के अनुसार कृष्णकुमार के धन्धे में डाल दिये जाने में पहले ही काफी विलम्ब हो चुका था।

कृष्णकुमारजी को व्यावसायिक प्रशिक्षण जिस रीति से दिया गया वह इस विषय में जी. डी. बाबू के दृष्टिकोण का पूरा और अच्छा परिचय देती है। इसलिए मैं यहां कृष्णकुमारजी के अनुभव को बिड़लाओं की दूसरी और तीसरी पीढ़ी के सभी लोगों के प्रतिनिधि अनुभव के रूप में उद्धृत करना चाहूंगा। "यों तो पिताजी ने मुझे बड़े जीजाजी की फैक्टरी के मैनेजिंग डायरैक्टर के रूप में व्यवसाय से संबद्ध कर दिया था, लेकिन विधिवत् 1938 में ही इस क्षेत्र में आया। व्यवसाय सीखने के लिए मुझे दिल्ली से कलकत्ता भेजा गया। वहां मैंने बिड़ला जूट और केशोराम के लेखा-विभाग में काम सीखना शुरू किया। रोकड़ बनाना, बही नकल करना, बैलेंसशीट बनाना, पड़ता तैयार करना और इसी तरह के तमाम काम मैंने सीखे। पिताजी ने उद्योग-संचालन, वित्त-प्रबन्ध, और अर्थ-नियन्त्रण के अपने जो खास तरीके निकाल रखे थे वे उनसे काम सीखे हुए मैनेजरों ने मुझे सिखाये। बिड़ला जूट में तो मैं बहुत थोड़े दिन रहा। ज्यादा रहा केशोराम में। वहां मैंने छः महीने तक इस तरह काम किया मानो मैं भी लेखा-विभाग का एक साधारण कर्मचारी हूं। बीच-बीच में पिताजी मुझे बुलाते व मुझसे काम के बारे में जवाब तलब करते। मेरे बारे में वह लेखा-विभाग के अधिकारियों से भी बराबर पूछताछ करते कि

खड़े हुए बायें से: पुत्री चन्द्रकला, पुत्र बसन्तकुमार, पुत्री अनुसूया एवं शान्ति
बैठे हुए – ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवास, घनश्यामदास बिड़ला, एवं पुत्र कृष्णकुमार

कैसा काम कर रहा है ? उनसे कहा जाता कि इस बारे में हमेशा सही-सही सूचना दें। केशोराम के बाद मुझे जियाजी राव काटन मिल्स ग्वालियर भेजा गया। वहां मैंने तीन-चार महीने ट्रेनिंग ली। इस प्रशिक्षण क्रम में मुझे सभी विभागों में काम सिखाया गया और उत्पादन तथा प्रशासन के हर क्षेत्र का परिचय दिया गया। जैसे ही मेरा प्रशिक्षण पूरा हुआ, और मुझसे बातचीत करके पिताजी ने यह तय पाया कि मैं स्वतंत्र रूप से उद्योग देख सकता हूं,उन्होंने 1939 में टेक्समैको मुझे सौंप दी। शुरू से ही मैं इस कम्पनी को देखता आया हूं। पिताजी ने मुझे एक पूरी कम्पनी का चार्ज दिया इससे उत्साहित होकर तुरन्त ही बी. एम. चाचाजी की देखरेख में चीनी उत्पादन के नये क्षेत्र में भी कदम रख दिया।''

इसमें रेखांकित करने वाली बात यह है कि मालिक के बेटे को साधारण कर्मचारी की तरह काम सीखना और करना पड़ा। प्रशिक्षार्थी पुत्रों और पौत्रों से जी. डी. बाबू ने सदा यही कहा कि जिन प्रबन्धकों के नीचे तुम्हें काम सीखने भेजा जा रहा है उनसे काम सीख तभी सकोगे जब सचमुच अपने को उनके मातहत मानोगे। स्वामित्व वाले भाव से जाओगे तो सिफर के सिफर लौट आओगे।

कृष्णकुमारजी बताते हैं, ''जब मैंने व्यवसाय में कदम रखा तब पिताजी ने दो ही बातें जोर देकर कहीं। पहली यह कि जीवन के हर क्षेत्र में ईमानदारी बहुत बड़ी चीज है। खुद अपने से ईमानदार रहो और लोग भी ऐसे चुनो जो तुम्हारे प्रति ईमानदार रहें। इसके अलावा रोजमर्रा के कामकाज से तुम जितना अधिक सम्पर्क रख पाओ जरूर रखो। उद्यमी बनो, मात्र उद्योग-स्वामी नहीं।''

कृष्णकुमारजी की तरह आगे चलकर बसन्तकुमारजी ने भी बी. ए. पढ़ने का आग्रह किया। किन्तु यह जी. डी. बाबू को स्वीकार नहीं हुआ। इण्टर पास करके पहले उन्हें केशोराम मिल में ट्रेनिंग दी गयी और फिर इसी मिल का चार्ज उन्हें सौंप दिया गया। इसी के बल पर वह आगे से आगे स्वयं बढ़ते गए।

घर-परिवार में यह सब हो रहा था और उधर राजनीति के क्षेत्र में जी. डी. बाबू सिविल नाफरमानी और मिल के कपड़े जैसे मामलों में महात्मा गाँधी से कुछ दूर और अलग पड़ते जा रहे थे। विचित्र किन्तु सत्य कि इस अलगाव के बाद और इस अलगाव के बावजूद गाँधीजी से जी. डी. बाबू की निकटता बढ़ रही थी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि ये दोनों ही व्यक्ति मूलत: अथवा अंतत: राजनीतिक प्राणी थे नहीं। गाँधीजी समाज सुधार का व्रत लेकर निकले थे और उनका कार्यक्रम इतना व्यापक था कि उसमें जी. डी. बाबू राजनीतिक मतभेदों के

बावजूद पूरे उत्साह से कहीं न कहीं योगदान कर सकते थे। तो वह महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार के आन्दोलन से, अस्पृश्यता उन्मूलन की मुहिम से, घनिष्ठ रूप से जुड़ गये। जब 1932 में अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ की स्थापना की गयी तब जी. डी. बाबू को ही उसका अध्यक्ष बनाया गया। इसके बाद अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश दिलवाने का कानून बनवाने की कोशिशें तेज हुईं। केन्द्रीय धारा सभा में इस आशय का विधेयक पास करवाने के लिए सरकारी प्रोत्साहन जरूरी था लेकिन सरकार इस मामले में उदासीन बनी रही। जी. डी. बाबू ने इस विधेयक के पक्ष में जनमत तैयार करने और सरकार को इसके लिए राजी करने की खातिर बहुत बड़ा परिश्रम किया।

गाँधीजी के जो आश्रम थे उन्होंने उनमें न केवल आर्थिक योगदान दिया बल्कि स्वयं भी आते-जाते रहे। स्वयं सूत कातते और पहनते रहे और परिवार वालों से भी इस नियम का पालन करने को कहा। गाँधीजी के आश्रम में रहने में उन्हें बहुत आनन्द आता था। अच्छी मित्र-मण्डली थी। जमनालालजी बजाज तो कलकत्ते के ही पुराने साथी थे। सरदार पटेल जैसे कई व्यक्ति और इस बीच घनिष्ठ मित्र बन गये थे। आश्रम में इस मण्डली में आपस में खूब हंसी-मजाक चलता रहता। दामोदरदासजी मूंदड़ा बताते हैं कि आश्रम में जी. डी. बाबू और सरदार पटेल अपने विनोदी स्वभाव के लिए मशहूर थे। जब खाना परोसा जाता तब जी. डी. से सरदार कहते, "अरे आपको मीठी चटनी नहीं परोसी गयी।" जी. डी. कहते, "अरे वो चटनी थी! मैं तो समझा हलवा है।" सरदार कहते, "जो इतना सा परोसा जाये उसे हलवा कहें कि चटनी।" भोजन करवाने के इन्चार्ज जमनालालजी इन बातों को अनसुनी करते तब जी. डी. बाबू कहते, "जमनालालजी कम सुनते हैं और अपने मतलब की बातें ही सुनते हैं।" अगर इस टीका-टिप्पणी पर कोई व्यक्ति और हलवा लेकर आग्रहपूर्वक परोसना चाहता तो जमनालालजी कहते, "अरे इन लोगों के बहकावे में मत आना। अपने यहां की मर्यादा यही है कि किसी से आग्रह न किया जाये।" ऐसा विनोद चलता रहता।

अन्ततः 5 जनवरी, 1933 को कश्मीर से लेकर केरल तक मन्दिर-प्रवेश दिवस मनाया जा सका। जब अगस्त, 1933 में गाँधीजी ने साबरमती आश्रम वाला अपना काम समेट लिया और वर्धा चले गये तब साबरमती की कुछ सौ एकड़ भूमि उन्होंने हरिजन सेवक संघ को सौंप दी। जी. डी. बाबू की देखरेख में यहां हरिजन लोगों को बसाने तथा हरिजन लड़कियों को अच्छी और उपयोगी शिक्षा देने की व्यवस्था की गयी।

इधर साबरमती में हरिजनों के उद्धार का काम चल रहा था और उधर लन्दन में ब्रिटिश सरकार यह सोच रही थी कि कांग्रेस के पूर्ण स्वराज्य के आग्रह को किस तरह निरस्त करे। वह भारतीयों को प्रान्तीय स्तर पर प्रशासन के अत्यन्त सीमित अधिकार देने का एक अधिनियम बनाने में जुटी हुई थी। वह यह कहना चाहती थी कि भारत के लोग होते-होते ही पूर्ण स्वराज्य के लिए पूरी तरह तैयार हो सकेंगे। कांग्रेसी लोग आमतौर से और वामपन्थी कांग्रेसी खासतौर से इस स्थापना के विरोध में थे। ब्रिटेन सरकार ने 1935 में भारत सरकार अधिनियम बना दिया, जिसका भारत में व्यापक विरोध हुआ। उधर जी. डी. बाबू की राय यह थी कि प्रान्तीय सरकार चलाने का जो सीमित अधिकार दिया जा रहा है,कांग्रेस को फिलहाल उसका ही लाभ उठाना चाहिए। वह यह भी समझते थे कि कोशिश करने पर ब्रिटिश सरकार से कुछ और रियायतें मिल सकेंगी।

इसी उद्देश्य को आपसी बातचीत से पूरा करने जी. डी. बाबू सन् 1935 में इंग्लैण्ड गये और वहां के सत्ताधारी लोगों, विशेषकर प्रधानमन्त्री बाल्डविन और लार्ड लिनलिथगो से मिले। सितम्बर, 1935 में लौटकर उन्होंने गाँधीजी को अपनी रिपोर्ट दी जो पहले तो गाँधीजी को कम जंची पर आखिर उन्हें राजी कर लिया गया कि वह ऐसी कोई टिप्पणी नहीं देंगे जो समझौते के मार्ग में रोड़ा बने। आखिरकार, सात प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें बनीं।

यह घटनाक्रम जी. डी. बाबू के लिए जितने संतोष का विषय था,वामपन्थी कांग्रेसियों के लिए उतना ही असन्तोष का। आरम्भ से ही उन्हें जी. डी. बाबू जैसे पैसे वाले लोगों का गरीबों के मसीहा गाँधी के साथ जुड़ना और जोड़ा जाना नितान्त सन्दिग्ध मालूम हुआ था। मोतीलाल नेहरू तो स्वराजी थे, वामपन्थी नहीं, लेकिन उन्होंने भी 1927 के धारा-सभा चुनावों के अवसर पर, जिनमें जी. डी. बाबू ने मोतीलालजी के दल को आर्थिक सहायता नहीं दी थी, गाँधीजी से शिकायत की थी कि घनश्यामदास बिड़ला तो मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपतराय को नेतृत्व दिलाने में जुटे हुए हैं। मोतीलालजी के बेटे जवाहरलाल नेहरू तो घोषित वामपन्थी थे लिहाजा उन्हें कांग्रेस से जुड़ा हुआ यह उद्योगपति कुछ विशेष जमा नहीं जिसकी राजनीति का प्रमुख उद्देश्य भारतीय उद्योगपतियों के लिए आवश्यक सुविधाएं जुटाना जान पड़ता था और जो क्रांतिकारिता की जगह समझौतावादी नीति प्रतिष्ठित करने के लिए यत्नशील था।

जी. डी. बाबू ने कभी इस बात का छिपाव नहीं किया कि भारतीय उद्यम की प्रगति मेरी राजनीति का मुख्य लक्ष्य है। जहां भी अंग्रेजों ने भारतीय उद्यम के रास्ते

में रोड़े डाले,उन्होंने डटकर उनका विरोध किया। उदाहरण के लिए 1920-21 में जी. डी. बाबू का यह यत्न रहा कि भारत को वित्तीय मामलों में,मुद्रा सम्बन्धी मामलों में पूरी स्वायतता मिले। फिर 1922-24 में उन्होंने भारत सरकार की उस मुद्रा-नीति की आलोचना की जिसके अनुसार पौण्ड के मुकाबले में रुपये की कीमत घटायी जा रही थी। अनन्तर केन्द्रीय धारा-सभा के सदस्य के रूप में उन्होंने उद्योग-व्यापार के मामले में अंग्रेजों को प्राथमिकता दिये जाने का सदा विरोध किया। 1930 के दूसरे गोलमेज-सम्मेलन में उन्होंने प्रस्तावित भारत सरकार अधिनियम की ऐसी हर व्यवस्था का विरोध किया जिससे भारतीय अर्थतन्त्र पर ब्रिटेन का शिकंजा कसा रहता।

भारतीय उद्योग के प्रतिनिधि होने से एक पेंच यह जरूर पड़ सकता था और पड़ा कि जी. डी. बाबू भारतीय राजनीति की उन धाराओं और प्रवृत्तियों का समर्थन न कर पाये जिनसे नया-नया उभरता भारतीय उद्योग किसी भी तरह के संकट में पड़ सकता। जी. डी. बाबू ने मार्क्स को पढ़ा था और वह इस बात से भली भांति परिचित थे कि मार्क्स के अनुयायियों ने रूस में क्रान्ति कर दी है और इस क्रान्ति से कई देशों में युवा मानस चमत्कृत हुआ है। जी. डी. बाबू वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति की बातें भारतीय समाज और उद्यम दोनों के लिए संकटप्रद मानते थे। गरीबों का उद्धार हो, गरीबी दूर की जाये, जीवन-यापन के स्तर पर अमीरों-गरीबों में अधिक भेद न रहे और अमीर अपने को अर्जित धन का स्वामी नहीं न्यासधारी समझें—इस तरह की गाँधींवादी स्थापनाओं का जी. डी. बाबू बहुत हद तक समर्थन और परिपालन करने को प्रस्तुत थे, लेकिन गरीबी के उन्मूलन के लिए क्रान्ति कर दी जाये—यह स्थापना उन्हें अमान्य थी।

इसका एक सीधा नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस के भीतर के समाजवादी बनाम गाँधीवादी विवाद में जी. डी. बाबू राजगोपालाचारी, सरदार पटेल, राजेन्द्र प्रसाद और गोविन्द वल्लभ पन्त जैसे गाँधीवादियों के साथ रहे। इससे उनके और जवाहरलाल नेहरू के मध्य एक खाई बन गयी क्योंकि जवाहरलाल नेहरू चौथे दशक की राजनीति में समाजवादी, आधुनिक और क्रान्तिकारी जैसे विशेषणों से विभूषित धारा के अन्यतम प्रवक्ता थे और भारतीय युवाओं के हृदय सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। कभी-कभी ऐसा भी लगता था मानो नेहरूजी और गाँधीजी में बुनियादी मतभेद है। मगर एक अन्य स्तर पर नेहरूजी महात्मा गाँधी का नेतृत्व स्वीकार कर चुके थे और उधर गाँधीजी भी नेहरू को अपने राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में सामने ला रहे थे। इसलिए नेहरूजी का गाँधीजी से झगड़ा नहीं हुआ मगर गाँधीवादियों के विषय में उनके मन में यह संशय बना रहा कि वे दक्षिणपन्थी हैं इसलिए उनके मार्ग में रुकावट डालना चाहते हैं।

नेहरूवादियों और गाँधीवादियों के बीच की खाई पाटने की बड़ी कोशिश 1936 के लखनऊ अधिवेशन में की गयी जिसमें जवाहरलाल नेहरू को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। किन्तु कुल मिलाकर नेहरूवादियों के मन में यह धारणा बनी कि यद्यपि हमारे नेता को अध्यक्ष-पद दिया गया है तथापि नीतियों के स्तर पर उसे विशेष कुछ करने दिया नहीं जा रहा है। स्वयं नेहरूजी ने लिखा, "कांग्रेस ने मेरे कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव ठुकरा दिये और पुराने नेतृत्व को अपना पूरा समर्थन दिया। मैंने अपने को कांग्रेस में अल्पमत में पड़ता पाया और मेरे मन में कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर बने रहने के औचित्य के बारे में शंकाएं उठीं।"

कांग्रेस की कार्यकारिणी में सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू, राजाजी जयरामदासजी दौलतराम, जमनालालजी बजाज, शंकरावजी देव और आचार्य कृपलानी ये सात "दक्षिणपन्थी" और जयप्रकाश बाबू, आचार्य नरेन्द्रदेव और अच्युत पटवर्द्धन ये तीन "वामपंथी" रखे गये। इससे भी नेहरूजी को बहुत निराशा हुई। आगे चलकर कार्यकारिणी में तनाव बढ़े। पहले उसके "गाँधीवादी सदस्यों ने और बाद में स्वयं नेहरूजी ने त्यागपत्र देने की पेशकश की। गाँधीजी के बीचबचाव से मामला रफा-दफा हुआ, लेकिन एक दरार तो पड़ ही गयी। कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू की कार्यकारिणी के सातों गाँधीवादियों से और कम से कम एक वामपन्थी जयप्रकाश नारायण से जी. डी. बाबू का निकट का सम्बन्ध था इसलिए नेहरूवादियों के मन में जी. डी. बाबू के प्रति सन्देह की एक गांठ पड़ गयी जो कभी पूरी तरह नहीं खुली।

इन्हीं दिनों बम्बई के उद्योगपति कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू के तेज-तर्राट भाषणों से इतने आंतकित हो उठे थे कि उन्हें लगता था कि कांग्रेस और नेहरू का समर्थन करना अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारने के बराबर है। उन्होंने कांग्रेस और नेहरू दोनों का खुला विरोध करने की नीति अपनायी। जी. डी. बाबू को यह विरोध बहुत गलत मालूम हुआ। वह समझते थे कि उद्योगपतियों को यह तर्क देना चाहिए कि देश के आर्थिक विकास और समाज की उन्नति के लिए निजी उद्यम और पूंजी वाला तरीका बेहतर है। उनका यह कहना कि समाजवाद का हम इसलिए विरोध करते हैं कि वह हमारी सम्पदा समाज-हित में छीन लेने की बात करता है, दिमागी दीवालियेपन का और पहले दर्जे की खुदगर्जी का नमूना पेश करना है। तो उन्होंने कांग्रेस-विरोधी उद्योगपतियों, जिनमें से 21 ने बम्बई से अपना घोषणापत्र जारी किया था, को कसकर फटकार सुनायी। उन्होंने कहा कि भारतीय उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति अगर कोई करा सकता है तो कांग्रेस ही। जो उद्योगपति नेहरूजी की क्रान्तिकारिता से आतंकित थे उनसे उन्होंने कहा कि नेहरू

लोकतन्त्र-विश्वासी हैं इसलिए कोई अतिवादी काम नहीं करेंगे और सब की राय लेकर ही चलेंगे। वह अपनी विचारधारा अवश्य सामने रखते हैं, लेकिन अगर उसे व्यवहार में उतारना असम्भव हो तो उसके लिए हठ नहीं करते।

नेहरू के समाजवाद को बहुत खतरनाक न माना जाना, इस बात की चर्चा करना कि क्रान्तिकारी नेहरू गरजेंगे मगर बरसेंगे नहीं—यह भी नेहरूवादियों को नाखुश करने वाली ही बात थी। उस जमाने में जी. डी. बाबू ने लन्दन में अगाथा हैरिसन को जो पत्र भेजा उससे तीन बातें स्पष्ट हुईं। पहली यह कि वह नेहरू के समाजवाद के समर्थक नहीं। दूसरी यह कि उन्हें विश्वास है कि कांग्रेस के नीति सम्बन्धी मामलों में नेहरूजी का क्रान्तिकारी समाजवाद बहुत दूर तक चल नहीं पायेगा। तीसरी यह कि स्वयं गाँधीजी इन मामलों में नेहरू से सहमत नहीं हैं। जहाँ जी. डी. बाबू ने नेहरूजी के क्रान्तिकारी समाजवाद का विरोध किया वहां तमाम नेहरू-विरोधियों से यह भी कहा कि भारतीय गांवों के उद्धार के लिए, गरीब जनता के त्राण के लिए बड़े पैमाने पर अपने ढंग से काम करना बहुत जरूरी है। ऐसा किये बगैर नेहरू के समाजवाद की आलोचना करना निरर्थक है।

बहरहाल, बहुत घनिष्ठता भले ही न रही हो लेकिन व्यक्तिगत और सैद्धान्तिक स्तर पर ज़वाहरलालजी और जी. डी. बाबू का वैचारिक आदान-प्रदान बराबर बना रहा। पण्डितजी की उनसे विभिन्न विषयों पर चर्चा तो रहती ही थी। अपनी किसी छोटी-मोटी निजी समस्या को जी. डी. बाबू के सामने रखने में भी वह संकोच न करते थे। 1942 में पैट्रोल का संकट बहुत बढ़ गया था। पण्डितजी उन दिनों अपने जीजा रणजीत पण्डित की गाड़ी का प्रयोग करते थे। लेकिन पैट्रोल की कमी के कारण उन्हें दिक्कत हुई तो उन्होंने पहले की तरह साइकिल इस्तेमाल करने की सोची। 8 जनवरी 1942 को आनन्द-भवन से लिखे एक पत्र में पण्डितजी ने जी. डी. बाबू को अपनी कठिनाई बतायी। उन्होंने लिखा, ''मैं नहीं चाहता कि कोई विदेशी साइकिल खरीदूं। मुझे उम्मीद थी कि मुझे कोई नयी हिन्द साइकिल बाजार से मिल जायेगी। लेकिन मिली नहीं। क्या बता सकते हैं कि कहां से मिल सकेगी?''

राजनीति में व्यस्त होने का अर्थ यह नहीं था कि जी. डी. बाबू उद्योगपति के रूप में अपनी भूमिका बिसरा बैठे थे। सच तो यह है कि इसी दौर में, इसी दशक में वह उद्योग-धन्धों के विषय में अपनी समझ और अपनी पकड़ का विकास-विस्तार कर रहे थे। घण्टों फैक्टरियों में बिताना, मामूली सेल्समैन से लेकर मुख्य-प्रबन्धक तक हर कर्मचारी से सीधा सम्पर्क रखना , विदेशी विशेषज्ञों से परामर्श करना,

यह उनकी दिनचर्या का प्रमुख अंग था। इन्हीं दिनों उन्होंने उद्योग संचालन की, आर्थिक नियन्त्रण की, ऐसी पद्धतियां विकसित कीं जिनसे उनके उद्योग लगभग स्वतः ही चलते रहें, कम से कम निर्देश देने से काम चल जाये और प्रबन्धक भी ऐसे हों जो उनसे 'नैट बात' (सार की बात) ही पूछें-समझें और बाकी काम जी. डी. बाबू की निकाली हुई पद्धति के अनुसार अपने आप ही चलाते रहें। उस दौर में उद्योग-प्रबन्ध के क्षेत्र में जी. डी. बाबू के निर्देशन में तेजी से उभरे हुए दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया, मुरलीधरजी डालमिया, ताराचन्दजी साबू, रामलालजी राजगढ़िया जैसे पुराने लोगों का कहना है कि जी. डी. बाबू ने उद्योग चलाने की ऐसी 'पड़ता-प्रणाली' बनायी और उद्योग-प्रबन्धकों पर इतना भरोसा किया कि उन्हें सार्वजनिक जीवन के लिए पर्याप्त समय मिल सका। सार्वजनिक जीवन में उन्होंने जो कुछ किया उससे भी अन्ततः भारतीय उद्योग और भारतीय उद्यम का ही हित-साधन हुआ। इसलिए कहा जा सकता है कि जी. डी. बाबू ने उद्योग-संचालन की ऐसी रीति-नीति अपनायी जिससे उन्हें रोजमर्रा की छोटी-मोटी बातों में न उलझना पड़े और औद्योगिक जगत् की आधारभूत और वृहत्तर समस्याओं का समाधान करवाने के लिए पर्याप्त समय मिल सके।

1934 के आस-पास जी. डी. बाबू के मन में यह बात उठी कि एक सूती मिल बम्बई में बैठायी जाये। तभी उनका ध्यान इस ओर गया कि पंजाब में बहुत बढ़िया किस्म का कपास उगाया जा रहा है। जहां बढ़िया कपास की खेती हो रही है क्यों न वहीं अपनी सूती मिल लगवायें! इस विचार से 1935 में लाहौर के पास ओकरा में जमीन लेकर सूती मिल की स्थापना आरम्भ कर दी। 'सतलज काटन मिल' नामक यह फैक्टरी 1937 में बनकर तैयार हो गयी और उत्तर भारत की प्रमुख सूती मिलों में गिनी गयी। प्रसंगवश यह मिल विभाजन के बाद बिड़लाओं के अधिकार क्षेत्र से निकल गयी और इसके मुआवजे का मामला आज तक नहीं निपट पाया। किन्तु इस प्रतिष्ठान का सारा पूंजी नियोजन बिड़लाओं के अधिकार में रहा और आगे जाकर जी. डी. बाबू ने इसके सारे अधिकार कृष्णकुमारजी को दे दिये।

इस बीच बम्बई में रामेश्वर भाईजी शेयर बाजार, वित्त प्रबन्ध, विक्रय और सूती तथा अन्य उद्योगों में अच्छा नाम कमा रहे थे। भाइयों में उन्हें ही शेयर बाजार और पूंजी बाजार का विशेषज्ञ माना जाने लगा था। ब्रजमोहन भाई कलकत्ता में नित नये क्षेत्रों की खोज में जुटे हुए साहसी उद्योगपति के रूप में उभर कर अपने घनश्याम भाईजी की परम्परा को आगे बढ़ा रहा था। उसने चीनी, कागज, मोटरकार इन तीन नये क्षेत्रों में चौथे दशक में कदम रखा। साथ ही जीवन बीमा के नये व्यवसाय को भी बिड़ला उद्यम में सम्मिलित किया। इस प्रकार तीनों

भाई उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में तेजी से आगे बढ़ रहे थे। और उसी समय चौथे और सबसे बड़े भाई जुगलकिशोर उतनी ही तेजी से उद्योग-व्यापार की दुनिया से दूर सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए काम कर रहे थे। व्यवसाय से उनकी अब कोई दिलचस्पी रहं नहीं गयी थी। मन्दिरों के निर्माण और जीर्णोद्धार का काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया था और इस सिलसिले में कई ट्रस्ट बना दिये थे।

भारत की राजधानी दिल्ली में वैसा कोई विराट मन्दिर नहीं जैसा कि दक्षिण भारत में अनेक स्थानों पर है—यह जुगलकिशोर जी को बहुत खलता था। उन्होंने नयी दिल्ली में एक ऐसा मन्दिर बनवाने का फैसा किया जो दक्षिण भारत के मन्दिरों की तरह आराधना-स्थल के साथ-साथ सामुदायिक-सांस्कृतिक केन्द्र का भी काम करे। 1938 के शुरू में यह लक्ष्मीनारायण मन्दिर बनकर तैयार हो गया। इसमें 'लक्ष्मीनारायण' ही नहीं अन्य कई देवी-देवता प्रतिष्ठित किये गये और उनके लिए अलग-अलग गर्भ-गृह बनाये गये। यहां तक कि बौद्ध विहार भी। फिर चैत्र कृष्ण त्रयोदशी 1938 को महात्मा गाँधी ने यह मन्दिर राष्ट्र को समर्पित किया। 50 हजार से ज्यादा लोग उद्घाटन समारोह में उपस्थित थे। किन्तु एक वह व्यक्ति नहीं था जिसे जुगलकिशोरजी उस दिन वहां देखना चाहते थे-काकोजी राजा बलदेवदास। बलदेवदासजी से जुगलकिशोरजी ने ही नहीं, जी. डी. बाबू ने भी बहुत अनुरोध किया कि आप मन्दिर देखने आइये, मगर वह माने नहीं। उन्होंने कहा, "अपनी मां को ले जाओ, मैं तो तुम्हारी कीर्ति यहीं पर सुनकर खुश हूं। इस तरह जाने से तो मोह बढ़ता है।"

जी. डी. बाबू ने इस मामले में ज्यादा जिद नहीं की। उनकी बहन जयदेवीजी का कहना है कि इस तरह के मामलों में हमारे काकोजी और घनश्याम भाईजी दोनो ही निस्संग और तटस्थ होना जानते हैं। मान-मनुहार न करते थे न करवाते थे। तो घनश्याम भाईजी ने काकोजी से कह दिया कि आप मन्दिर देखने नहीं जाना चाहो तो आपकी मर्जी। काकोजी न उद्घाटन के अवसर पर और न बाद में कभी नयी दिल्ली का लक्ष्मीनारायण मन्दिर देखने गये।

उधर राजनीतिक क्षेत्र में जी. डी. बाबू का अब भी यही प्रयत्न था कि अंग्रेज सीधे गाँधीजी से बातचीत करें क्योंकि जिस चीज के लिए वह गाँधीजी को राजी कर लेंगे उसे कांग्रेस मान लेगी। जी. डी. बाबू उन लोगों में से थे जो कुछ न मिलने से 'डोमेनियन स्टेटस' मिलना ही बेहतर समझते थे। पूर्ण स्वराज न होने से तो यह निश्चय ही अच्छा है कि अधिकतर मामलों में स्वराज हो और एक औपचारिक स्तर पर ही ब्रिटेन का वर्चस्व हम पर बना रहे। कांग्रेस दल 'डोमेनियन स्टेटस' लेने

के पक्ष में नहीं थी। जी. डी. बाबू के आग्रह पर, और उनके ही यत्न से जुलाई 1937 में नये वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने महात्मा गाँधी को बातचीत के लिए आमन्त्रित किया। बातचीत बहुत सद्भावनापूर्ण रही। किन्तु गाँधीजी पूर्ण स्वराज के लक्ष्य से टस से मस नहीं हुए और न वायसराय ने ही कोई बड़ी रियायत देने का प्रस्ताव किया। बातचीत के बाद गाँधीजी ने जी. डी. बाबू को सन्देशा भेजा कि इस तरह के व्यक्तिगत सम्पर्कों से आज की परिस्थितियों में कुछ खास हासिल हो नहीं सकता, इसलिए मेरी और ब्रिटेन सरकार के प्रतिनिधियों की बातचीत कराने की अब और कोशिश न करो।

शीघ्र ही यूरोप में स्थितियां हिटलर के उत्पात के कारण तनावपूर्ण हो गईं और दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया। ब्रिटेन सरकार ने यह माना कि भारत हमारे साम्राज्य का एक अंग होने के नाते इस युद्ध में हमारी तरफ से शामिल है। यह स्थापना न गाँधीजी को स्वीकार थी और न कांग्रेस को। देश के नेता चाहते थे कि अंग्रेज भारत को स्वाधीन कर दें और युद्ध के सन्दर्भ में क्या करना है अथवा नहीं करना है, यह निर्णय स्वाधीन भारत के नेताओं पर छोड़ें। अंग्रेज शासक युद्ध की उलझनों के बीच स्वाधीनता के विषय में कोई बातचीत करने को तैयार नहीं थे और उनका कहना था कि यह सब युद्ध के बाद हो सकता है।

अंग्रेजों के इस दृष्टिकोण के विरोध में सातों प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। तनातनी की राजनीति शुरू हुई और बातचीत की राजनीति पृष्ठभूमि में चली गयी। इसके साथ ही राजनीति में जी. डी. बाबू की भूमिका कुछ कम हो गयी। कांग्रेस ने 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द किया। गाँधीजी और नेहरूजी समेत सभी बड़े नेता जेलों में डाल दिये गये। इस दौर में जी. डी. बाबू ने बन्दी राजनीतिज्ञों के पारिवारिक और अन्य हितों की ओर ध्यान देने का काम किया और इस बात की कोशिश भी की कि ब्रिटेन सरकार दमन की नीति छोड़कर फिर बातचीत का रास्ता अपनाये।

जापानी उद्योगपतियों से बिड़ला बन्धुओं के जुगलकिशोर जी के समय से सम्बन्ध थे। और यही जापानी इस समय अग्रजों के खिलाफ लड़ रहे थे और सुभाषचन्द्र बोस जैसे कुछ कांग्रेसी जापानियों के साथ जा मिले थे। स्वाभाविक था कि इस दौर में जी. डी. बाबू से अच्छे सम्बन्धों के बावजूद अंग्रेजों के मन में बिड़लाओं के प्रति सन्देह उपजता। बताया जाता है कि स्वयं लार्ड लिनलिथगो ने एक गोपनीय चिट्ठी में यह लिखा था कि हमें बिड़लाओं को कुचलने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। भारत के धनी लोगों का एक गठबन्धन ऐसा है जो कि जापानियों का

अनुसरण करते हुए और कदाचित जापानियों की सहायता से यह यत्न कर रहा है कि कांग्रेस संगठन और उसके छेड़े हुए राजनीतिक आंदोलन का उपयोग भारत में आर्थिक वर्चस्व प्राप्त करने के लिए करे।

दूसरी बड़ी लड़ाई का दौर भारत के लिए राजनीतिक उथल-पुथल का ही नहीं,आर्थिक हलचल का भी दौर था। अपनी युद्ध सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए अंग्रेजों ने भारतीय उद्यम को प्रोत्साहन दिया और उस पर से कई प्रकार के अंकुश हटा लिये। भारत के अन्य उद्योगपतियों और व्यापारियों की तरह बिड़ला बन्धुओं ने भी बहुत प्रगति की।

सन् 1935-1936 तक बिड़ला ब्रदर्स के 10 बड़े उद्योग थे—4 कपड़े की मिलें, 5 चीनी की मिलें और एक जूट मिल। पहले सट्टा बाजार की तेजी और फिर युद्ध के कारण उनका कार्य-क्षेत्र तेजी से बढ़ा। बिड़ला बन्धुओं के पास अब 22 बड़े-बड़े कारखाने हो गये, जिनकी पूंजी 20 करोड़ थी।

युद्धकाल में जी. डी. बाबू ने अपनी कई पारिवारिक जिम्मेदारियां भी निभायीं।अब जी. डी. बाबू को चिन्ता थी अपनी दूसरी बेटी अनुसूया के विवाह की। इसके लिए वर वस्तुत: घर बैठे मिल गया। उनके मित्र प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका के यहां काम करने वाला युवक नरेन्द्रसिंह तापड़िया एक दिन बिड़ला हाउस आया। जी. डी. बाबू की प्रतीक्षा करते हुए उसने मेज से अखबार उठाया और उसे पढ़ने लगा। जी. डी. बाबू के आने पर उसने अखबार को मोड़-माड़ कर ठीक वहीं, ठीक वैसे ही रख दिया जहां और जैसे जी. डी. बाबू उसे रख गये थे। इससे, जयदेवीजी के शब्दों में, "उन्हें लगा कि लड़का बहुत अच्छा है। पढ़ने-लिखने में दिलचस्पी रखता है। सलीका जानता है। चीजों की सम्हाल करना जानता है।" जी. डी. बाबू ने इसी से अनुसूया का रिश्ता तय कर दिया। यद्यपि बाहर वालों ने यह टिप्पणी की कि लड़के की आर्थिक हैसियत विशेष कुछ है नहीं। न केवल इस प्रसंग में बल्कि और भी तमाम रिश्ते तय करते समय बिड़ला परिवार ने बहुत धनी हो जाने के बावजूद कभी इस बात की कोशिश नहीं की कि दूसरे पक्ष वाले भी उनके जैसे या उनसे भी ज्यादा धनी हों। अनुसूया का विवाह 18 जनवरी, 1941 को बड़ी सुरुचि के साथ कर दिया गया।

इन्हीं दिनों जी. डी. बाबू ने अपनी सबसे छोटी और मुंह लगी बिटिया शान्ति का कृष्णगोपाल माहेश्वरी से रिश्ता किया। बम्बई में यह शादी भी 16 फरवरी 1941 को बहुत धूमधाम से हुई। फरवरी में यह शादी हुई। अप्रैल में शान्ति बाई

की मैट्रिक की परीक्षा थी जो वह तब न दे सकी। कैम्ब्रिज परीक्षा का फार्म भी समय पर नहीं पहुंच सका। इसलिए वह बहुत रोयी-छटपटायी। तब जी. डी. बाबू ने उससे कहा, "असली परीक्षा मैट्रिक की या कैम्ब्रिज की नहीं होती, असली परीक्षा तो वह है जो जीवन में रोजाना चलती रहती है, असली सफलता भी वहीं देखी जाती है। खाली डिग्री लेने से कोई सफल नहीं हो जाता।"

इस विवाह से पहले और बाद में जी. डी. बाबू ने शान्तिबाई को जो पत्र भेजे हैं उनमें उनकी मां और पिता वाली दोहरी भूमिका स्पष्ट है, "तुम पढ़ी-लिखी हो। तुम्हें लोगों की भलाई के कामों में दिलचस्पी लेनी चाहिए। कुछ सेवा भी करनी चाहिए। सेवा बिना जीवन ऐसा है जैसा बिना प्राण का शरीर।"

बच्चों की पढ़ाई-लिखाई में जी. डी. बाबू राजनीतिक और औद्योगिक गहमा-गहमी के उस दौर तक में इतनी रुचि ले रहे थे इसकी झलक शान्तिबाई के नाम लिखे पत्रों में मिलती है, "चिट्ठी की लिखावट और भाषा तेरी काफी अच्छी आवे है। यदि पूरा अभ्यास रखेगी तो लेखिका बन जावेगी। तू गीता पाठ करे सो अच्छी बात है। श्लोक सारा कंठस्थ कर लिये और अर्थ पढ़ती जाये। नहीं समझे तो पूछिये।"

"तुमने फ्रेंच नहीं सीखी इसका अभी कोई पश्चाताप नहीं है। मुझे तो पहले भी इसका मोह नहीं था। हिन्दी और संस्कृत जरूर सीखनी चाहिए। भर्तृहरि का नीतिशतक सारा कंठाग्र कर लो। रामायण की अच्छी-अच्छी चौपाइयां याद करो और गीता के श्लोक भी। पर तुम मेहनत करोगी तब न!"

"नासिक में मन क्यों नहीं लगा, यह तो कोई तारीफ की बात नहीं है। गीता का पहला पाठ तो यही है कि अपने कर्तव्य पर शान्ति से डटे रहो। फिर कातना, पढ़ना, घर का धन्धा करना यह भी तो काम है। तुम्हारी सासू क्या कहेगी, यदि मन नहीं लगता है तो! तुम्हें सब लोग पागल बनायेंगे। इसलिए ऐसा नहीं करना चाहिए। कातना छूट गया है तो वह अब शुरू कर दो। घर में सबकी सेवा करना, सबको खुश रखना, यही धर्म है।"

अपने जामाता कृष्णगोपालजी को भी जी. डी. बाबू बराबर सीख भरे पत्र भेजते रहे:

"जिस दिन तुम हिसाब-किताब में दक्ष बन जाओगे और व्यवहार का ज्ञान

हो जायेगा उस दिन कठिनाई या अन्धकार की तार आकाश की रोशनी में परिणत हो जायेगी। इसमें कोई चिन्ता नहीं है। सीखते जाओ। आत्म-विश्वास रखो। मेरा सदा से ख्याल रहा है कि संसार में महज अक्ल के बल पर कोई नहीं जीत सकता। सफलता की कुंजी लगन, सरलता, अध्यवसाय, गहरा उतरने की आदत और दृढ़ता है। पढ़ना न छोड़ना। काम भी करो और पढ़ते भी जाओ क्योंकि पुस्तकों द्वारा सत-पुरुषों से समागम होता है।"

"असल पढ़ाई तो अब शुरू होगी। अपना व्यवसाय करना है। और अध्ययन तो जारी ही रखना है। जो लोग केवल पैसा कमाने में पड़ जाते हैं उनकी दृष्टि संकुचित हो जाती है। इसी तरह जो लोग केवल पोथी में ही वीर होते हैं वे भी एकांगी बन जाते हैं। हमारे यहां पढ़ना व गुनना दोनों के सम्मिश्रण का माहात्म्य है। गीता के अंत में कहा है ना—**यत्र योगेश्वरो कृष्ण और यत्र पार्थो धनुर्धर** अर्थात् कृष्ण के जैसी नीति हो, समत्व हो, धर्म हो और अर्जुन के जैसा शक्तिशाली हो तो जय है। जोश और होश दोनों की महिमा है। उत्साह और विवेक दोनों रहें। पढ़ना इसीलिए है और उस पढ़ी हुई चीज को काम में लाना और गुनना है। व्यवसाय में सबसे बड़ी चीज है ईमानदारी। अक्सर सच्ची सफलता उन्हें मिलती है जो व्यवसाय में सीधापन रखते हैं। जो लोग अतिशय 'उस्ताद' होते हैं उन्हें क्षणिक सफलता मिलती है। सच्चाई के बिना जय नहीं होती। तुम रामायण, महाभारत और गीता, उपनिषद् सभी पढ़ो और थोड़ा पढ़ो, ज्यादा विचारो। इसके आलावा कोई व्यवसाय भी करना चाहिए। फाटका तो नहीं करना चाहिए।"

इस बीच कृष्णकुमार का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था इसलिए उसकी सगाई विवाह की बात वह उठा नहीं पाते थे। जब उसे पूर्ण स्वास्थ्य लाभ हो गया तब 1940 में उसकी सगाई की फिक्र की। लोग रिश्ते लाने लगे। लेकिन लड़की कोई भी जी. डी. बाबू को पसन्द आयी नहीं। एक अच्छा रिश्ता उस तापड़िया परिवार से भी आया हुआ था जिसमें बी. एम. बाबू की ससुराल थी और जिससे पुरातनपन्थी और नूतनपन्थी माहेश्वरियों के संघर्ष के समय बिड़ला परिवार की कुछ कटुता हो गयी थी। कृष्णकुमारजी का कहना है, "जहां तक मुझे याद पड़ता है विवाह का यह प्रस्ताव मेरी काकीजी यानी श्रीमती बी. एम. की ओर से नहीं आया। और न उन्होंने इसे तय कराने में कोई हिस्सा लिया। दोनों परिवारों के समान मित्र रामकुमारजी केजरीवाल शायद इस विवाह के निमित्त बने हों।"

जयदेवीजी का भी यही कहना है कि रामकुमारजी केजरीवाल ने ही यह शादी ठहरायी और घनश्याम भाईजी का तापड़िया परिवार में पूर्ण सौहार्द स्थापित

करवाया। शादी अगले वर्ष यानी 3 जुलाई, 1941 को बहुत धूमधाम से हुई। यों भी कलकत्ता में सभी पारिवारिक कार्यों में कर्ता धर्ता ब्रजमोहन बाबू ही हुआ करते थे और फिर यह विवाह तो उनके प्रिय भतीजे कृष्णकुमार का था। कृष्णकुमारजी के शब्दों में, "शादी में सारा इन्तजाम बी. एम. चाचाजी का था, उन्होंने किसी भी चीज में कोई कसर नहीं रखी थी। लड़की पिताजी की देखी हुई थी और रिश्ता उन्हें पसन्द था इसलिए इस विवाह के अवसर पर उनमें भी बहुत उत्साह था।"

बच्चों के ज्ञानवर्धन के प्रति अपने पिता की रुचि का स्मरण करते हुए कृष्णकुमारजी कहते हैं, "पिताजी के मन में औपचारिक शिक्षा के प्रति भले ही बहुत अधिक श्रद्धा न रही हो, विद्या में उनकी बहुत आस्था थी और विद्यार्जन के प्रति उनकी बहुत सहानुभूति थी। वह बराबर यह कोशिश करते कि उनके बच्चे अधिक से अधिक विषयों का अच्छा से अच्छा ज्ञान प्राप्त करें। अधिक से अधिक भाषाएं सीखें। शुद्ध बोलें और शुद्ध ही लिखें।"

इसी सन्दर्भ में लक्ष्मीनिवासजी का कहना है कि, "काकोजी बच्चों को हर मामले में पूरे धैर्य से सलाह देते थे। जितनी बार पूछो उतनी बार समझाते थे। किसी भी चीज में किसी बच्चे की रुचि हो तो उसकी पीठ थपथपाते कि अब इसमें जुट जाओ पूरी तरह से।"

यही नहीं,जी. डी. बाबू इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि उनके बच्चों को अच्छी संगति मिले। वे कहां जाते हैं, किसके साथ उठते-बैठते हैं, इस पर उनकी निगाह रहती थी। चन्द्रकला बाई कहती हैं, "हम लड़कियों की संग-सोहबत के बारे में तो काकोजी और भी ज्यादा सतर्क रहते थे।"

अपने बच्चों को उन्होंने हमेशा यह सिखाया कि पिता से कुछ मत छिपाओ। जो कुछ कहना हो विस्तार से कह दो। हर बच्चे की बात वह पूरी सुन लेते मगर कोई भी टिप्पणी नहीं करते। उस बात को सुनने के बाद उन्हें जो उचित मालूम होता वह स्वयं कर देते या करा देते। चन्द्रकला बाई उस दौर को याद करते हुए बताती हैं, "काकोजी कहते चन्द्रा सारी बात बता। मैं उन्हें अपना दुख-सुख पूरा सुनाती। वह ध्यान से सुनते पर चुप रहते। उस बारे में जो कुछ कहना-करना होता, बाद में औरों से कह देते या करवा देते।"

जी. डी. बाबू अपनी पत्नी की जो चीजें सम्भाले हुए थे, वे उन्होंने अपनी तीसरी और अन्तिम पुत्री चन्द्रकला के विवाह के बाद तीनों पुत्रियों में

बराबर-बराबर बांट दीं। इनमें एक नीलम की अंगूठी थी जो उन्होंने शान्तिबाई को दी। यद्यपि जी. डी. बाबू स्वयं इस तरह की चीजों पर विश्वास नहीं करते थे तथापि उन्होंने शान्ति बाई को बताया कि यह अंगूठी बहुत लकी मानी जाती है। लेकिन अगर तुम खो दो तो बहुत बुरा होता है। मैंने इसे तेरी मां के चले जाने के बाद निकाल कर रख दिया था।

शान्ति बाई कहती हैं कि मैंने इस अंगूठी को सिर-आंखों लगाया और बराबर पहने रही, क्योंकि पिताजी के हाथ से कोई चीज हमें जरा मुश्किल से ही मिलती थी। वैसे वह सारा लोक-व्यवहार पूरा करते थे। लेकिन लेन-देन और नेग-दस्तूर में उन्हें विश्वास था नहीं। यों जब भी बाहर जाते बच्चों के लिए उपहार जरूर लाते। इसके अलावा जब लड़कियों को बाजार जाता देखते तब कहते, "देख तू अब बाजार जावेगी तो चार साड़ियां लेकर मेरे नाम बिल भिजवायेगी। मेरे कने रुपया नहीं है।" पर हम कहते कि कोई बात नहीं है काकोजी यदि रुपया नहीं है तो आ जावेगा। वह हंस देते थे। हम उनका इशारा समझकर बाजार जाकर चार साड़ियां खरीद लाते। लेकिन नेग-दस्तूर के वह खिलाफ ही थे। यह सब उनकी ओर से हमारी भाभियां ही करतीं। इसीलिए मैंने काकोजी से मिली अंगूठी को बहुत बड़ी चीज समझा और तब तक पहनी जब तक कि जिद करके कमल ने अपने विवाह के बाद मुझसे उसे मांग नहीं लिया।

नेग-दस्तूर से दूर रहने वाले जी. डी. बाबू यह भी नहीं समझ पाये कि पत्नी की चीजें बहुओं के लिए रखी जाती हैं। बाद में बहुओं ने जब सासूजी की 'सेनाणी' (निशानी) का आग्रह किया तब उनके लिए एक-एक चीज बेटियों से छुड़वायी गयी। जयदेवीजी कहती हैं, "बाद में बसन्ता की बीनणी ने कहा कि सासूजी के हाथ का कुछ होना चाहिये। दूसरी बहुओं ने भी ऐसा अनुभव किया। तब पैसा भर कर उन तीनों के लिए एक-एक चीज ननदों से छुड़वायी। निशानी प्राप्त करने की खातिर ऐसा किया गया। लेकिन दी हुई चीजें वापस मांगना भी असमंजस वाली बात थी।"

जी. डी. बाबू के लिए अन्तिम पारिवारिक दायित्व था छोटे पुत्र बसन्तकुमार का विवाह। बसन्तकुमार का रिश्ता अकोला के प्रसिद्ध समाजसेवी बियाणी परिवार में किया गया। अपनी भावी बहू सरला की तस्वीर जी. डी. बाबू ने अखबार में छपी देखी थी। आर्थिक क्षेत्र में जितना विख्यात बिड़ला परिवार था, विद्या के क्षेत्र में उतना ही विख्यात बियाणी परिवार था। लक्ष्मी और सरस्वती के सफलतम साधकों के परिवारों का यह आपसी सम्बन्ध माहेश्वरी समाज में चर्चा का विषय बना।

विड़लाओं का परिवार बहुत बड़ा था और लोगों में आपस में प्रेम भी बहुत था। किन्तु समाज सुधारक जी. डी. बाबू ने लम्बी-चौड़ी बारात लेकर अकोला जाना गलत समझा। बसन्तकुमार की बारात में कुल 22 लोग गये। बाराती भले ही 22 हों, घराती हजार से ऊपर थे। विदर्भ के लोगों के लिए ब्रजलालजी बियाणी का घर अपना ही घर जो था। जी. डी. बाबू स्वयं बाद में कहा करते थे, "बियाणीजी के प्रति सामाजिक आत्मीयता और स्नेह की शक्ति का उदाहरण तब प्रस्तुत हुआ जब उनके यहां जीमणवार में हम 22 बारातियों के साथ एक हजार लोग औरं जीमने बैठे और उन्हें भोजन स्वयं बियाणी परिवार के लोगों ने ही परोसा और करवाया।" इस प्रकार आदर्श और आमोद-प्रमोद के वातावरण में यह विवाह 30 अप्रैल 1942 को सम्पन्न हुआ।

पिता की पसन्द की पढ़ी-लिखी विदुषी लड़की से विवाह करके 21 वर्षीय बसन्तकुमार का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। उसकी प्रसन्नता से जी. डी. बाबू इतने प्रसन्न थे कि जो लोग विवाह में सम्मिलित नहीं हो सके थे उन्हें इसकी सूचना दे रहे थे। ऐसे लोगों में शान्तिबाई भी शामिल थी, जिसे जी. डी. बाबू ने लिखा, "बसन्त की शादी हो गयी है और बीवी घर आ गयी है। बसन्त खूब खुश हो रहा है।"

विदुषी बहू को जी. डी. बाबू से पत्रों के माध्यम से मार्गदर्शन प्राप्त होने लगा, "तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था और बटुआ भी। बटुआ सुन्दर है और काम भी लगेगा। अच्छा बनाया। संगीत सीखती हो यह भी अच्छा है। अध्ययन में संस्कृत का स्थान होना चाहिए। मेरा ख्याल है तुम संस्कृत का पूर्ण ज्ञान कर लो। इसके अलावा भोजन विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान और सेवा सुश्रुषा विज्ञान भी जानना चाहिए। भोजन पकाना सीखना चहिए।"

"तुम्हारे पत्र अत्यन्त छोटे होते हैं, पढ़ी-लिखी लड़की को कुछ और भी तो लिखना चाहिए! ठलुई तो नहीं रहती हो ना! कातना? गाँधीजी ने विशेष कहलवाया था कि लड़कियां कातें तो मुझे सुख होगा। बसन्त ने हरिजन आश्रम की योजना की थी वह कागज तक सीमित रही। परमार्थ का कुछ काम करना चाहिए। वरना धन के लोभ में तुम लोग कर्तव्य भूल बैठोगे। जो अच्छी बातें हैं उन्हें बढ़ाओ और समय की बरबादी, महज 'खाना-पीना मौज करना' यह आदत न आने दो, तभी कल्याण है। जो लोग अपने जीवन में शुभ कार्य नहीं करते उनका जीवन निकम्मा है इसलिए कुछ करो और शीघ्र करो। घर में सब अच्छे होंगे।"

14 नवम्बर 1943 को दिल्ली में बसन्तकुमारजी की पहली सन्तान का जन्म हुआ, जिसका नाम उसके दादोजी ने आदित्य विक्रम रखा। बच्चे के जन्म की सूचना देते हुए उन्होंने अपनी पुत्री शान्ति बाई को लिखा, "तुम्हारे भाई के गीगा हुआ है—नाम आदित्य विक्रम रखेंगे। लड़का गोरा है।"

युद्ध समाप्त हुआ और भारत की स्वाधीनता के विषय में बातचीत का दौर फिर से शुरू हुआ। विभिन्न पक्षों में समझौता कराने में जी. डी. बाबू पुनः सक्रिय हो गये। सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स, जो सत्ता के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में वार्ता करने के लिए नयी दिल्ली पधारे थे, जी. डी. बाबू के अच्छे मित्र थे। यहां उनका स्वास्थ्य खराब हुआ तो 'डाक्टर' बिड़ला ने उन्हें छाछ का पथ्य बताया और अपने मुनीम के हाथ क्रिप्स महोदय के लिए वायसराय निवास में छाछ भिजवायी।

इस बीच पाकिस्तान का मसला स्वाधीनता सम्बन्धी व्यवस्था में एक पेच डाल चुका था। अधिकतर कांग्रेसी नेता विभाजन के विरुद्ध थे। राजाजी जैसे कुछ लोग अलबत्ता यह समझते थे कि बेकार के पचड़े में पड़ने से यह ज्यादा अच्छा है कि युक्तियुक्त आधार पर देश का विभाजन कर दिया जाये। इस स्थापना से जी. डी. बाबू शुरू से सहमत थे। उन्होंने तो नेहरूजी के नाम एक पत्र में लिखा, "साझे के किसी व्यापार में अगर कोई साझेदार सन्तुष्ट न हो तो उसे अलग होने का अधिकार मिलना ही चाहिए। विभाजन युक्तियुक्त अवश्य होना चाहिए। लेकिन विभाजन का ही विरोध कैसे किया जा सकता है।.... अगर मैं मुसलमान होता तो पाकिस्तान न कभी मांगता न कभी लेता क्योंकि विभाजन के बाद इस्लामी भारत बहुत ही गरीब राज्य होगा जिसके पास न लोहा होगा और न कोयला। यह तो मुसलमानों के सोचने की बात है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि अगर आप पाकिस्तान देने को तैयार हो जायें तो मुसलमान उसे स्वीकार नहीं करेंगे। उनका स्वीकार करना या न करना यह बाद की बात है, फिलहाल हमारा पाकिस्तान की मांग का विरोध करना मुसलमानों के मन में पाकिस्तान की प्यास हीं बढ़ायेगा।"

1946 में अन्तरिम सरकार बनी और तब से ही जी. डी. बाबू ने स्वाधीनता आन्दोलन में मित्र बन चुके उन नेताओं से देश की समस्याओं के विषय में नियमित रूप से पत्र-व्यवहार करना शुरू कर दिया, जिन्होंने अब मन्त्रिपद सम्भाल लिया था। उदाहरण के लिए 24 मार्च 1947 को उन्होंने कपड़े पर से कण्ट्रोल हटाने-न-हटाने के और कपड़ा उद्योग को प्रोत्साहन देने के विषय में राजाजी राजगोपालाचारी को सात पेज की लम्बी चिट्ठी लिखी। यह स्पष्ट हो गया कि जिन जी. डी. बाबू ने भारतीय उद्यम के प्रतिनिधि के रूप में भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखा था वह आगे स्वतन्त्र भारत के शासन से भी

इसी रूप में दिलचस्पी रखेंगे।

आखिर 1947 में देश को पूर्ण स्वराज मिला मगर विभाजन और भयंकर रक्तपात की कीमत पर। इस तमाम घटनाक्रम से महात्मा गाँधी क्षुब्ध हुए और वह साम्प्रदायिक हिंसा की आग बुझाने में जुट गये। उनकी ओर से कुछ इस तरह की मांग हुई जिसे लोगों ने मुसलमानों और पाकिस्तान के तुष्टीकरण का पर्याय माना। जहां तक जी. डी. बाबू का प्रश्न है वह सरदार पटेल की तरह ही गाँधीजी के अत्यन्त निकट थे निजी स्तर पर। लेकिन पाकिस्तान के विषय में वह भी पटेल की तरह कड़ा रुख अपनाये जाने के पक्ष में थे।

गंगासागर

भारत स्वाधीन हो चुका था। केन्द्र में भी पहली बार स्वदेशी सरकार बन गयी। इस सरकार के कई मन्त्री स्वाधीनता संग्राम के दौरान जी. डी. बाबू के निकट आ चुके थे। कईयों से तो उनकी घनिष्ठ मैत्री भी थी। नेहरू के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण मन्त्री सरदार पटेल तो उनके दोपहर के भोजन और सवेरे की सैर के पुराने साथी थे। दोनों लोदी गार्डन की तरफ घूमने जाते। राजस्थानी रियासतों के प्रसंग में एकाध मर्तबा सरदार पटेल ने जी. डी. बाबू से अनौपचारिक स्तर पर काम भी करवाया।

राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर देश के नये शासकों में जो विचार-विमर्श हो रहा था उसमें जी. डी. बाबू दिलचस्पी लेने लगे और अपने ढंग से योगदान भी करने लगे। अनाज की राशनिंग का मामला हो या स्वास्थ्य पर वनस्पति घी के प्रभाव का, जी. डी. बाबू हर प्रश्न पर सम्बद्ध मन्त्रियों से पत्र-व्यवहार करते। जहां सरकारी विशेषज्ञों से कुछ सीखा जा सकता हो वहां उन्होंने सीखा और जहां उन्हें कुछ सिखाने की जरूरत महसूस की, सीख भी दी।

30 जनवरी 1948 को मेजबान जी. डी. बाबू ने बिड़ला हाउस दिल्ली में अपने मेहमान महात्मा गाँधी से सवेरे-सवेरे विदा ली कि बापू मैं पिलानी हो आऊं, लौटकर बात करेंगे। पिलानी में यह समाचार मिला कि किसी धर्मान्ध व्यक्ति ने वहीं बिड़ला हाउस के प्रांगण में गाँधीजी की हत्या कर दी है। जी. डी. बाबू ने खुद दिल्ली रवाना होने का प्रोग्राम बनाया और ग्वालियर में दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया

को भी यह सूचना दी कि दिल्ली पहुंचो। यद्यपि महात्मा गाँधी उस समय जी. डी. बाबू के मेहमान थे तथापि इसे उनके एक मेहमान या पिता समान एक संरक्षक की मृत्यु नहीं माना जा सकता था। आखिर महात्मा गाँधी राष्ट्रनायक थे, राष्ट्रपिता थे। यह राष्ट्रीय शोक का अवसर था और इसमें जी. डी. बाबू की व्यक्तिगत चोट के लिए स्थान न हो सकता था, और न हुआ। वह दिल्ली अपने घर लौटे मगर नेताओं की उस भीड़-भाड़ में, राष्ट्रीय सम्मान के साथ बापू की शवयात्रा निकालने और उनका दाह-संस्कार करने के उस आयोजन में उन्होंने अपने को अलग पाया। यद्यपि नेहरू और पटेल के बाद कदाचित वही गाँधी के सबसे निकट के व्यक्ति थे। कुछ दूर वह शवयात्रा के साथ चले और फिर वापस लौट आये। उनके पुत्र कृष्णकुमारजी ने,जो सार्वजनिक क्षेत्र में उनके अन्यतम सहायक थे, उनकी ओर से दाहकर्म में शामिल होने का प्रस्ताव किया। वह ब्रजलालजी बियाणी के साथ शवयात्रा में शामिल हुए। वापस लौटन के लिए उन्होंने जिस गाड़ी का प्रबन्ध कर रखा था वह किसी कारणवश पहुंची नहीं। उस दिन कोई सवारी भी नहीं मिली। राजघाट से बिड़ला भवन पूरे पांच मील दूर था। घर के नजदीक पहुंच कर एक तांगा मिला। इस बीच जी. डी. बाबू,जो रेडियो से शवयात्रा और दाहकर्म का आंखों देखा हाल सुनते रहे थे, यह सोच-सोच कर परेशान होते रहे कि इतनी देर होने पर पुत्र कृष्णकुमार और समधी ब्रजलालजी बियाणी वापस क्यों नहीं लौटे? जब कृष्णकुमारजी घर लौटे तो वह उसी तरह नौकर-चाकरों को लेकर बिड़ला हाउस के बाहर खड़े थे, जिस तरह वर्षों पहले जंगल में गुम हो जाने की चिन्ता लेकर खड़े मिले थे।

इसी के तुरन्त बाद बिड़ला भवन को लेकर एक अप्रिय विवाद उठ खड़ा हुआ। यह मांग हुई कि इसे गाँधी स्मारक का दर्जा देकर राष्ट्र को समर्पित कर दिया जाये। संसद में और बाहर इस विषय को लेकर सरकार पर दबाव पड़ने लगा। फिर 7 मई 1948 को नेहरूजी ने जी. डी. बाबू को लिखा कि बिड़ला भवन के बगीचे का वह हिस्सा, जहां बापू की प्रार्थना सभा जुटती थी और जहां वह हत्यारे की गोली के शिकार हुए, बाकी घर और बाकी बगीचे से अलग कर दिया जाये ताकि दर्शनार्थी निर्बाध आ-जा सकें। जिस जगह बापू गिरे थे, वहां तीन-एक फुट ऊंचा कोई स्तम्भ लगा दिया जाये।

इसके उत्तर में 12 मई को जी. डी. बाबू ने लिखा कि इस मकान में बापू पहले-पहल 1932 में आये थे और उसके बाद जब भी वह भंगी कालोनी या हरिजन कालोनी में नहीं रुके, यहीं ठहरे बराबर। अन्यान्य नेता भी इस मकान में ठहरे। यहीं अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। यहीं मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्ष

पण्डित नेहरू के साथ

बीते। इसलिए इस मकान से मेरी अनेकानेक स्मृतियां जुड़ी हैं। ऐसे में कुछ लोगों का, जिनमें मेरे मित्र भी रह चुके हैं, इस मकान के अधिग्रहण की बात करना और इसके लिए मुआवजा देने का प्रस्ताव करना मुझे हार्दिक क्लेश पहुंचाता रहा है। अगर आप सचमुच यह समझते हैं कि राष्ट्रहित में मुझे अपना ही मकान छोड़ देना चाहिए तो मैं तत्काल इसे छोड़ने को तैयार हूं। किन्तु इस मकान के बंटवारे की बात तो ऐसी ही है जैसी अपने बच्चे के दो टुकड़े करने की। स्मारक है तो पूरा मकान ही है, उसका एक हिस्सा क्यों?

22 मई को इसके जवाब में नेहरूजी ने लिखाःमेरा तो यही अनुरोध था कि जिस जगह बापू गोली खाकर मरे उसे दर्शनार्थियों की सुविधा के लिए अलग कर दिया जाये। बहुत से लोग उसे समाधि-स्थल का दर्जा देते हैं और मैं तक स्वीकार करता हूं कि धर्मविश्वासी न होते हुए भी जब भी उधर से गुजरता हूं,शीश नवाता हूं। किसी तरह की जबरदस्ती वाली बात मेरे मन में नहीं है। यह तो आपकी इच्छा पर है।

जी. डी. बाबू ने 1 जून 1948 को इसके उत्तर में लिखा कि जैसा मैंने यह आपको पहले भी बताया है, 1942 के आस-पास मैंने यह संकल्प किया था कि भारत के स्वाधीन होने पर यह मकान सरकार को प्रधानमन्त्री निवास के लिए दे दूंगा। अगर सरकार इस मकान को उपहार स्वरूप मुझसे ले ले और सम्भव हो तो इसमें प्रधानमन्त्री निवास बनाये तो मुझे संकल्प पूरा होने का सुख मिलेगा।

नेहरूजी ने 3 जून के पत्र में पूरा बिड़ला भवन ले लेने का प्रस्ताव अस्वीकार किया। जी. डी. बाबू ने फिर उनके सुझाव के अनुसार ऐसी व्यवस्था की कि दर्शनार्थी बिड़ला भवन के बगीचे में सुविधा से आ-जा सकें फिर भी किसी को थोड़ी असुविधा हो जाती तो वह तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करता। यहां तक कि मीठे स्वभाव वाले सियारामशरण गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में जी. डी. को दिसम्बर 48 में बहुत कड़वी चिट्ठियां भेजीं। सियारामशरणजी को, जो जैनेन्द्रजी के साथ बिड़ला भवन गये थे, मुख्य आपत्ति इस बात पर हुई कि वह कमरा, जिसमें बापू ठहरते थे और जिसमें उनका ब्रह्म-निर्वाण हुआ, अब भी मकान का एक साधारण शयनकक्ष माना जा रहा है। इसे सभी को नहीं, केवल विशिष्ट व्यक्तियों को ही दिखाया जाता है और इसमें कहीं बापू का चित्र तक नहीं टांगा गया है। कटाक्ष करते हुए उन्होंने 7 तारीख के पत्र में लिखा, "क्या वहां चित्र के लग जाने से बिड़ला भवन के गाँधी भवन हो जाने का डर किसी ने अनुभव किया था?"

जी. डी. बाबू ने अपने संक्षिप्त उत्तर में मात्र इतना कहा कि बिड़ला भवन के सम्बन्ध में निर्णय मैंने पण्डित नेहरू और सरदार पटेल पर छोड़ दिया था। जो भी व्यवस्था हुई है उनके आदेशानुसार ही हुई है। सियारामशरणजी को यह उत्तर असन्तोषप्रद मालूम हुआ और उन्होंने पत्र-व्यवहार अखबारों में प्रकाशित करने की अनुमति चाही और जी. डी. बाबू ने निजी पत्र-व्यवहार को सार्वजनिक बनाने के औचित्य पर प्रश्नचिन्ह लगाया। इससे कटुता और बढ़ी।

उल्लेखनीय यह है कि गुप्त परिवार से जी. डी. बाबू का जो स्नेह-सम्बन्ध था सो बराबर बना रहा। जी. डी. बाबू दद्दा यानी मैथिलीशरण गुप्त के प्रशंसक थे। सियारामशरणजी ने वर्षों बाद 28.6.55 के अपने एक पत्र में इसी प्रसंग में जी. डी. बाबू को लिखा, "मुझे खेद है आप जैसे सुहृदय और सम्मान्य जन को भी मैंने चोट पहुंचाई। मैंने आपसे जो चाहा था उसका अपना अधिकार आज भी अक्षुण्ण मानता हूं। खेद इसी बात का है कि मेरी भाषा कठोर हो गयी थी।"

अन्ततः 1971 में बिड़ला भवन राष्ट्र को दे दिया गया। जी. डी. बाबू को इस बात पर कदाचित पीड़ा पहुंची कि भवन के लिए क्षतिपूर्ति की जो बात उन्होंने नेहरूजी के नाम अपने पत्र में अपने लिए और गाँधीजी की स्मृति के लिए अपमानजनक ठहरायी थी उसे नये समझौते में स्वीकार कर लिया गया।

भारत को स्वाधीनता मिलने के बाद यह स्वाभाविक था कि जी. डी. बाबू भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के आयोजन में चौगुने उत्साह से जुट जाते। नकली रेशा उन दिनों एक नयी-नयी सी चीज थी और बहुतों का यह विचार था कि कपड़ा उद्योग में इसकी विशेष खपत हो नहीं पायेगी। ऊन, सूत और रेशम ही चलते रहेंगे। किन्तु दूरदर्शी जी. डी. बाबू ने यह समझा कि नकली रेशे का महत्त्व बढ़ता ही चला जायेगा, क्योंकि वह अधिक टिकाऊ और सस्ता साबित होगा। इसलिए 1947 में ही उन्होंने ग्वालियर रेयन का कारखाना बनाने की घोषणा कर डाली। छठे दशक के आरम्भ में इस ग्वालियर रेयन फैक्टरी ने उत्पादन शुरू कर दिया और फिर इतनी तेजी से प्रगति की कि नकली रेशे के क्षेत्र में उसके मुकाबले की दूसरी कोई संस्था देश में उभर नहीं पायी। ग्वालियर रेयन जी. डी. बाबू के तब तक लगाये हुए उद्योगों में सबसे बड़ा था।

सन् 1948 में बिड़ला बन्धुओं ने दिग्विजय वूलन मिल लगायी और इसके कुछ वर्ष बाद उन्होंने बम्बई की विख्यात सैंचुरी स्पिनिंग मिल्स का प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया। इसके लिए उन्होंने रामेश्वरदासजी के निर्देशन में 1897 में

स्थापित इस पुरानी मिल के शेयर तेजी से खरीदे और आगे चलकर पुराने प्रबन्धकों को हटा दिया। बिड़ला उद्यम में यह अपने ढंग की अकेली मिसाल है क्योंकि जी. डी. बाबू शेयर खरीद कर दूसरों की कम्पनी पर कब्जा जमा लेने के सर्वथा विरुद्ध थे। वह हमेशा यह चाहते थे कि अपनी कम्पनी अपने आप बनायें। सैंचुरी स्पिनिंग भी उन्होंने तब हाथ में ली जब कि पुराने प्रबन्धकों से वह ठीक से चल नहीं पायी। उनके सिद्धान्त के अनुरूप उनके मेधावी पुत्र बसन्तकुमारजी ने इसी सैंचुरी प्रतिष्ठान को अनेक नयी प्रोडक्ट्स के नये-नये कारखाने जोड़कर दस गुना से भी अधिक बड़ा कर दिया है, सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठान बना दिया है।

पारिवारिक मोर्चे पर पितामह की भूमिका में जी. डी. बाबू ने सुदर्शनकुमार और आदित्य विक्रम दोनों पोतों की शिक्षा-दीक्षा में बराबर रुचि ली। सुदर्शनकुमार शुरू में ट्यूटरों से ही पढ़ा और साल में छः महीने अपने दादोजी के साथ बिताता रहा। दादोजी बराबर ट्यूटरों से पोते की प्रगति के विषय में प्रश्न करते रहे। अनुशासन की शिक्षा देते हुए सख्ती बरतने में उन्हें परहेज नहीं हुआ। एक बार जब सुदर्शनकुमार ने खेलने के बाद अपने खिलौने संभाल कर नहीं रखे तब दादोजी ने उन्हें ताले-चाबी में बन्द कर दिया और दो दिन तक नहीं लौटाये। लौटाये भी तब जब पोते ने लिखित माफी मांगी और वचन दिया कि आगे से ऐसी भूल न होगी। दादोजी ने इस माफीनामे पर उसे गले से लगाया और धैर्यपूर्वक यह समझाया कि चीजें किस तरह रखी जानी चाहिये।

सुदर्शनकुमार 1944 में स्कूल में भरती हुआ और 48 में उसने मैट्रिक पास किया। उसकी आगे की पढ़ाई कलकत्ता के सेण्ट जेवियर्स कालेज में हुई। दादोजी ने उससे पाठ्यक्रम के बारे में तो कभी कुछ नहीं पूछा, किन्तु उसके सामान्य ज्ञान की परीक्षा बराबर लेते रहे।

सुदर्शनकुमार को उद्योग की ट्रेनिंग केशोराम मिल में 1951-52 में दी गयी। सुदर्शन को दीक्षित करने का दायित्व उसके चाचा बसन्तकुमारजी को सौंपा गया और जी. डी. बाबू उनसे बराबर यह मालूम करते रहे कि सुदर्शन कैसा काम कर रहा है? वैसे वह बगैर पूछे भी सब ताड़ लेने की अद्भुत क्षमता रखते थे। सुदर्शनकुमार के अनुसार, "दादोजी की आब्जर्वेशन-पावर बहुत अच्छी थी। कमजोरी और गलती का पता उन्हें तुरन्त चल जाता था। फौरन टोकते थे कि भई तुम्हारा काम कच्चा है।"

दिसम्बर 53 में जी डी. बाबू ने पौत्र सुदर्शनकुमार को बुलाकर कहा कि

बिड़ला जूट के अन्तर्गत कैल्शियम कार्बाइड का कारखाना लगा रहे हैं,तुम उसका चार्ज सम्हालो। यह काम माधवप्रसादजी बिड़ला की संरक्षणता में सुदर्शनकुमार ने 1954 में सम्हाल लिया। दीवाली पर कैल्शियम कार्बाइड का उत्पादन शुरू हो गया। दादोजी ने शाबाशी दी और साथ ही उत्पादन दुगना करने का लक्ष्य निश्चित कर दिया। फोन पर बराबर उससे इस विषय में पूछताछ करते रहे। फिर सुदर्शनकुमार ने स्टेपल फाइबर का काम शुरू किया जिसमें जी. डी. बाबू अन्त तक दिलचस्पी लेते रहे। सुदर्शनकुमार का कहना है कि दादोजी एक सरसरी निगाह डालकर ही मामले की तह तक पहुंच जाते थे और हम नौजवानों को अक्सर आश्चर्यचकित कर देते थे। वह हम लोगों को नये उद्योग लगाने के लिए प्रोत्साहित करते थे। "जमे-जमाये उद्योग चलाना उनकी दृष्टि में कोई उल्लेखनीय काम नहीं था।"

इतना करने पर भी कुछ लोग यह आरोप लगा देते कि दादोजी पोते की उपेक्षा कर रहे हैं। सुदर्शन कुमार के अनुसार इस पर जी. डी. बाबू ने कहा, "लोगों को यह मालूम नहीं कि मैं उसके बारे में कितना चिन्तित रहता हूं। कितनी योजनाएं बनाता हूं उसके लिए। वैसे बातें तो लोग नेहरूजी और इन्दिरा गाँधी के बारे में भी करते हैं, किसी को कोई रोक थोड़ी सकता है।"

जब भी गर्मियों में दादोजी मसूरी जाते सुदर्शन को साथ ले जाते। यों मजाक में कहते रहते कि बूढ़े और जवान का इस युग में मेल बैठता नहीं। सुदर्शन दादोजी के साथ बराबर लन्दन भी जाता रहा, केवल 83 वाली अन्तिम यात्रा में वह नहीं जा सका था। दादोजी अपने पोते से लतीफे सुनते-सुनाते। उनकी आत्म-व्यंग्य क्षमता इस हद तक पहुंची हुई थी कि बिड़लाओं की बनायी हुई कार तक पर तरह-तरह के लतीफे सुनाते थे।

सुदर्शनकुमार के लिए लड़की जी. डी. बाबू ने स्वयं चुनी। झंवर मोतीलालजी की बेटी सुमंगला को बस एक बार देखा और उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का विचार करते हुए कहा कि इसे ही मेरी पतोह बनाओ। सगाई हुई। और फिर 1955 में विवाह। शादी से तीन दिन पहले जी. डी. बाबू के बहनोई नरसिंहदासजी कोठारी का देहान्त हो गया था जिससे इस विवाह के सम्बन्ध में थोड़ा अनिश्चय का वातावरण बन गया था किन्तु जी. डी. बाबू ने कह दिया कि शादी निश्चित तिथि पर जरूर होगी यह मेरा निर्णय है। एक तरफ पारिवारिक शोक,दूसरी तरफ पोते के विवाह का उल्लास, यह उनके विवेक की ही महिमा थी कि दोनों में सन्तुलन बनाये रख सके।

डाले थे वल्कि जानवूझ कर डाले थे, क्योंकि आप बिड़ला पार्क के सैक्रेटरी जो हैं। इसी पत्र में वह लिखते हैं, "नन्दिनी, ज्योति और जयश्री के लिए सस्ते छाते भेजे थे। तुम्हारी घड़ी भी सस्ती है। इसीलिए ढीली चल रही है। और आप भी ढीले हैं। इसलिए सोहवत का भी कुछ असर पड़ गया है। तुम्हारे सीरियस भाईजी नंबर एक और नंवर दो कैसे हैं? दोनों को आशीष।"

किशोर और युवा आदित्य विक्रम को जी. डी. बाबू ने अच्छे-अच्छे पत्र ही नहीं, लेख भी लिखने के लिए बराबर प्रोत्साहित किया है। अपने पत्रों में उन्होंने पोते को भाषा और शैली के विषय में विस्तार से सुझाव दिये हैं। कुछ ऐसे पत्र हैं जिनमें उन्होंने इतिहास अथवा अर्थशास्त्र जैसे किसी गूढ़ विषय पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं ताकि विद्यार्थी आदित्य उनका खंडन-मंडन करे उनके आधार पर कुछ लिखे। इस तरह का एक पत्र युद्ध से पहले और बाद की इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में है जो पूरे छः टंकित पृष्ठों का है। इन पत्रों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि जी. डी. वाबू अपने पोते आदित्य विक्रम में कहीं अपनी प्रतिछवि देख रहे थे।

इस जमाने में जी. डी. वाबू ने बच्चों के नाम जो पत्र भेजे उनमें दिल्ली के राजनीतिक जीवन पर भी दिलचस्प टिप्पणियां हैं। गंगाबाई को लिखते हैं, "अब यहां की वात सुनो। एक वो है ज्योतिषी हवेली राम। वह करता है दिल्ली में राज राठोरों का क्योंकि 'मर्दा ममता मर्द भला भला राठोरा जी'। अब यहां दिल्ली में एक मात्र राठोर है सत्यनारायण बाबू। इसलिए उन्हें अत्यंत प्रसन्नता है हम भी 'वाली ठाकर सेइये ढलती लीजे छाये' के अनुयायी हैं सो 'हजूर कहे गधे को भैंसा तो वन्दा भी वैसा का वैसा।'

एक हैं नंदा जी। वे कहते हैं कि मेरी मइया 'यह जन्मदात्री नहीं है कोई भगवा वाली है,' आकाश में हाथ मार कर रसगुल्ला मिठाई हीरा मोती जो मांगो सो मंगा देती है। यह नंदाजी प्लानर हैं!

मुंशीजी मृत आत्मा से तो वातें करते ही हैं पर पानी वाले महाराज के भक्त हैं। अव मैं किससे झगड़ा करूं? सो मैं भी अपना कद्दू सा सिर हिला-हिला कर हां-हां करता हूं। "**जाट कहे सुन जाटनी, इसी गांव में रहना। ऊंट बिलाई ले गयी और हांजी हांजी करना।**"

इस पत्र से जी. डी. वाबू की विनोदप्रियता का ही नहीं, स्पष्ट दृष्टि का भी परिचय मिलता है। वह तव भी देख रहे थे कि आधुनिक भारत के नेता वह

मानसिकता नहीं अपना रहे हैं जो देश को सच्चे अर्थों में आधुनिक बनाने के लिए आवश्यक है और जो भारतीय पुनर्जागरण के मूल में रही थी। इस पत्र को पढ़कर यह प्रतीति होती है कि 'दक्षिणपन्थी' माने जाने वाले जी. डी. बाबू खांटी दक्षिणपंथियों से कितने भिन्न थे व नेहरू के दृष्टिकोण के कितने निकट। पुरातन रूढ़ियों के अस्वीकार में, अन्धविश्वास के विरोध में और गाँधीजी की अर्थनीतियों को अव्यावहारिक मानने में जी. डी. बाबू कदाचित नेहरू से भी अधिक नेहरूवादी थे। नेहरू और जी. डी. इस साम्य के बावजूद निकट नहीं आ सके तो इसीलिए कि नये और पुराने का समन्वय करते हुए नेहरूजी समाजवादी अर्थव्यवस्था चाहते थे और जी. डी. बाबू पूंजीवादी।

स्वाभाविक था कि जी. डी. बाबू अपने ही जैसे आधुनिक नेहरूजी के निकट आने का प्रयास नये सिरे से करते। स्वाधीन भारत के पहले प्रधानमन्त्री से उन्होंने नियमित पत्र-व्यवहार किया। कभी सलाह मांगी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर और कभी सलाह दी आर्थिक मामलों पर। विदेशों में खासकर 'पूंजीवादी पश्चिम' में जी. डी. बाबू का सम्पर्क-क्षेत्र विशाल था। बड़े-बड़े राजनेताओं, राजनयिकों, उद्योगपतियों, अर्थशास्त्रियों और वित्तप्रबन्धकों से घनिष्ठ मैत्री थी। यह सारा सम्पर्क-जाल उन्होंने प्रधानमन्त्री की सेवा में प्रस्तुत किया। जब भी जी. डी. बाबू विदेश जाते वहां भारत के अनौपचारिक दूत की भूमिका का निर्वाह करते और इस भूमिका में अपने 'संवाद' नेहरूजी से पहले ही जंचवा कर ले जाते अथवा लौटने पर पूछते कि मैंने सही कहा कि नहीं? यही स्थिति तब होती जब कोई विदेशी हस्ती जी. डी. बाबू के साथ भोजन करने बिड़ला हाउस आ रही होती। जी. डी. बाबू नेहरूजी से पूछते कि सरकारी नीति के बारे में क्या कहूं? या बाद में लिखते कि मैंने ऐसा कहा सरकारी नीति के बारे में तो कुछ गलत तो नहीं कहा? और आर्थिक मामलों पर सतत जी. डी. का नेहरूजी से यह आग्रह होता कि आप किताबी समाजवाद के चक्कर में न पड़ें। राष्ट्र के आर्थिक लक्ष्य निर्धारित करें और बाकी सारा काम उद्यमियों पर छोड़ दें। समाजवादी नेहरू पर इस 'मुक्त उद्यम, निर्बाध व्यवसाय' के मन्त्र का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

प्रधानमन्त्री से उन्होंने गुलदावरी के फूलों से लेकर कश्मीर समस्या तक तरह-तरह के विषयों पर सद्भावनापूर्ण पत्र-व्यवहार किया। यह सन् 1948 की बात है। जी. डी. बाबू को गुलदावरी के कुछ पौधे बहुत अच्छे लगे तो उन्होंने यह पौधे भेंट स्वरूप पण्डितजी को भिजवा दिये। सारे परिवार को जी. डी. बाबू की ये भेंट बहुत पसन्द आयी। 27 नवम्बर 1948 को इन्दिरा गाँधी ने एक पत्र लिखकर इसकी सूचना जी. डी. बाबू को दी, "आपने जो गुलदावरी के पौधे भेजे उनसे

पिताजी को और हम सब को बहुत खुशी हुई। हमने उन्हें बैठक में सजा रखा है। जो भी देखता है सराहना करता है। उन्हें भेजने के लिए आपका बहुत-बहुत धन्यवाद!"

उन्हीं दिनों जी. डी. बाबू ने पण्डितजी को एक पत्र लिखकर उनका ध्यान बर्मा से एक करोड़ पौंड ऋण दिये जाने की ओर खींचा था। राष्ट्रीय मसलों के अलावा व्यक्तिगत स्तर पर भी नेहरूजी से कुछ-न-कुछ आदान-प्रदान दोनों में चलता ही रहता था। श्री मथाई के 17 अप्रैल 1953 के एक पत्र से पता चलता है कि जी. डी. बाबू ने पंडितजी को आम भेजे थे जो उन्हें बहुत पसन्द आये।

53 में बिड़ला बन्धुओं के हैदराबाद के दो-एक कारखानों में कुछ श्रमिक विवाद हुआ तो नेहरूजी ने इस बारे में अपनी राय जी. डी. बाबू को लिख भेजी। अपने व्यक्तिगत और गोपनीय पत्र में उन्होंने जी. डी. बाबू को सूचना दी कि मजदूर नेता इस विवाद को किस दृष्टि से ले रहे हैं और उन्होंने मुलाकात में पण्डितजी को क्या रिपोर्ट दी है।

जनवरी 1957 में जी. डी. बाबू को पद्मविभूषण के अलंकरण से सम्मानित किया गया। इस अवसर पर उन्हें बधाई देने वालों में स्वयं नेहरूजी भी थे।

गाँधी स्मारक निधि, पटेल स्मारक निधि, रवीन्द्र शत-वार्षिकी या और कोई भी लोकोपकारी काम हो—जी. डी. बाबू सदा उसकी सफलता के लिए भरपूर आर्थिक सहायता किया करते थे। यह बात इतनी सर्वविदित है कि हम उसकी चर्चा इस पुस्तक में न करना चाहेंगे। अलबत्ता एक बात की चर्चा करने की इच्छा अवश्य हो रही है कि 12 नवम्बर 1959 को जी. डी. बाबू ने 70151 रुपये का एक चैक पण्डितजी को भिजवाया तो उन्होंने यह कहकर लौटा दिया कि मुझे जन्मदिवस के अवसर पर उपहार या पैसा लेना उचित प्रतीत नहीं होता,भले ही वह व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए नहीं बल्कि सार्वजनिक कार्य के लिए दिया जा रहा हो। "पिछले वर्षों में आप मेरे जन्मदिवस पर इस तरह के चैक भेजते रहे हैं, वह मैं इसलिए साभार स्वीकार करता रहा कि उन्हें ठुकरा देना मुझे एक फूहड़ सी बात मालूम होती थी। लेकिन मैं इस मामले को लेकर बराबर बहुत परेशान रहा हूं और मुझे अब लगता है कि अपने जन्मदिन पर इस तरह का उपहार स्वीकार करना मेरे लिए उचित नहीं होगा, भले ही मैं इस उपहार में निहित शुभकामनाओं की बेहद कद्र करता हूं। मुझे विश्वास है कि आप मेरी कठिनाई को समझेंगे और मेरे फैसले का बुरा नहीं मानेंगे। मैं यह चैक लौटा रहा हूं जो आपने मुझे कृपापूर्वक भेजा था।"

8 नवम्बर 1960 को जी. डी. बाबू ने दोबारा 71151 रुपये का चैक भेजा। लेकिन इस बार प्रधानमन्त्री जवाहरलालजी के नाम न होंकर 'प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय सहायता कोष' के नाम। इसे भेजने से पहले उन्होंने पूछ भी लिया था कि मुझे प्रधानमन्त्री के राष्ट्रीय कोष में अनुदान भेजने की अनुमति है या नहीं।

1961 में तिब्बती शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या राष्ट्र के सामने आयी तो जी. डी. बाबू ने मैसूर राज्य में अपनी 175 बीघा जमीन, जिसमें वह फ्लैक्स उगाने का प्रयोग कर रहे थे, इस कार्य के लिए सरकार को देने का फैसला कर डाला। 18 जनवरी 1961 को नेहरूजी ने अपने पत्र में जी. डी. बाबू को सूचित किया कि फिलहाल जमीन की जरूरत नहीं है। जब होगी आपको बतायेंगे। आप अपना प्रयोग जारी रखें। यदि यह विफल हुआ तो आप अपनी जमीन सरकार को दे सकते हैं।

गाँधीजी और सरदार पटेल के चले जाने के बाद जी. डी. बाबू ने राजनीति में अपने को कुछ अकेला पाया। बिड़ला-बन्धु अक्सर वामपन्थी प्रहार के शिकार बनने लगे। उनके मामलों की जांच करवाने का सरकारी सिलसिला भी शुरू हुआ। दूसरी ओर कांग्रेसियों के कोष-संग्रहकर्ता के रूप में जी. डी. बाबू की वह भूमिका बनी रही जो 1921 में तिलक-स्मारक-कोष जमा करते समय शुरू हुई थी और फिर गाँधी तथा पटेल स्मारक निधि संग्रह करते हुए पराकाष्ठा पर पहुंची थी। कांग्रेस के लिए उद्योगपतियों से चन्दा जमा कराने के काम में जी. डी. बाबू ही अग्रणी रहे और इस नाते उनका कांग्रेस के कोषाध्यक्षों से घनिष्ठ सम्पर्क रहा। जो हो, नेहरूजी के समाजवाद में मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए, अतएव बिड़ला बन्धुओं जैसे उद्यमियों के लिए भी स्थान निकल सकता था। यही कारण है कि सारे विरोध और अड़ंगों के बावजूद जी. डी. बाबू राष्ट्र की आर्थिक प्रगति में अपना योगदान बराबर कर सके।

उधर घर-परिवार में भी एक के बाद एक दो दुखद घटनायें घटीं। पहली थी राजा बलदेवदासजी की मृत्यु। सन् 1952 से ही जी. डी. बाबू अपने काकोजी के स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित रहने लगे थे। वैसे ही वृद्ध शरीर, तिस पर एक बार उनके हाथ की व एक बार उनके नितम्ब की हड्डी टूट गयी, साथ ही पौरुष-ग्रंथि की तकलीफ बढ़ गयी जिससे पेशाब उतरने में अड़चन पड़ने लगी। बलदेवदासजी शल्य चिकित्सा के पक्ष में नहीं थे। अन्ततः जी. डी. बाबू ने उन्हें इसके लिए तैयार किया और संकट टला। तो जिस समय मार्च 1956 के अन्त में जी. डी. बाबू विदेश गये उन्हें इस बात की कोई आशंका नहीं थी कि इस बीच बलदेवदासजी के

स्वास्थ्य को कोई गहरा आघात पहुंच सकता है। किन्तु बलदेवदासजी का स्वास्थ्य तेजी से बिगड़ा और 31 मार्च को ऐसा लगा कि अन्त समय निकट है। उनसे पूछा गया कि क्या घनश्यामदास को यूरोप से बुलवा लें? उन्होंने कहा कि नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। पहली अप्रैल को 93 वर्षीय बलदेवदासजी की इहलीला पूर्ण हुई।

जिस समय बलदेवदासजी के देहान्त का समाचार लन्दन पहुंचा उस समय दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया वहां उपस्थित थे। उनका कहना है, "समाचार सुन कर बाबू सर्वथा निर्विकार रहे। अविश्वसनीय सी थी वह निस्संगता। जरा भी व्यग्रता नहीं। कहीं भी यह आग्रह नहीं कि चलो तुरन्त वापस लौट जाते हैं। आखिर वह भी इन्सान थे। भीतर उनके कुछ हुआ तो होगा। लेकिन किसी को कुछ पता चलने नहीं दिया। किसी को यह अवसर नहीं दिया कि हाथ का काम भूल कर उनकी मातम-पुरसी में जुट जायें। वह स्वयं भी कार्यक्रम के अनुसार अपना सारा काम करते रहे। जिस उद्देश्य से आये थे उसे पूरा करके ही घर लौटे। गीता में इस तरह की बातें पढ़ी भर थीं मैंने। यहां चरम वेदना के इस क्षण में जी. डी. बाबू में उन्हें चरितार्थ होते देखा। कहते हुए अजीब लगता है मगर उनसे कहीं अधिक व्यग्र और व्यथित तो मैं नजर आ रहा था।"

जी. डी. बाबू निश्चय ही अपनी वेदना अपने इस विश्वस्त प्रबन्धक से भी छिपाये रहे होंगे क्योंकि 4 अप्रैल को लन्दन से जस्टिस एस. आर. दास के नाम भेजे गये एक पत्र में उन्होंने लिखा है, "दुर्भाग्य से लन्दन पहुंचते ही मुझे अपने पिताजी के देहान्त का दुखद समाचार प्राप्त हुआ। इससे मैं अपसैट हो गया। पिताजी 93 वर्ष के थे, लेकिन कुछ ऐसा था कि हम उन्हें परिवार का अजर-अमर अंग समझ बैठे थे। जब मैंने भारत छोड़ा तब मुझे यहां पहुंचकर ऐसा समाचार पाने की कोई उम्मीद न थी। पहले तो मैंने सोचा कि तुरन्त वापस आ जाऊं, लेकिन फिर मेरी मां ने मुझे फोन पर बताया कि मुझे जल्दी करने की कोई जरूरत नहीं है, पहले अपना काम पूरा कर लूं।"

जयदेवी बाई बताती हैं, "काकोजी की तरह हमारी मां के मन में भी घनश्यामभाई के लिए खास जगह थी। इसलिए जब काकोजी का देहान्त हुआ तब वह घनश्यामभाईजी के लिए बहुत कलपी मगर साथ ही उसने यह जरूरी समझा कि भाईजी जिस काम से गया है उसे पूरा करके ही लौटे। मुझे याद है कि जब हरिद्वार में अस्थिप्रवाह करने के बाद हम लोग मां को कलकत्ता ले आये कि बनारस में तू अकेली रह कर क्या करेगी, तब मां रात-दिन घनश्यामभाई का ही नाम

रटतीं। जैसे पपीहा मेघ को आतुर होकर पुकारता है वैसे ही हमारी मां दुख की उस घड़ी में भाईजी को पुकार रही थीं। बड़ा भाईजी और ब्रजमोहनभाईजी सब कहते मां यह दान कर ले, वह पुण्य कर ले। मगर मां को तो जैसे कोई सुध ही नहीं थी। बड़ा भाईजी दान-सामग्री पर उसका हाथ छुआ देता और बाकी काम कालीगोदाम में जाकर कर देता। मां की तो बस यही थी कि घनश्याम कब आयेगा!

"घनश्यामभाईजी जब आया तब मां जरा शान्त हुई। घनश्यामभाईजी बोला मां तो आश्रमवासिनी है, और खुद भी आश्रम ही है, हम बच्चों की। तो यह क्यों काशी छोड़ कर हमारे साथ कलकत्ता रहेगी? हम जायेंगे बारी-बारी से रहने इसके पास काशी। तो घनश्यामभाईजी ने ऐसा आर्डर दे दिया कि पन्द्रह दिन महीना भर घर की बहू-बेटियां वहां रह आतीं मां के पास बनारस में। बीच-बीच में बेटे-पोते भी जाकर रहते। एक दिन भी मां को अकेले रहना नहीं पड़ा। घनश्यामभाईजी की बात सुनकर मां की सांस में सांस आयी। चेतना लौटी। फिर सबसे अच्छी तरह बातचीत की। कलकत्ता में और बाद में बनारस में बड़ा भाईजी का बताया सारा दान-पुण्य किया।"

अभी जी. डी. बाबू के मन में अपने पिता के देहावसान का घाव हरा था कि समाचार मिला बड़े जामाता बंसीधरजी डागा गम्भीर रूप से अस्वस्थ हैं। अपने मित्र डा. बिधानचन्द्र राय पर उन्होंने जामाता की देखभाल का दायित्व सौंपा। दिल्ली या बम्बई जहां भी जी. डी. बाबू होते वहां से कलकत्ता बिधानबाबू को फोन मिलाते और जामाता का हाल पूछते। एक दिन जी. डी. बाबू गोविन्द बल्लभ पन्त के यहां प्रीति-भोज में सम्मिलित होने जा रहे थे तभी खबर मिली कि जंवाई बाबू की तबीयत बहुत ज्यादा खराब है। उन्होंने जैसे ही सुना फोन करवा दिया कि प्रीति-भोज में नहीं आ सकूंगा। कुछ देर बाद ही खबर मिली कि बंसीधरजी डागा अब नहीं रहे।

यह खबर मिलने पर जी. डी. बाबू तुरन्त पुत्री को सांत्वना देने रवाना हो गये। उन्होंने स्वयं न एक आंसू गिराया और न अपने और लोगों को गिराने दिया। सबसे उन्होंने कहा कि ऐसा कुछ न करो जिससे चन्द्रकला का दुख बढ़े। हमें तो इसे हिम्मत बंधानी है, इसके आंसू पोंछने हैं। अगर हम खुद ही हिम्मत हार कर रोते रहे तो इसे ढाढस कौन बंधायेगा? जिस समय जी. डी. बाबू चन्द्रकला बाई के कमरे में पहुंचे,जयदेवजी वहीं थीं। उन्होंने उनसे बाहर चले जाने को कहा और कह दिया कि इस तरह रोओ मत। जब जयदेवीजी चली गयीं तब उन्होंने चन्द्रकला बाई को अपनी गोद में लिटा लिया। उसके सिर पर हाथ फेरा। उसे पुचकारा। सांत्वना दी

और वहादुर वनने को कहा। अपनी एक माला भी उन्होंने वेटी को दी। पति की मृत्यु पर निरन्तर रोती आयी चन्द्रकलावाई को चुप कराने में वही सफल हुए।

पिता ने इस अवसर पर पुत्री से क्या कहा होगा इसका अनुमान वंसीधरजी डागा की मृत्यु के कुछ समय वाद 24 दिसम्वर 1956 को चन्द्रकला वाई के नाम भेजे गये जी. डी. वावू के इस पत्र से किया जा सकता है, "मन में जो भाव उमड़ता है उसे लिखती रहो, उससे शान्ति मिलेगी। पुराने संस्मरण यदि कापी में लिखती रहोगी तो पुस्तक वन जायेगी जिससे आगे की पीढ़ी को कुछ भेंट मिल सकेगी। अच्छे पुरुषों की मृत्यु केवल शरीर का नाश वताती है, पर उनकी धवल कीर्ति उन्हें अमरत्व देती है। इसका अनुगामियों पर भी जिम्मा रहता है। वंसी केवल शरीर से गया है, न आत्मा गयी है न उसकी धवल कीर्ति। उसकी स्मृति कायम रखने के लिए उसके आचरणों का अनुसरण होना चाहिए। रोने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि यदि हम उसमें अमरत्व देखते हैं तो फिर आत्म-वियोग नहीं है। शरीर स्थूल वस्तु है इसलिए नाशवान है। उसके वियोग का कोई महत्त्व होना नहीं चाहिए। यद्यपि लोगों को होता है। शरीर के वियोग से जन्मे दुख को दूर करने के लिए हमें आत्मा के स्तर पर सम्पर्क वनाये रखना चाहिए। तुम वंसी को ईश्वर की तरह पूजती थीं, अव भी उसे ईश्वर-स्वरूप मानकर पूजा करनी चाहिए। यह सारी विचार की चीज है। भजन गाने से, अपना कर्तव्य पालन करने से,वंसी की स्मृति की पूजा करने से वंसी की कीर्ति वढ़ेगी और वृथा का क्लेश दूर होगा। जीवन वहुत लम्बा नहीं है। इसलिए थोड़े समय में अधिक से अधिक कर लेना चाहिए। मैं जो कुछ सोचता रहता हूं वही लिखा है। पिताजी मुझे सपने में कहते थे मैं मरा नहीं हूं। वंसी भी अमर है, यह मानकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। रोने से यह सावित होता है कि हम उसमें अमरत्व नहीं देखते।"

1957 जी. डी. वावू के लिए राष्ट्र की ओर से एक विशिष्ट सम्मान लेकर आया। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने गणराज्य दिवस पर जी. डी. वावू के लिए पद्म-विभूषण की घोषणा की। आगे चलकर 1959 में राजस्थान के विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद डी. लिट् और 1967 में वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने मानद एल. एल. डी. प्रदान की। इतिहास और शोध के प्रति उत्साही जी. डी. वावू को कदाचित सवसे अधिक सन्तोष कलकत्ता की एशियाटिक सोसायटी द्वारा 1946 और 1980 में सम्मानित किये जाने पर हुआ होगा।

इन्हीं दिनों पौत्र सुदर्शन कुमार ने जी. डी. वावू को प्रपितामह कहलाने का

सुख दिलवाया। पौत्र सिद्धार्थ का जन्म 1957 में हुआ। तभी दूसरे पौत्र आदित्य की सगाई भी की। जी. डी. बाबू कलकत्ता में कृष्णकुमारजी के पास ठहरे हुए थे। वहां राजश्री नाम की साढ़े दस बरस की एक प्यारी-सी लड़की उन्होंने देखी। दो मिनट उससे बातचीत की और तत्काल निर्णय दिया कि इससे आदित्य की सगाई कर दी जाए। विवाह हुआ साढ़े सात साल बाद।

सरलाजी की मान्यता है, "विवाह ठहराने के मामले में काकोजी पुरानी सामाजिक मर्यादा के पोषक थे और लड़की के पिता की भावनाओं की कद्र करना जानते थे। लड़कियों को नापसन्द करने के लिए देखना अथवा लड़की के सम्बन्ध में बहुत विलम्ब करना उन्हें सुहाता नहीं था। सुदर्शनजी के सम्बन्ध के लिए भी उन्होंने एक ही लड़की सुमंगला को एक ही बार देखा और उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि का विचार करके बोले कि इसी से इसका विवाह कर दिया जाए।"

पौत्रियों की शिक्षा में भी जी. डी. बाबू ने रुचि ली और उनके रिश्ते तय करने में भी योगदान दिया। बसन्तकुमारजी की दोनों पुत्रियों जयश्री और मंजुश्री से पढ़ाई के बारे में कभी-कभी पूछताछ कर लिया करते थे। वैसे वह यह अवश्य चाहते थे कि लड़कियों को घर-गृहस्थी का पूरा काम सीखना चाहिए जैसे—भोजन बनाना, अतिथियों की सम्भाल करना आदि-आदि। उनकी दृष्टि में लड़कियों के लिए ये बातें काफी जरूरी थीं।

युवक प्रकाश मोहता को, जो परिवार में आया-जाया करता था, उन्होंने देखा और कुछ ही मिनटों में बसन्तकुमारजी से कह दिया कि यह लड़का अच्छा है, जयश्री का सम्बन्ध इससे कर देना चाहिए। बसन्तकुमारजी और सरलाजी भी यह सम्बन्ध करना चाहते थे। परन्तु एक प्रकार का संकोच हो रहा था। सरलाजी ने जी. डी. बाबू से कहा कि आखिर प्रकाश मेरी बुआ सासू का दोहता है इसलिए लोग कई प्रकार की बातें करेंगे और संकोच हो रहा है कि यह सम्बन्ध करूं कि नहीं। उन्होंने तत्काल कहा कि सरला,यह सम्बन्ध कर लो और यदि कोई भी कहे तो कहना कि मैंने ऐसा किया है। उलाहना आयेगा तो मुझ पर। इसी प्रकार गजाननजी खेतान के पुत्र शैलेश को मंजुश्री के सम्बन्ध में भी उन्होंने ही देखकर निर्णयात्मक रूप से कह दिया था कि गजानन अपने परिवार में आता-जाता है, यह सम्बन्ध कर लेना चाहिए। वह यह मानते थे कि यदि लड़का अच्छा हो और जान-पहचान के घर का हो तो सम्बन्ध करने में अन्य किन्हीं बातों का संकोच और विलम्ब नहीं करना चाहिए।

कृष्णकुमारजी की तीनों पुत्रियों—नन्दिनी, शोभना और ज्योत्स्ना— की पढ़ाई के बारे में जी. डी. बाबू ने उनके पिता से कभी कुछ नहीं पूछा। खुद बच्चियों से भी ज्यादा पूछताछ नहीं की। हां, सामान्य-ज्ञान बढ़ाने के विषय में प्रोत्साहन देते रहे। साहित्यिक रुचि से सम्पन्न नन्दिनी, जिसने अंग्रेजी में मौलिक रूप से बहुत अच्छा लिखा है और प्रेमचन्द आदि का हिन्दी से अनुवाद भी किया है, दादोजी को विशेष प्रिय रहीं। वैसे लाड़ जताना उनके स्वभाव में था नहीं इसलिए स्नेह का खुला प्रदर्शन कम ही करते थे।

कृष्णकुमारजी बताते हैं कि इन तीनों लड़कियों के लिए वर चुने हम लोगों ने मगर पास काकोजी ने किये।

उधर उद्योगपति के रूप में 1950 के बाद जी. डी. बाबू के मन में बराबर यही संकल्प रहा कि विराट और आधारभूत उद्योगों के क्षेत्र में बिड़ला बन्धु पदार्पण करें। उनकी बहुत इच्छा थी कि टाटाओं की तरह बिड़लाओं का भी अपना इस्पात कारखाना हो। इस सम्बन्ध में उन्होंने कई बार विस्तार से योजना बनायी, देश-विदेश के लोगों से लिखा-पढ़ी की, किन्तु सरकार से उन्हें इसके लिए अनुमति नहीं मिली। समाजवाद में और निजी उद्योग के क्षेत्र में विश्वास करने वाले नेहरूजी तब तक यह नीति बना चुके थे कि बुनियादी उद्योग सरकार स्वयं खोलेगी और चलायेगी। पूंजीपतियों को इस क्षेत्र में नहीं आने दिया जाएगा। 20 अप्रैल 1953 को जी. डी. बाबू ने नेहरूजी के सचिव को लिखा, "हमें ब्रिटेन से विस्फोटक पदार्थ बनाने और जर्मनी से इस्पात बनाने के कारखाने के निर्माण में सहयोग के प्रस्ताव मिले हैं। मैं 60 वर्ष का हो गया हूं और मेरी यह इच्छा कतई नहीं है कि सिर्फ पैसा कमाने के उद्देश्य से नये धन्धे शुरू करूं। ऐसे मामलों में अगर मैं दिलचस्पी ले सकता हूं तो केवल एक उद्देश्य से कि देश में उत्पादन बढ़े। मैं सिर्फ इतना जानना चाहता हूं कि क्या मुझे इन मामलों में आगे बढ़ना चाहिए। सरकार से वचनबद्ध होने को मैं नहीं कहता, मैं तो केवल यह जानना चाहता हूं कि ऐसे मामलों में सरकार की नीति क्या रहेगी?"

बहुत यत्न करने पर भी जी. डी. बाबू सरकार से इस्पात कारखाना स्थापित करने की अनुमति लेने में सफल नहीं हुए। उन्हीं दिनों पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के बहुत ही पिछड़े हुए इलाके मिर्जापुर में रिहन्द बान्ध परियोजना आरम्भ हुई। बान्ध से सिंचाई का प्रबन्ध होने के साथ-साथ बहुत-सी पन-बिजली भी तैयार होने वाली थी। ऐसा अनुमान किया जाता था कि यहां 50 मेगावाट बिजली बेकार चली जायेगी।तब चन्द्रभानु गुप्त जैसे उत्तर प्रदेश के

नेताओं ने जी. डी. बाबू से यह अनुरोध किया कि बान्ध के पास ही कोई ऐसा कारखाना लगायें जिससे बिजली की बड़े पैमाने पर खपत हो सके। जी. डी. बाबू के मन में अल्युमिनियम बनाने का कारखाना लगाने की बात कुछ दिनों से उठ रही थी। जब राज्य के ही नहीं केन्द्र के नेताओं की ओर से भी रिहन्द की बिजली का सदुपयोग करने का आग्रह हुआ तब जी. डी. बाबू ने बहुत तेजी से हिन्दुस्तान अल्युमिनियम कम्पनी 'हिण्डाल्को' की योजना बनायी और उसके लिए अमरीका के प्रमुख उद्योगपति काइजर का सहयोग प्राप्त किया।

सन् 1958 में यह योजना शुरू हुई और 18 ही महीने में रिहन्द बान्ध के पास रेनुकूट में 'हिण्डाल्को' बनकर तैयार हो गयी। यह उपलब्धि इसलिए और भी उल्लेखनीय बन जाती है कि उस समय परियोजना स्थल बीहड़ जंगल था। ईंटें तक 100 मील की दूरी से ढो कर लानी पड़ी थीं। योजना को सफल बनाने के लिए बिहार और मध्य प्रदेश की सरकारों से बाक्साइट उत्खनन के लाइसेंस इस बीच ले लेने थे और अमरीकी सहयोगियों से संयन्त्र और तकनीकी कौशल आयात करा लेना था। 1962 में हिण्डाल्को में विधिवत उत्पादन शुरू हो गया। विराट आधारभूत उद्योग में यह जी. डी. बाबू का पहला कदम था।

हिण्डाल्को की स्थापना से जी. डी. बाबू को ही नहीं नेहरूजी को भी बहुत सन्तोष हुआ क्योंकि यह उत्तर प्रदेश के किसी पिछड़े इलाके में लगाया गया सबसे बड़ा उद्योग था। नेहरूजी अप्रैल 62 में ही हिण्डाल्को देखने जाना चाहते थे लेकिन जी. डी. बाबू ने उन्हें सूचित किया कि गर्मी इस समय बहुत ज्यादा है, आप बरसात के बाद आयें तो अच्छा है। अन्त में जनवरी 1963 को नेहरूजी अमरीकी राजदूत प्रो. गालब्रेथ के साथ हिण्डाल्को देखने गये। वहां बिड़ला बन्धुओं की ओर से राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए 10 लाख रुपया और देने की (यानी कुल मिला कर 60 लाख रुपया) घोषणा की गयी। नेहरूजी ने रेनुकूट से लौटकर अमरीकी उद्योगपति एडवर्ड काइजर के नाम पत्र भेजा, "रिहन्द बान्ध और रेनुकूट कारखाना दोनों ही हमें बहुत प्रभावप्रद मालूम हुए। श्री बिड़ला और उनके साथियों से आपके सहयोग का जो सुखद परिणाम प्रस्तुत हुआ है उसे देखकर हम विशेष रूप से प्रसन्न हुए।"

1959 में जी. डी. बाबू पर एक वज्रपात तब हुआ जबकि उनकी दूसरी बेटी अनुसूया के पति नरेन्द्रसिंहजी तापड़िया का दिल का दौरा पड़ जाने से देहान्त हो गया। उस समय भी वह लन्दन में थे। बुरी खबर सुन कर वह पूरी तरह शान्त रहे और अपना सारा काम निपटाते रहे। उन्हें इतना निरुद्वेग देखकर उनके सचिव राजकुमार गुप्ता और विश्वस्त प्रबन्धक दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया दोनों ही

आश्चर्यचकित रह गये। जिस विमान से जी. डी. बाबू बम्बई लौट रहे थे उसे बम्बई में मौसम खराब होने के कारण रात को पूना के सैनिक हवाई अड्डे पर उतरना पड़ा। सेना के अधिकारियों का दृष्टिकोण यह रहा कि विमान के यात्री इस सैनिक हवाई अड्डे पर उतर नहीं सकते, वह वहीं बैठे रहें। जी. डी. बाबू ने उन पर जोर दिया कि यात्रियों को लाऊंज में आने दें। फिर उन्होंने बम्बई के राज्यपाल श्रीप्रकाशजी को फोन किया कि वह सेना के अधिकारियों से यात्रियों के लिए भोजन का प्रबन्ध करने के लिए कहें अन्यथा विदेशी सैलानियों के मन में भारत की बड़ी खराब छवि बनेगी। राज्यपाल के आदेश पर खाना लाया गया जो जी. डी. बाबू ने स्वयं यात्रियों को परोसा। खुद उन्होंने कुछ नहीं खाया। अगले दिन कार से बम्बई जाने से पहले सहयात्रियों की सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध करवाया। व्यक्तिगत शोक की इस घड़ी में भी उन्हें मुख्य इच्छा राष्ट्रीय छवि की ही रही। अनुसूया बाई अधिकतर जी. डी. बाबू के साथ रही थी और उनकी बहुत लाडली थी। उन्होंने उसे भी उसी तरह धीरज बंधाया जिस तरह कुछ वर्ष पहले चन्द्रकला बाई को बंधाया था।

जी. डी. बाबू के मित्र काइजर ने मैसूर में सीमेण्ट का कारखाना 1958 में लगाया था जो अच्छा चल नहीं पा रहा था। हिण्डाल्को की स्थापना में जी. डी. बाबू का प्रबन्ध कौशल देखकर काइजर इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने जी. डी. बाबू से यह प्रस्ताव किया कि इसे आप ले लें। जी. डी. बाबू आरम्भ में सीमेण्ट उद्योग के प्रति विशेष उत्साही नहीं थे। लेकिन इधर उन्हें तेजी से यह समझ में आने लगा था कि भारत में जितने बड़े पैमाने पर निर्माण-कार्य चल रहे हैं उन्हें देखते हुए सीमेण्ट की खपत बढ़ती ही चली जायेगी और सीमेण्ट सस्ते में बना वही पायेगा जिसके पास प्रबन्धकों का कुशल दल होगा। तो उन्होंने न केवल मैसूर सीमेण्ट 1960 में काइजर से ले लिया बल्कि उसी के आस-पास छः और सीमेण्ट फैक्टरियों के लिए आवेदन किया। 1960 से 1970 के बीच बिड़ला बन्धु बहुत तेजी से सीमेण्ट के क्षेत्र में आगे बढ़े।

1962 का बिड़ला परिवार के लिए विशिष्ट महत्त्व था। ठीक 100 वर्ष पहले 10 मार्च के दिन सेठ शिवनारायण बिड़ला ने बम्बई में अपने कारोबार की नींव रखी थी। जी. डी. बाबू और उनके भाइयों ने बिड़ला उद्यम की शताब्दी मनाने का फैसला किया। जी. डी. बाबू ने 24 फरवरी 1962 को नेहरूजी को सूचित किया कि हम लोग शताब्दी के उपलक्ष्य में देश में टैक्नालाजी की बढ़िया संस्था स्थापित करने की सोच रहे हैं। इसके लिए अमरीका की प्रसिद्ध संस्था मैसाच्यूसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टैक्नालाजी से परामर्श लिया जा रहा है और हमारी संस्था भी

बिलकुल उसी जैसी होगी। जी. डी. बाबू ने यह भी लिखा कि 10 मार्च की दावत में चव्हाण साहब तो आ ही रहे हैं, आप भी आने की कृपा करें। हम आपकी शुभकामना और आशीर्वाद इस अवसर पर चाहते हैं। उसके जवाब में 27 फरवरी को नेहरूजी ने लिखा कि शताब्दी मनाने का तरीका जो आपने सोचा है वह मुझे बहुत अच्छा लगा। आप जिस काम को उठायेंगे, मुझे विश्वास है कि वह सफल होगा। मैं बहुत खुशी से शताब्दी समारोह में हिस्सा लेता लेकिन 10 तारीख को दिल्ली छोड़ना मेरे लिए बहुत मुश्किल है इसलिए बम्बई नहीं आ सकूंगा।

यह समारोह एक विशाल पैमाने पर कलकत्ता में किया गया। वहां के बेल्वेडियर के प्रांगण में सुरुचि से निर्मित एक भव्य पण्डाल में यह आयोजन हुआ। जी. डी. बाबू समारोह के सारे वातावरण को दीप्तिमान कर रहे थे। उनके साथ ही बिड़ला परिवार के उनसे बड़े भाई रामेश्वरदासजी, छोटे भाई ब्रजमोहनजी और अन्य सदस्य उपस्थित थे। डा. बिधानचन्द्र राय, जो कि जी. डी. बाबू के घनिष्ठ मित्रों में से थे, इस समारोह का उद्घाटन करने आये और उन्होंने अपनी हार्दिक शुभकामनाएं जी. डी. बाबू के नेतृत्व और कृतित्व के प्रति प्रकट कीं। इसी प्रकार का आयोजन जी. डी. बाबू की उपस्थिति में बम्बई में भी किया गया, जहां श्री यशवंत राव चव्हाण ने समारोह में उपस्थित होकर अपनी शुभकामनाएं दीं। इस शताब्दी समारोह के अवसर पर अपनी सेवा के 25 वर्ष पूरे कर लेने वाले प्रबन्धकों और कर्मचारियों को विशेष सम्मान-पत्रों से विभूषित किया गया।

आदित्य विक्रम को उच्चतर शिक्षा दिलाने के विषय में जी. डी. बाबू को दो कारणों से उत्साह हुआ। पहला तो यह कि आदित्य विक्रम मेधावी छात्र रहा था। दूसरा यह कि उद्योग-धन्धों की जो नयी दुनिया कम्प्यूटर युग में सामने आ रही थी, उसमें उच्चतर शिक्षा सहायक ही हो सकती थी। तो जिन दिनों जी. डी. बाबू पिलानी के इंजीनियरिंग कालेज को प्रसिद्ध अमरीकी संस्था एम. आई. टी. के नमूने पर बिड़ला इंस्टीट्यूट आफ टैक्नालाजी एण्ड साईंसे का रूप देने के लिए प्रयत्नशील थे, उन्हीं दिनों उन्होंने आदित्य विक्रम का दाखिला एम. आई.टी. में करवाने के लिए लिखा-पढ़ी की। 1962 में आदित्य विक्रम एम. आई.टी में रसायनिक इंजीनियरी पढ़ने रवाना हुए। विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने जाने वाले वह बिड़ला परिवार के पहले सदस्य थे। जी. डी. बाबू और बसन्तकुमारजी ने आदित्य को विदेश भेज तो दिया लेकिन दोनों ही उसके विषय में थोड़े आकुल रहने लगे। आदित्य अमरीका पहुंचे थे कि जी. डी. बाबू स्वयं भी उसके अध्यापकों से बात करने वहां जा पहुंचे।

दो साल की पढ़ाई पूरी करके और एम. बी. ए. की डिगरी लेकर जब आदित्य

विक्रम भारत लौटा तब 9 जनवरी 1965 को उसका राज्यश्री से विवाह हुआ और उसे बाकायदा उद्योग-धन्धों की दुनिया में डाल दिया गया। आरम्भ से ही उसने स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में अधिक रुचि दिखायी और उसका यह रुझान दादोजी को बहुत भाया।

धर्मपरायण रानी मां योगेश्वरी बिड़ला सन् 1956 में पति की मृत्यु हो जाने के बाद वास्तव में योगेश्वरी बन चली थीं और उनके जीवन का एक-एक क्षण जप-तप में बीत रहा था। चारों बेटे कभी अलग-अलग कभी साथ-साथ उनसे मिलने जाते और छोटे पीढ़े खींचकर उनकी खाट के पास बैठ जाते और उनसे बातें करते रहते। उनकी तपस्चर्या का, उनके दान-पुण्य का यह प्रभाव था कि लगभग 100 बरस की होकर भी चलती-फिरती रहीं और अपने पूरे होश में रहीं। मृत्यु से एक दिन पहले तक वह गंगास्नान का अपना नियम निभाती रहीं। जिस दिन वह मरीं,जी. डी. बाबू उनके पास ही थे। वह पीढ़ा खींच कर बैठे और बोले, "बता मां, तेरी क्या इच्छा होती है?" रानी मां योगेश्वरी की तो बस एक ही इच्छा रहती थी कि दान करूं, पुण्य करूं। वही दोहरा दिया। जी. डी. बाबू ने दान-पुण्य करवाया। फिर बोले, "तू कहे तो ब्राह्मण भी जिमवा दूं।" मां ने कहा कल जिमवा देना, आज तो देरी हो गयी है। जी. डी. बाबू ने कहा कि 12 ही तो बजे हैं। बस तुरन्त सारा इन्तजाम करवा दिया गया। ब्राह्मण बुलवाये गये, जिमवाये गये। रानी मां ने समुचित दक्षिणा दी और 1963 में उसी दिन वह चल बसीं। अपनी अन्तिम सांस तक उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं हुआ।

जब चीन से भारत की तनातनी बढ़ी और अन्त में 1962 में चीन ने नेहरूजी के प्रति विश्वासघात करते हुए भारत पर हमला कर दिया तब जी. डी. बाबू राष्ट्र और नेहरूजी की मदद के लिए आगे बढ़ कर आये। जी. डी. बाबू भी तथाकथित दक्षिणपन्थी कांग्रेसियों की तरह नेहरूजी की चीन के प्रति उदार नीति के विरोधी रहे थे। अब जिस समय उस नीति के दुष्परिणाम सामने आ रहे थे और नेहरूजी पर संसद में और बाहर आलोचकों की ओर से प्रहार हो रहे थे, जी. डी. बाबू ने नेहरूजी को पूरा समर्थन और सहायता देने की नीति अपनायी। उन्होंने 23 अक्टूबर 1962 के अपने पत्र में नेहरूजी को लिखा, "मैं कल रात आपका भाषण सुनकर सचमुच रोमांचित हो उठा। आपने लोगों से जो अपील की है कि वह विराट पैमाने पर उत्पादन करने के लिए कठोर परिश्रम में जुट जायें, मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं। मैं तो कठोर से कठोर परिश्रम करने को तैयार हूं। मगर मैं यह नहीं समझ पाता कि अपनी अतिरिक्त ऊर्जा का किस तरह उपयोग करूं? प्रशासन अक्सर बाधा बन जाता है और जब तक प्रशासन को ठीक नहीं किया जाता,मैं नहीं

समझता कि कोई भी व्यक्ति पूरी सदिच्छा होते हुए खास कुछ.कर सकता है। आपने स्वयं ही यह कहा है कि शान्तिकालीन सुस्त ढर्रे को छोड़कर हमें ऐसा ढर्रा अपनाना होगा जिससे नतीजे तेजी से सामने आयें। मैं आपसे सहमत हूं लेकिन यह परिवर्तन अविलम्ब होना चाहिए। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि समूचा वाणिज्य समुदाय अधिक उत्पादन की खातिर बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देने को और ज्यादा से ज्यादा मेहनत करने को तैयार है। अगर सरकार और उद्योग के बीच समुचित सहयोग रहे तो कीमतें बढ़ने का भी कोई खतरा नहीं रहना चाहिए।"

जी. डी. बाबू ने राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए बड़े पैमाने पर धन दिया। उनके अनुदान में लन्दन के एक बैंक में जमा उनके 3200 पौंड 11 शिलिंग का खाता भी शामिल था। इसके अतिरिक्त उन्होंने पूर्वोत्तर सीमान्त क्षेत्र में सैनिकों के लिए क्लब और कैंटीन बनाने में सहायता देने का प्रस्ताव भी रखा। इस दौर में नेहरूजी से अपने पत्र-व्यवहार में जी. डी. बाबू उद्योग-व्यवसाय के प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका कभी नहीं भूले। उनकी ओर से बराबर यह आग्रह हुआ कि उत्पादन और आपूर्ति के लिए एक अलग मन्त्रालय बनाया जाना चाहिए और यह किसी ऐसे तेजस्वी व्यक्ति के अधीन रखा जाना चाहिए जिसे उद्योग-व्यापार का ज्ञान हो। जी. डी. बाबू ने इस ओर ध्यान दिलाया कि जब तक उत्पादन बढ़ता नहीं, तब तक कीमतों की रोकथाम सम्भव नहीं होती।

यह कहना मुश्किल है कि जी. डी. बाबू के आग्रह की नेहरूजी के मन में क्या प्रतिक्रिया हुई। इतना अवश्य है कि चीनी आक्रमण के बाद हुए मन्त्रिमण्डल परिवर्तन में टी. टी. कृष्णमाचारी की वापसी हुई और वह उद्योगमन्त्री बनाये गये। यह जी. डी. बाबू के लिए निश्चय ही उत्साहजनक सिद्ध हुआ होगा। जैसा कि उन्होंने श्रीमती इन्दिरा गाँधी को 20 नवम्बर 1962 के पत्र में लिखा, "उत्पादन बढ़ाने के विषय में अभी तक सरकार से हमें उचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ नहीं है। लेकिन अब टी. टी. के. ने काम सम्भाला है तो मैं आशा करता हूं कि कोई ऐसा मार्ग दिखाया जायेगा जिस पर हम आगे बढ़ सकेंगे।"

प्रसंगवश इन्हीं दिनों श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने बड़े पैमाने पर सेवा-सहायता कार्य शुरू किया। वह अधिकतर पूर्वोत्तर सीमान्त क्षेत्र में जाती रहती थीं। इसके लिए उन्होंने जी. डी. बाबू से बिड़लाओं के विमान का उपयोग करने की अनुमति चाही जो सहर्ष मिल गयी।

यह वह दौर था जबकि चीनी आक्रमण के परिणामस्वरूप अमरीका और भारत एक दूसरे के निकट आते हुए प्रतीत हो रहे थे। जी. डी. बाबू जो आरम्भ से

ही अपने विदेशी सम्पर्क-सूत्रों के माध्यम से महत्त्वपूर्ण जानकारी पाने और देने का काम देश के नेताओं के लिए करते आये थे, पुनः सक्रिय हुए। वह अमरीका गये जहां उन्होंने अपने ढंग से भारत और नेहरू के पक्ष में जनमत तैयार करने का यत्न किया। अपनी तीन हफ्ते की अमरीका यात्रा से लन्दन लौट कर उन्होंने 25 मई 1963 को नेहरूजी को एक विस्तृत पत्र भेज कर यह बताया कि भारत के लिए अमरीकी सहायता और पूंजी विनियोजन बढ़ाने की दिशा में मैंने क्या-क्या यत्न किया। यद्यपि जी. डी. बाबू ने स्वयं निजी उद्योग क्षेत्र में इस्पात कारखाना स्थापित करने की पेशकश की थी और सरकार ने इसकी अनुमति नहीं दी थी, तथापि अमरीका में उन्होंने यही कहा कि निजी उद्योग क्षेत्र उतना बड़ा इस्पात कारखाना लगा ही नहीं सकता जितना कि राष्ट्र के लिए आवश्यक है। इसलिए सरकार का यह निर्णय उचित है कि इस्पात कारखाना सार्वजनिक क्षेत्र में लगे। अमरीकी उद्यमियों को इसमें मदद देनी चाहिये क्योंकि अगर चौथा इस्पात कारखाना नहीं लगा तो भारतीय उद्यमियों का अहित होगा।

इस निहायत दिलचस्प पत्र में जी. डी. बाबू ने आगे चलकर यह सिद्ध किया है कि सारी सरकारी व्यवस्था ऐसी है जिससे उद्यम को प्रोत्साहन नहीं मिलता और उद्योग के रास्ते में रुकावटें आती हैं। जिन मामलों में सरकारी नीति स्पष्ट है उन पर भी दफ्तरशाही कोई निर्णय लेते हुए घबड़ाती है, क्योंकि निर्णय लेने में कभी भूल-चूक हो सकती है। इसलिए अपनी सुरक्षा के लिए उसने यह नीति बनायी है कि काम ही न करो। काम नहीं करोगे तो गलती कैसे होगी? जी. डी. बाबू ने यह भी लिखा, "किस तरह हांगकांग वाले अमरीका में बने-बनाये कपड़े सस्ते भावों में बेच पा रहे हैं किन्तु हम मुरादाबाद की उत्कृष्ट पीतल की चीजें इसलिए अधिक नहीं बेच पाये हैं कि हमारे ही कस्टम वाले उन्हें खोलकर देखने में पैकिंग खराब कर देते हैं और कभी-कभी बर्तन भी।" शराब से कोसों दूर रहने वाले जी. डी. बाबू ने इस पर भी आश्चर्य व्यक्त किया कि जब जापानी बीयर अमरीका में बिक पाती है तो भारतीय बीयर क्यों नहीं?" राष्ट्रहित में छोटी से छोटी बात पर उनका ध्यान गया।

जी. डी. बाबू ने लिखा, "सरकार की नीति क्या हो, क्या नहीं इस बारे में बहस फिजूल है। लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि उत्पादन में गिरावट आ रही है और गिरावट को रोकना जरूरी है। मन्त्रिमण्डल की कोई उच्चाधिकार प्राप्त समिति उत्पादन बढ़ाने के विषय में एक नीति स्थिर कर दे। उस नीति के स्थिर हो जाने के बाद फिर सब काम अपने आप होते चले जाने चाहिए। बगैर रोक-टोक के।"

यह पत्र जी. डी. बाबू की राजनीतिक दृष्टि से नेहरूजी का अन्तरंग बनने की कोशिशों के अन्तिम नमूनों में से एक है। व्यक्तिगत स्तर पर तो नेहरूजी से उनके सम्बन्ध अच्छे पहले भी थे और बाद में भी रहे। किन्तु राजनीतिक दृष्टि से वह उनके कभी इतने निकट नहीं आ सके जितने कि वह महात्मा गाँधी या सरदार पटेल के निकट रहे थे। चीनी आक्रमण से कांग्रेसी वामपन्थियों को धक्का पहुंचा था और नेहरूजी को दक्षिणपन्थियों से थोड़ा-बहुत समझौता करने की आवश्यकता महसूस हुई थी। उन्होंने अपने मित्र और सलाहकार कृष्णमेनन को मन्त्रिमण्डल से हटा कर और कृष्णमाचारी जैसे लोगों को मन्त्रिमण्डल में फिर लेकर अपने विरोधियों को सन्तोष देना चाहा था। किन्तु तुष्टीकरण के इस क्रम में वह इतना आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे कि 'समाजवादी ढंग के समाज' की परिकल्पना को भुला कर 'भारतीय उद्योग के प्रतिनिधि' जी. डी. बाबू को अपना राजनीतिक अथवा आर्थिक सलाहकार बना लें। यों इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरूजी से उनके जीवन काल के अन्तिम दशक में ही जी. डी. बाबू ने अधिक निकटता अनुभव की। जी. डी. बाबू के ही शब्दों में, "मुझे ऐसा लगता है कि नेहरूजी के जीवन के अन्तिम दस वर्षों में मुझे उनका विश्वास, स्नेह और सम्मान प्राप्त था। किन्तु नेहरूजी के सन्दर्भ में ऐसे किसी भी विषय में इतने निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहा नहीं जा सकता।" जो हो, शीघ्र ही नेहरूजी अस्वस्थ हो गये और इस बात की कोई सम्भावना ही नहीं रही कि वह नीति-सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय लें। नेहरूजी की मृत्यु के बाद के घटनाक्रम से यह स्पष्ट हुआ कि कांग्रेस के 'वामपन्थियों' और 'दक्षिणपन्थियों' की लड़ाई चीनी आक्रमण के कारण स्थगित भर हुई थी, समाप्त नहीं।

प्रधानमन्त्री नेहरू के बीमार पड़ जाने से जी. डी. बाबू बहुत चिन्तित हुए। वह बराबर उनके स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ कराते रहे और गुलदस्ते और स्वास्थ्यलाभ के कामना-सन्देश भेजते रहे। काशीमुनीम बताते हैं कि छारण्डी के दिन 28 फरवरी, 1964 को वह जी. डी. बाबू की ओर से कैलीफोर्नियाई गुलाबों का बुके और स्वास्थ्य-कामना सन्देश लेकर सुबह तीनमूर्ति भवन गये। नेहरूजी लान में बैठे मिले। उन्होंने बहुत प्रेम से गुलदस्ता ग्रहण किया और फिर पूछा कि घनश्यामदासजी की सेहत तो अच्छी है न? उन्हें मेरी शुभकामनाएं देना।

इसी दौर में जी. डी. बाबू ने यह प्रस्ताव भी किया कि नेहरूजी के विषय में पूरी फिल्म बनायी जाये। भले ही उन्हें सिनेमा से कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, वह चरितार्थात्मक जीवन देखने और बनाने के विषय में हमेशा उत्साही रहे थे। गाँधीजी के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर फिल्म बनाने की एक आरम्भिक कोशिश

1951 में जी. डी. वाबू ने ही की थी। प्रसिद्ध विदेशी हस्तियों के सहयोग से तब पटकथा भी तैयार हो गयी थी। दुर्भाग्यवश वह फिल्म बन नहीं पायी। नेहरूजी के विषय में फिल्म वनाने का प्रस्ताव भी साकार नहीं हो सका। यद्यपि जी. डी. बाबू ने बराबर आग्रह पूर्वक यह कहा कि नेहरूजी नये भारत के प्रतीक हैं इसलिए उन पर बनी फिल्म भारतीय पुनर्जागरण का जितना प्रचार-प्रसार कर सकेगी उतना और कोई चीज नहीं।

इन घटनाओं से भी यह इंगित होता है कि नेहरूजी के जीवन के अन्तिम दिनों में जी. डी. बाबू ने उनसे पहले से अधिक आत्मीयता अनुभव की।

नेहरूजी की मृत्यु के बाद जी. डी. बाबू ने अपने को निश्चय ही अकेला अनुभव किया होगा। उनके जमाने के सभी प्रमुख नेता राजनीतिक मंच से उठते चले जा रहे थे। महापुरुषों का युग बीत रहा था और लघु मानवों की राजनीति शुरू हुआ चाहती थी।

पांच जनवरी, 1965 को 'जवाहरलाल—द ग्रेट मैन' शीर्षक से जी. डी. बाबू ने श्रद्धांजलि अर्पित की। अपनी चिरपरिचित स्पष्टवादी शैली में उन्होंने लिखा, "वह भावना में बह जाने वाले व्यक्ति थे और ऐसे व्यक्ति न अच्छे प्रशासक होते हैं और न दूसरों का समुचित मूल्यांकन करने वाले। इन कमजोरियों के प्रमाण कई बार मिले। मगर दूसरी ओर वह महान दार्शनिक थे। गाँधीजी ने ठीक ही कहा था मुझसे कि सरदार कारक है, जवाहर विचारक है। मैंने जवाहरलालजी में यह गुण देखा कि अपने पूर्वाग्रह से मुक्त होने में उन्हें देर नहीं लगती थी। जापान की यात्रा करके आये, उसकी प्रगति का परिचय आया तो अपनी पिछली राय बदल दी। मैंने जवाहरलालजी को कभी अपना ढोल पीटते हुए या कि दूसरे की निन्दा करते हुए नहीं देखा। देश की सबसे बड़ी सेवा उन्होंने यह की कि भारत में लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं और परम्पराओं का निर्माण किया। लोकतन्त्र के प्रति वह पूरी तरह और बगैर किसी अगर-मगर के समर्पित थे। लोकतन्त्र में उनकी आस्था कभी नहीं डिगी। मरते दम तक उन्होंने इस विषय में कैसा भी समझौता स्वीकार नहीं किया।"

नेहरूजी के बाद दक्षिणपन्थ के प्रतिनिधि मोरारजी देसाई प्रधानमन्त्री नहीं बन सके। यह पद मिला लालबहादुरशास्त्री को। शास्त्रीजी से भी जी. डी. बाबू भारतीय उद्योगपति के रूप में मिलते रहे। सन् 1965 में भारत-पाक युद्ध के तुरन्त बाद जी. डी. बाबू अमरीका गये और उन्होंने इस बात की कोशिश की कि भारत

और पाकिस्तान के झगड़े में अमरीका का रुझान पाकिस्तान की तरफ से हट कर भारत की तरफ हो जाये। साथ ही उन्होंने शास्त्रीजी से यह अनुरोध किया कि अमरीकी मैत्री और सहायता का महत्त्व समझें और उसे बढ़ाने की कोशिश करें। उन्होंने शास्त्रीजी से यह भी अनुरोध किया कि भारतीय उद्योगपतियों को उत्पादन बढ़ाने और आयात की आवश्यकता समाप्त करने के लिए प्रोत्साहन दें। शास्त्रीजी से जी. डी. बाबू के सम्बन्ध कोई निश्चित रूप लेते उससे पहले ही शास्त्रीजी का ताशकन्द समझौता करने के तुरन्त बाद वहीं निधन हो गया। शास्त्रीजी के उठ जाने से खाली हुई गद्दी के लिए मोरारजी देसाई फिर उम्मीदवार बने। मोरारजी भाई के मुकाबले में खड़ी हुईं नेहरूजी की पुत्री इन्दिरा गाँधी और इस प्रकार 'गाँधीवादियों' और 'नेहरूवादियों' की लड़ाई पूरी तरह खुले में आ गयी। प्रधानमन्त्री का पद इन्दिराजी को मिला और मोरारजी भाई को उप-प्रधानमन्त्री पद से सन्तोष करना पड़ा। '67 का चुनाव कांग्रेस ने श्रीमती गाँधी के नेतृत्व में लड़ा जरूर मगर आम धारणा यह रही कि चुनाव के बाद नेतृत्व का और नीतियों का प्रश्न नये सिरे से उठेगा।

चुनाव में कांग्रेस कई राज्यों में हार गयी और केन्द्र में भी उसका पहले जैसा वर्चस्व न रहा। कांग्रेस के फरीदाबाद अधिवेशन से ही यह संकेत मिलने लगा कि उसमें देर-सबेर फूट पड़ने वाली है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने अधिकाधिक वामपन्थी तेवर अपनाया और कांग्रेस की भीतरी लड़ाई जीत ली। इस नये वातावरण में जी. डी. बाबू के लिए कोई विशेष स्थान हो नहीं सकता था। उधर बिड़ला बन्धुओं पर राजनीतिक प्रहार फिर तेजी पकड़ने लगा।

जी. डी. बाबू नयी प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को पहले से अच्छी तरह जानते थे लेकिन उनके वह बहुत निकट न पहले थे, न अब हुए। सन् 1968 में इन्दिरा गाँधी के जन्मदिन पर 19 नवम्बर को जी. डी. बाबू उन्हें बधाई देने नं–1 सफदरजंग रोड में सन्ध्या वेला गये और कमल के फूलों का बुके भेंट किया। इन्दिराजी उनसे आदरपूर्वक मिलीं। पुष्पों के प्रति अनुराग के मामले में बिड़ला परिवार और नेहरू परिवार सदा से एक-से रहे थे और अक्सर दोनों में गुलदावरी आदि के पौधों का विनिमय होता आया था। इस अवसर पर भी चर्चा फूलों-फलों की हुई, राजनीति की नहीं। राजनीति में जी. डी. वामपन्थी कांग्रेसियों के लिए अमान्य बने रहे। सच तो यह है कि बिड़लाओं पर वामपन्थी कांग्रेस के प्रहार बढ़ते गये। फिर जब यह शिकायत हुई कि गाँधीजी के निर्वाण-स्थल में दर्शनार्थियों के लिए व्यवस्था ठीक नहीं है, तब 2 अक्टूबर, 1959 को स्वयं इन्दिरा गाँधी समाधि पर श्रद्धा व्यक्त करने आईं। रख-रखाव और व्यवस्था पर उन्होंने सन्तोष व्यक्त

किया। उसी 4 अक्टूबर को, जबकि मोरारजी भाई वित्तमन्त्री थे, दिल्ली को छोड़ कर अन्य सभी महानगरों में विड़लाओं के कई निवास-स्थानों और प्रतिष्ठानों पर आयकर विभाग का जांच-पड़ताली दौरा हुआ।

जी. डी. वावू इस सारे घटनाक्रम से क्षुब्ध हुए किन्तु पूरे सन्तुलित रहे। यद्यपि विड़लाओं पर प्रहार हो रहा था, उद्योगपति कोसे जा रहे थे, तथापि अपने कई पुराने साथियों की तरह, भारत के कई उद्योगपतियों की तरह उन्होंने आम तौर से कांग्रेस के और खास तौर से नेहरूवादियों के खिलाफ चले जाने का रास्ता स्वयं नहीं अपनाया। इस बात की चर्चा जरूर हुई कि 1967 के चुनावों में विड़लाओं के अपने इलाके झुंझनूं में कांग्रेस के खिलाफ पहली बार प्रतिपक्ष का कोई ऐसा उम्मीदवार खड़ा हुआ जिसे बिड़ला परिवार का समर्थन प्राप्त हुआ और जो स्वयं भी विड़ला ही था—राधाकृष्णजी विड़ला। राधाकृष्णजी बिड़ला इस चुनाव में जीते और 1967 से 1969 तक की उथल-पुथल भरी राजनीति में ऐसा संकेत मिला कि शायद विड़ला लोग श्रीमती गाँधी के विरोधियों के साथ हो चले हैं। जी. डी. वावू स्वयं इस नीति के पक्ष में नहीं थे।

तभी उधर परिवार में दो बातें हुईं—एक खुशी की, एक गमी की। 14 जून, 1967 को प्रपौत्र कुमार मंगलम के जन्म से जी. डी. बाबू को अपार आनन्द हुआ। इस पड़पोते के खाने-पीने पढ़ने-लिखने सब में उन्होंने आगे बहुत रुचि ली। वह कहा करते, "यह आजकल के बच्चे स्वयं ही बहुत तेज होते हैं और माताएं उनके सिर पर क्यों सवार हो जाती हैं अधिक होमवर्क कराने को ?" सरलाजी बताती हैं, "काकोजी कुमार मंगलम की मां राजश्री से कहते कि तुम कुमार मंगलम को खाना-पीना तो खिलाती नहीं,हो बस पढ़ाई ही करवाती रहती हो। तुम इसे वही खिलाया करो जो इसे भाता है। वच्चा है, इसका मन रखना चाहिए।"

23 जून, 1967 को बड़े भाईजी दानवीर जुगलकिशोरजी बिड़ला का दिल्ली में देहावसान हो गया। वह 84 वर्ष के थे। धर्म और संस्कृति के इस उन्नायक और अथक समाजसेवी का अन्तिम संस्कार लक्ष्मीनिवासजी विड़ला ने निगमबोध घाट पर किया। यद्यपि कई मामलों में जी. डी. वावू का जुगलकिशोर जी से थोड़ा-बहुत वैचारिक मतभेद रहता था तथापि समाजसेवा और समाज-सुधार के प्रति दोनों में उत्साह समान रूप से था। हरिजनोद्धार में जुगलकिशोरजी अपने छोटे भाई से पहले आ गये थे और पं. मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपतराय से उनका वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध था जैसा कि जी. डी. वावू का।

राजनीति से भले ही जी. डी. बाबू स्वयं अब विरक्त थे, उनके सुपुत्र कृष्णकुमारजी पूरे उत्साह से उसमें जुटे हुए थे। वैसे तो सभी पुत्रों में पिता के गुणों का सम्यक प्रभाव आया है किन्तु परिवार में कहा जाता है कि जी. डी. बाबू के अलग-अलग गुण, विशेषता के साथ अलग-अलग बेटों में गये हैं। साहित्य-कलानुराग लक्ष्मीनिवासजी को मिला। उनका राजनीतिक रुझान व पत्रकारिता-प्रेम कृष्णकुमारजी को और औद्योगिक प्रवीणता तथा धर्म-दर्शन का लगाव बसन्तकुमारजी को।

मोरारजी भाई 69 के कांग्रेस विभाजन के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी के विरोधी के रूप में सक्रिय हुए और जब साम्यवादियों से समझौता कर चुकीं इन्दिरा गाँधी ने 1971 में मध्यावधि चुनाव कराये तब झुंझनूं से स्वयं जी. डी. बाबू के सुपुत्र कृष्णकुमारजी इन्दिराजी के उम्मीदवार के विरुद्ध चुनाव मैदान में उतरे। जी. डी. बाबू को स्वयं अब राजनीति के लिए कोई उमंग रह नहीं गयी थी और चुनाव की राजनीति से तो वह बहुत पहले विदा ले चुके थे। इसलिए जब कृष्णकुमारजी ने उनसे चुनाव लड़ने के लिए अनुमति चाही तब उन्होंने अनुमति दी जरूर मगर बहुत उत्साह से नहीं। चुनाव में पुत्र की हार हो जाने पर नवलगढ़ के रावल मदनसिंहजी को उन्होंने लिखा, 'मुझे इसका दुख नहीं है, वह बिजनेसमैन है, इसलिए अच्छा है अब जोर से अपना उद्योग-धन्धा देखेगा।'

बिड़ला बन्धु पहले ही पश्चिम बंगाल में 'घेराव' में आ चुके थे और उन्होंने पश्चिम बंगाल से देश के अन्य भागों में चले जाने की नीति अपना ली थी। अब जब देश में भी उन्हें वातावरण अपने कुछ विरुद्ध होता दिखाई दिया तब उन्होंने भारतीय उद्यम के प्रतिनिधियों के रूप में विदेश जाने का क्रम शुरू किया। जी. डी. बाबू को उस समय अपार आनन्द हुआ जब उनके सुयोग्य पौत्र आदित्य विक्रम ने 1968 में थाईलैण्ड में इंडो-थाई सिंथेटिक्स की स्थापना की और 1976 में अपने दादोजी को दिखाने भी ले गये। विदेशों में बिड़ला उद्यम लगाने की सुविधा के लिए दूरदर्शी जी. डी. वर्षों पहले जुग (स्विट्जरलैण्ड) में बिड़ला ए. जी. नामक कम्पनी स्थापित कर चुके थे।

यों बिड़लाओं ने विदेशों में सबसे पहला उद्योग स्वाधीनता से पहले बर्मा में माड़ का कारखाना स्थापित करके लगाया था, लेकिन वह बाद में वहां राष्ट्रीयकृत कर दिया गया। स्वाधीन भारत के उद्यमियों के रूप में विदेशों में पहला सफल बिड़ला उद्योग सन् 1956 में बसन्तकुमारजी ने इथियोपिया में एक सूती मिल की शक्ल में लगाया। इसके बाद बिड़ला बन्धुओं की बराबर यह कोशिश रही कि

अपने पुराने गढ़ पश्चिम बंगाल से अधिक से अधिक बाहर जायें और यदि सम्भव हो तो विदेशों में पूंजी लगायें। आज दक्षिण पूर्वी एशिया और अफ्रीका में बिड़ला बन्धुओं द्वारा नियन्त्रित या संचालित उद्योग कई हजार करोड़ रुपये की सम्पत्ति वाले हैं।

इसी दौर में कृष्णकुमारजी बिड़ला ने जहाजरानी के क्षेत्र में बिड़ला उद्यम को आगे बढ़ाया, अपनी इंडिया स्टीमशिप और रत्नाकर शिपिंग कम्पनियों के माध्यम से। जी.डी.बाबू के निर्देशन में उन्होंने ही रासायनिक खाद के क्षेत्र में बिड़ला उद्यम का ध्वजारोहण किया—'जुआरी एग्रो कैमिकल' स्थापित करके।

बसन्तकुमारजी ने सैंचुरी स्पिनिंग, जयश्री टी और केशोराम जैसी पुरानी कम्पनियों को नये क्षेत्रों में भी जोत दिया। उनके सुपुत्र आदित्य ने थाईलैण्ड के बाद इण्डोनेशिया और फिलीपींस में नये कारखाने खोले और आज दक्षिण पूर्व एशिया में 10 कम्पनियां चल रही हैं।

ब्रजमोहनजी के सुपुत्र गंगाप्रसादजी ने अफ्रीका में अनेक उद्योग स्थापित किये। वहां के आर्थिक क्षेत्रों में उन्हें अन्यतम स्थान प्राप्त हुआ। माधवप्रसादजी ने बिड़ला जूट के कार्य-क्षेत्र का प्रसार किया और नये-नये उद्यम इस कम्पनी के अन्तर्गत लाये। गंगाप्रसादजी के सुपुत्र चन्द्रकान्त हिन्दुस्तान मोटर्स सम्भालने लगे। लक्ष्मीनिवासजी के सुपुत्र सुदर्शन ओ. सी. एम., युनीवर्सल इलैक्ट्रिक और दिग्विजय जैसी कम्पनियां चलाने लगे। गजाननजी के सुपुत्र अशोकवर्धन ने जेनिथ स्टील और तुंगभद्रा का विस्तार किया और न्यू स्वदेशी जैसी पुरानी मिलों में नयी जान डाली और इलैक्ट्रोनिक्स के नये क्षेत्र में कदम रखा।

इस सारी प्रगति को देखकर वयोवृद्ध घनश्यामदासजी को निश्चय ही अपार सन्तोष हुआ होगा। जिसे अंग्रेजी में 'रैग्स टु रिचिज' यानी फटे हाल से मालामाल वाली बात कहते हैं वह तो बिड़लाओं पर लागू नहीं की जा सकती। किन्तु 'रैग्स टु रिचिज' में जितनी लम्बी चमत्कार-यात्रा निहित है उतनी जी. डी. बाबू के कुशल निर्देशन में बिड़ला बन्धुओं ने 1919 से लेकर इस सदी के आठवें दशक के अन्त तक पूरी कर ली। बिड़ला ब्रदर्स की स्थापना कुल 20 लाख की पूंजी से की गयी थी और शुरू में कई वर्षों तक उसके पास कुल तीन मिलें थीं। जी. डी. बाबू के लिए यह निश्चय ही कृतार्थता का बोध कराने वाला विषय रहा होगा कि अब उनके पास 200 औद्योगिक इकाइयां सीधे और 70 परोक्ष नियन्त्रण में आ चुकी थीं। बिड़लाओं का टाटाओं के बाद दूसरा नम्बर हो चला था और उनके तथा टाटाओं के

बीच नगण्य-सा फासला रह गया था। यह देखते हुए कि टाटाओं ने जब पहली मिल देश में लगायी तब जी. डी. बाबू बम्बई में अभी व्यवसाय का ककहरा सीख रहे थे, यह प्रगति चमत्कारी ही ठहरती है। बिड़ला बन्धुओं की इस प्रगति के मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र सभी जी. डी. बाबू थे, इसमें किसी को भी रंचमात्र सन्देह नहीं। सच तो यह है कि उन्होंने अपने साथ-साथ समूचे मारवाड़ी समुदाय को ऊपर उठा दिया था इस बीच। जहां 1931 में कुल दस कम्पनियां मारवाड़ियों के हाथ में थीं वहां 1951 में सौ और 1968 तक मारवाड़ियों का उद्यमियों में पारसियों-गुजरातियों के बराबर का नम्बर हो रहा था।

उद्योगों के सम्बन्ध में अब भी जी. डी. बाबू बेजोड़ थे लेकिन उनके मन में उद्योगों से भी विरक्ति आने लगी थी। मात्र पैसा कमाना उनका कभी उद्देश्य नहीं रहा था। सार्वजनिक जीवन के अन्तर्गत ही वह पहले भारत की आर्थिक स्वाधीनता के लिए और फिर आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए इस क्षेत्र में उतरे थे। जब राजनीति और सार्वजनिक जीवन से विश्राम लेना था तब इसमें क्या धरा था! उन्होंने ऐसी योजनाएं बनानी शुरू कर दीं कि धीरे-धीरे उनका सारा औद्योगिक साम्राज्य पुत्रों-पौत्रों को मिल जाये। संक्रमण काल में किसी प्रकार की कठिनाई न आये। यों एक प्रकार का विभाजन तो वह 1936 में ही कर चुके थे और अपना सब कुछ बच्चों को दे चुके थे। इधर 1971 के बाद से वह धीरे-धीरे अपने को समेटने लगे।

औद्योगिक जीवन से धीरे-धीरे उनके हटते चले जाने का अर्थ यह कदापि नहीं था कि जी. डी. बाबू ने अपने को पूरी तरह बूढ़ा मान लिया था। वह नित्य नियम से अपना दफ्तर लगाते रहे। फोटोग्राफी जैसे पुराने शौकों में नये रंग ढालते रहे और चित्रकला जैसे नये शौक अपनाते रहे। भाषायें सीखने का क्रम भी उन्होंने जारी रखा और फ्रांसीसी पर अच्छा अधिकार पा लेने की एक अन्तिम और जोरदार कोशिश लिग्वाफोन रिकार्डो के सहारे कर डाली। पठन-पाठन का क्रम भी जारी रहा और उन्होंने लोगों को कुछ बताये बगैर एक पुस्तक के लिए नोट्स लेने शुरू किये। यही बाद में **कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्** नाम से प्रकाशित हुई। संगीत में भी अपनी रुचि उन्होंने बनाये रखी और झमेले से बचने के लिए इलैक्ट्रोनिक साज खरीद लिया जिस पर मूल स्वर निकालकर भजन गाते रहे। देश-विदेशों में यात्राओं का क्रम जारी रहा। विदेशी नेताओं से सम्पर्क बनाना भी उन्होंने नहीं छोड़ा। यद्यपि साम्यवाद के वह विरोधी थे तथापि देश-विदेश के साम्यवादी नेताओं से उनके बहुत अच्छे सम्बन्ध रहे। उन्होंने सोवियत संघ की भी यात्रा की। आखिरी दौर में उनके क्यूबा के कास्त्रो से भी अच्छे सम्बन्ध बने और क्यूबा में

बिड़ला उद्यम का स्वागत हुआ! स्वयं जी. डी. भी वहां जाने वाले थे मगर जा नहीं सके। उनके प्रतिनिधि के रूप में खुशवन्तसिह भेजे गये। जी. डी. बाबू की चीन जाने की भी इच्छा थी और कहते थे कि अगर मेरे शरीर में थोड़ी ताकत होती तो जरूर चीन की विस्तृत यात्रा पर जाता।

बिड़ला परिवार में तीर्थाटन की यशस्वी परम्परा रही थी। जी. डी. बाबू के दादोजी सेठ शिवनारायण और काकोजी राजा बलदेवदास दोनों ने ही देश के तमाम प्रसिद्ध तीर्थों की यात्रा की थी। कर्मकाण्ड विरोधी जी. डी. बाबू तीर्थ यात्राओं के प्रति कभी विशेष उत्साही नहीं रहे थे और 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' के वजन पर कहा करते थे 'मन पवित्र तो हर कहीं तीर्थ—दफ्तर और कारखाने में भी। जब भगवान कण-कण में व्याप्त हैं तब ऐसा कौन-सा स्थान है जो मन्दिर या तीर्थ नहीं है!' पुत्र बसन्तकुमार और पुत्रवधू सरला के स्नेह भरे आग्रह पर जीवन के अन्तिम दौर में जी. डी. बाबू ने उत्तराखण्ड की यात्राओं का क्रम शुरू किया।

1971 के शरद में जी. डी. बाबू बद्रीनाथ की यात्रा करके आये और अक्टूबर 1972 में वह गंगोत्री की यात्रा करने गये। उत्तराखण्ड की यात्राओं का क्रम पूरा करने में केवल जमुनोत्री जाना रहता था। लोगों ने उनसे कहा कि जमुनोत्री की यात्रा कठिन है क्योंकि कच्चे रास्ते से पैदल जाना पड़ता है।

21 अप्रैल 1973 को रामेश्वरदासजी का देहान्त हुआ। आर. डी. और जी. डी. भाइयों की यह जुगल जोड़ी बचपन से मशहूर थी। रामेश्वरदासजी के चले जाने से जी. डी. बाबू को ऐसा लगा मानो उनका एक हाथ कट गया हो। अब उन्होंने जमुनोत्री जाने की जिद की।

बोले,"जब रामेश्वर भाया का देहान्त हुआ तब मैंने अपने से कहा, जमुनोत्री जाकर इस भाया का तर्पण करूंगा। मुझे तो इस तरह के कर्मकाण्ड में कोई आस्था नहीं है। मगर रामेश्वर भाया को थी। इसलिए मैंने जमुनोत्री यात्रा का संकल्प ले लिया है।"

कई कारणों से इस यात्रा में विलम्ब पड़ता रहा। अन्ततः 1974 में गाँधी जयन्ती के दिन जी. डी. बाबू जमुनोत्री यात्रा पर निकले। पिछली तीनों यात्राओं की तरह उत्तराखण्ड की इस चौथी यात्रा में भी जी. डी. बाबू ने डांडी यानी पालकी पर बैठने से इन्कार कर दिया और पैदल ही कच्चे खतरनाक रास्ते पर चले।

80 साल के वृद्ध व्यक्ति का इन दुर्गम पगडण्डियों पर अपनी लाठी का सहारा लेकर बढ़ते ही चले जाना यह उन लोगों के लिए नितान्त प्रेरणादायी दृश्य था जो इस यात्रा में जी. डी. बाबू के साथ गये अथवा जिन्होंने मेरी तरह बाद में इस यात्रा की फिल्म देखी। मैं तो इस फिल्म को देखकर इतना अभिभूत हुआ कि उसी रात मेरी लेखनी से आठ कविताएं अनायास फूट पड़ीं।

जी. डी. बाबू के साहस, संकल्प के समक्ष इस तीर्थ की ऊंचाइयां नमित हो गई और वह यात्रा सकुशल पूरी कर सके। जैसा मैंने लिखा—'हे ऋषि! साहस देख तुम्हारा, जमुनोत्री के दुर्गम पथ खुद द्रवित हो गये।'

जमुनोत्री पहुंचते ही वह स्नान करने गये। जमुना के बर्फ जितने ठण्डे पानी में उन्होंने निश्शंक गोता लगाया और फिर विधिपूर्वक रामेश्वर भाया का तर्पण किया।

गंगा और जमुना के उद्‌गम को देखकर उनकी लेखनी फिर चल उठी और उन्होंने इन दो नदियों और इनके उद्‌गम तीर्थों पर पाण्डित्यपूर्ण लेख लिखे। इनमें जी. डी. बाबू ने यह प्रस्ताव किया कि गंगोत्री और जमुनोत्री को गंगोत्तरी और यमुनोत्तरी कहा जाये, क्योंकि उत्तर दिशा के सन्दर्भ में वही ज्यादा सार्थक मालूम होता है।

उनके पिता तथा उनकी माता दोनों ने ही पूर्ण आयु प्राप्त की थी। इसलिए वर्षो ही वर्षों पहले कभी छोटे पुत्र बसन्तकुमारजी के कौतुकपूर्ण भंगिमा में लिखे इस वाक्य को कि आप तो 90 वर्ष तक जीयेंगे,सही करने में वह हर तरह से समर्थ थे। यद्यपि तब उन्होंने बालक को यह लिखा था कि 90 वर्ष जीने में ही क्या धरा है।

विधाता ने आयु 90 वर्ष की रच रखी है अथवा पूरे 100 शरद दिखाने की इच्छा है उसे, इतना तो स्पष्ट था कि जीवन-नद अब अंतिम मोड़ लेकर विराट चैतन्य के सागर के सम्मुख आ चला था।

रामेश्वरदासजी के देहान्त के बाद जी. डी. बाबू को अपने छोटे भाई ब्रजमोहन बिड़ला का बड़ा सहारा था। रईस तबियत, अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक ब्रजमोहनजी उद्योगपति समाज में 'प्रिन्स' यानी राजकुमार की हैसियत से जाने जाते थे। प्रिन्स और गाँधी बाबा के चेले में अन्तर होना और देखा और दिखाया जाना स्वाभाविक है। किन्तु सत्य है कि घनश्यामदासजी और ब्रजमोहनजी में समानता अधिक थी।

कलकत्ता आने पर युवा ब्रजमोहन को जी. डी. बाबू ने ही व्यापार में दीक्षित किया। आरम्भ में वह भी जी. डी. बाबू की तरह और उनके ही निर्देशन में गनी और पटसन की दलाली करते रहे थे। जब जी. डी. बाबू के उद्योगों में विधिवत चले जाने पर बिड़ला ब्रदर्स नामक मैनेजिंग एजेन्सी फर्म बनायी गयी तब जी. डी. बाबू ने ब्रजमोहनजी को उससे सम्बद्ध रखा और कुछ ही वर्षों बाद उसका मैनेजिंग डायरेक्टर भी बना दिया। अपनी सभी विदेश-यात्राओं के दौरान उन्होंने ब्रजमोहनजी को औद्योगिक मसलों और आर्थिक समस्याओं पर बराबर विस्तृत पत्र लिखे। कार्य-शैली में कम किन्तु कामकाजी निर्णय-शैली में दोनों के तौर-तरीके कुछ भिन्न थे। इस भिन्नता से स्नेह की अभिन्नता में कोई अन्तर नहीं आया।

अतएव स्वाभाविक था कि जब 1977 में बम्बई में जी. डी. बाबू को दिल का दौरा पड़ा तब उन्होंने सबसे पहले ब्रजमोहन को याद किया। पुत्र बसन्तकुमार और पुत्रवधू सरला उनकी सेवा में तत्पर थे। उन्होंने बी. एम. बाबू को कलकत्ता खबर की। बी. एम. बाबू उस समय हजामत बना रहे थे। हजामत बनाते हुए ही टेलीफोन सुनने गये और फिर वैसे-के-वैसे हवाई अड्डे के लिए चल दिये। दाढ़ी भी पूरी नहीं बनायी। बम्बई पहुंच कर उन्होंने देखा कि मिजाजपुर्सी करने वालों ने भीड़ लगा रखी है। भीतर रोगी के कमरे में भी बसन्त और सरला स्थायी रूप से डेरा डाले हुए हैं और सरला नर्सों के तमाम काम खुद ही कर रही है। बी. एम. बाबू ने स्वजनों और इष्टमित्रों को फटकार सुनायी कि यहां भीड़ लगाकर आप लोग खुद परेशान हो रहे हैं और रोगी को परेशान कर रहे हैं। अब मैं आ गया हूं बस मैं ही यहां भाईजी के पास बैठूंगा, खबरदार जो और कोई यहां आया। बी. एम. बाबू एक कुर्सी डालकर रोगी के कमरे के दरवाजे पर दरबान की तरह जम गये। केवल बसन्तकुमारजी और सरलाजी ही उनकी निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर पाये। सरलाजी श्वसुर के सेवा-कार्य में स्वयं तत्पर रहीं और उन्होंने यह काम नर्सों पर छोड़ देने से इनकार कर दिया।

बहूरानी को ब्रजमोहन बाबू ने बहुत मना किया मगर वह रात के वक्त भी आराम करने के लिए अपने कमरे में न जाकर रोगी के कमरे में ही डटी रहने लगीं। रात ज्यादा होने पर वह वहीं फर्श पर चादर बिछा कर थोड़ा आराम कर लेतीं। बसन्तकुमारजी भी वहीं रहते।

स्वजनों की सेवा-सुश्रुषा का चमत्कार कि अल्पतम उपचार से ही जी. डी. बाबू शीघ्र पूरी तरह स्वस्थ हो गये। नियमित और सन्तुलित जीवन के आदी तो

वह आरम्भ से थे ही, अब अपने जीवन में उन्होंने वह अनुशासन भी ढाल लिया जो डाक्टरों ने आवश्यक बतलाया। दिल का दौरा पड़ने से जी. डी. बाबू के मन पर क्या बीती, क्या प्रतिक्रिया हुई इस बारे में उन्होंने कभी किसी से कुछ कहा नहीं। उनके आस-पास के लोगों को अवश्य ऐसी प्रतीति हुई कि जी. डी. बाबू को जीवन की क्षण-भंगुरता और नश्वरता का तीव्र बोध हुआ है। आश्चर्य कि गीता के चिन्तन को अपने जीवन में जवानी से लेकर अब तक बराबर निबाहता आया हुआ यह विलक्षण व्यक्ति अब वृद्धावस्था में दिल का लगभग घातक दौरा पड़ जाने के बाद निस्संगता के ऊंचे बर्फीले शिखर से उतर कर मानवीय माया-मोह की ऊष्ण वादी में चला आया। पहली बार ऐसा हुआ कि कुछ निकट के लोगों ने ही सही, उन्हें भावुक होते देखा। यात्राओं पर भेजने अथवा जाने के समय बसन्तकुमारजी, सरलाजी जैसे निकट के व्यक्तियों से विदा लेते हुए अब उनकी आंखें कई मर्तबा नम होने लगीं जैसा कि दुर्गाप्रसादजी से मालूम हुआ।

उधर व्यावसायिक स्तर पर वह पुत्रों-पौत्रों तथा अन्य स्वजनों के प्रति पहले से भी अधिक तटस्थ हो गये। उनके मन में ऐसा भाव आ गया कि अब मैं बूढ़ा हो चला हूं। अवकाश-प्राप्त हूं। मेरे युग के लोग इस दुनिया से उठ चुके हैं। मैं स्वयं भी पेटी बांधे तैयार बैठा हूं। यह धन्धा-रोजगार सब बच्चों का है और मुझे इसमें ज्यादा दखल नहीं देना चाहिए। उद्योग-व्यवसाय के मामलों से उन्होंने अपने को अधिकाधिक खींच लिया। इस क्षेत्र में कुछ कहते-करवाते उनके मन में थोड़ी-सी झिझक भी आ गई। पहले की तरह तुरत-फुरत आर्डर देना, आनन-फानन काम करवाना, जिसको जो तबियत में आये देना या कह देना उन्होंने अपेक्षाकृत कम कर दिया। सबसे पूछ लो, सबसे सलाह कर लो, ऐसी बात उनके मन में आ गयी।

व्यावसायिक स्तर पर तटस्थता और व्यक्तिगत स्तर पर भावुकता, कुछ अलग ही किस्म का मिश्रण था यह। जितना ही जी. डी. बाबू ने अपने को उद्योग-व्यापार से खींच लिया उतना ही उन्हें अपने स्वजनों की व्यक्तिगत स्तर पर चिन्ता सालने लगी, उतना ही उन्हें अपने सगे-सम्बन्धी याद आने लगे। अपने लम्बे विधुर-जीवन में वह अब तक भरसक यही यत्न करते आये थे कि उनकी पत्नी की चर्चा अधिक न हो। अब वह स्वयं चर्चा करने लगे और अपनी बहन जयदेवी से सुनने भी लगे। अभी गत वर्ष नयी दिल्ली स्थित मंगलम निवास स्थान में उनके बैठने की कुर्सी जिसे वह 'सुखासन' (सिंहासन नहीं) की संज्ञा देने लगे थे, के सामने उनके चित्र के पास जब महादेवीजी का चित्र लगा दिया गया तो बड़ी प्रसन्नता से बोले कि सरला, अब तुम्हारी मां के इस चित्र से मुझे अच्छी कम्पनी मिल जाती है। एक सप्ताह में इस बात को तीन-चार बार दुहरा दिया। जो विस्मृत

हो चुका था, अब उसकी स्मृतियां जाग उठीं।

दिल के दौरे ने उनके मन में निश्चय ही मृत्यु-भय से मिलती-जुलती कोई भावना जगायी क्योंकि लोगों का ध्यान इस ओर खिचा कि वह स्वस्थ लोगों के सान्निध्य को पसन्द करने लगे और अस्वस्थ लोगों से दूर रहना ही ठीक समझने लगे। हृदय रोग की और दिल का दौरा पड़ने की बातें सुनना अब उन्हें अच्छा न लगता। किसी हृदय-रोगी पर उद्योग-व्यापार का कोई बड़ा दायित्व सौंपना उन्हें उलझन भरा काम मालूम होने लगा। शरीर से स्वस्थ और चुस्त-दुरुस्त लोग उन्हें शुरू से पसन्द और ढीले-ढाले अस्वस्थ लोग नापसन्द थे। अब यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ गयी।

घुमक्कड़ों वाला स्वभाव उनका शुरू से था। भारत में वह घूमते ही रहते और हर साल विदेश भी जाते । दिल का दौरा पड़ने के बाद घुमक्कड़ी में कोई कमी नहीं आयी। लेकिन उम्र बढ़ने के साथ-साथ मन में ऐसा भाव जरूर आने लगा कि कहीं बहुत दूर या अकेला न पड़ा रह जाऊं। जहां तक हो सके बच्चों के साथ या आस-पास ही रहूं। क्या पता कब ऊपर से बुलावा आ जाये। यह भी देखा गया कि जीवन के अन्तिम वर्षों में जब भी जी. डी. बाबू विदेश यात्रा पर गये,अपने साथ चार-पांच और लोगों को जरूर ले गये। वरना शुरू में तो वह केवल अपने सचिव के साथ जाते थे और अन्य व्यक्तियों को औद्योगिक परामर्श के लिए आवश्यक होने पर ही बुलाते थे। घुमक्कड़ जी. डी. बाबू को भारत में सबसे अच्छा नगर बम्बई मालूम होता था। उनका दूसरा प्रिय नगर था बंगलौर हालाकि वह चाह कर भी वहां ज्यादा रह न पाते। दिल्ली में पहले बहुत रहना होता, बाद के वर्षों में कुछ कम हो गया। मसूरी और इधर में गंगालहरी (ऋषिकेश) उन्हें एकान्तवास के लिए प्रिय रहे।

जीवन के अंतिम दौर में तीर्थयात्राओं का और दार्शनिक साहित्य के पठन-पाठन का महत्त्व जी. डी. बाबू के लिए सहसा बहुत बढ़ गया। अपने जमाने के नेताओं के उठ जाने के बाद राजनीतिक जगत् में जी. डी. बाबू की न पहले जैसी पैठ रही और न दिलचस्पी। उद्योग-व्यापार में भी अब उन्हें कुछ विशेष करना-कहना था नहीं। देश-विदेश के नेताओं से मिलना, रसिकजनों के साथ ज्ञान-गोष्ठी करना, सार्वजनिक आयोजनों में हिस्सा लेना यह सब उनकी दिनचर्या का महत्त्वपूर्ण अंग रहा था लेकिन अब इसमें भी बहुत कटौती हो गयी। इससे निश्चय ही उन्होंने कुछ रिक्तता अनुभव की होगी। बहुधा वृद्ध लोग ऐसी रिक्तता धर्म-कर्म से भरते हैं। धर्म के कर्मकाण्डी पक्ष में उनकी तो अरुचि ही थी।

वृद्धावस्था में भले ही उसके उतने विरोधी न रहे हों तथापि इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता था कि वह सहसा पूरी तरह कर्मकाण्ड-विश्वासी हो जाते। धर्म के दार्शनिक पक्ष में अलबत्ता किशोरावस्था से ही उनकी रुचि थी। दिल का दौरा पड़ जाने के बाद यह रुचि कुछ और भी गहन हो गयी।

उनके तत्कालीन सचिव श्यामलाल का कहना है कि वह दिन में पांच-छः बार तो गीता ही उलटने-पलटने लगे। रामचरित मानस के पठन-पाठन में भी उनकी दिलचस्पी सहसा बढ़ गयी। अलग-अलग शहरों में अपने निवास-स्थानों पर मानस की एक-एक प्रति रखवा दी। श्रीमद्‌भागवत का भी बहुत मनोयोग से अध्ययन करने लगे। अपनी पुत्रवधू सरला को उन्होंने बताया कि जब मैं दिल का दौरा पड़ने के बावजूद जिन्दा रह गया तब मुझे ऐसा लगा कि भगवान ने मुझे मौत के मुंह से वापस भेजा है तो इसीलिए कि वह मुझसे कोई ठोस और भला काम करवाना चाहता है। मैं श्रीमद्‌भागवत का अध्ययन करके श्रीकृष्ण भगवान के विषय में जो पुस्तक लिखना चाहता था उसे पूरा करने के लिए ही शायद मुझे भगवान ने जिन्दा रखा है। भागवत के आधार पर अपनी पुस्तक 'कृष्णं वंदे जगदगुरुम्' जी. डी. बाबू ने स्वस्थ होते ही तुरन्त पूरी की और छपवायी। सन् 1978 में इसका नयनाभिराम संस्करण प्रकाशित कराने का दायित्व मुझे ही मिला। कई विद्वानों की राय में, जिनमें जी. डी. बाबू के अन्यतम साहित्यिक मित्र वियोगी हरि और हजारीप्रसाद द्विवेदी भी शामिल हैं, 'कृष्णं वंदे जगदगुरुम' जी. डी. बाबू की सर्वश्रेष्ठ कृति है। रामकिंकरजी उपाध्याय ने अपने पत्र में इसे 'ग्रंथि रहित ग्रंथ' बताया है। बाद में वाल्मीकि रामायण, रामचरित मानस आदि ग्रन्थों के आधार पर भगवान श्रीराम के बारे में भी जी. डी. बाबू ऐसी ही पुस्तक तैयार करने में जुटे। इस सम्बन्ध में उन्होंने बहुत सी सामग्री एकत्र की, बहुत से नोट्स तैयार किये लेकिन पुस्तक वह पूरी कर नहीं पाये।

1982 के प्रारम्भ में ही जी. डी. बाबू को यह बुरी खबर मिली कि छोटे भाई ब्रजमोहन को दिल का दौरा पड़ गया है। दिल के दौरे से भुक्तभोगी होने के नाते वह बहुत घबड़ाने लगे थे। ब्रजमोहन उनका एकमात्र जीवित भाई था, और उद्योग के क्षेत्र में उनकी परम्परा को बढ़ाने में तो उसका अन्यतम स्थान रहा था। ब्रजमोहन और उसकी पत्नी रुक्मणीदेवी ने विधुर जी. डी. बाबू के बच्चों को पाला-पोसा था और इतनी अच्छी तरह कि रुक्मणीदेवी से अपने बच्चों के विषय में कुछ कहने-पूछने की जरूरत जी. डी. बाबू ने कभी अनुभव नहीं की। वह अक्सर परिवार के और लोगों के सामने अपने इस लाड़ले भाई और उसकी सुशीला

धर्मपत्नी की प्रशंसा करते। रुक्मणीदेवी भी अपने जेठ का बहुत अधिक आदर करतीं। जी. डी. बाबू की बहन जयदेवीजी बताती हैं कि ब्रजमोहन भाईजी की पत्नी हवाई अड्डे से उतर कर पहले उन्हें प्रणाम करने जाती और फिर अपने घर। ब्रजमोहन भाईजी और घनश्यामभाईजी दोनों के मन में एक-दूसरे के लिए खास जगह थी। कोई भी बड़ा काम होता तो घनश्यामभाईजी ब्रजमोहन भाईजी से जरूर सलाह करते।

परिवार के बाहर जरूर यदाकदा इस तरह की खबर फैलाने की कोशिश हुई कि दोनों भाइयों में बनती नहीं है और दोनों का एक दूसरे से तनाव है। सच तो यह है कि दोनों में कभी कोई झगड़ा हुआ ही नहीं। मतभेद अलबत्ता हुआ मगर वह भी ज्यादा अर्से तक खिंचा नहीं। जी. डी. बाबू जब अपने छोटे भाई को हिण्डाल्को दिखाने ले गये तो भरत-मिलाप जैसा दृश्य प्रस्तुत हुआ। रेनुकूट में बी. एम. बाबू का ऐसा स्वागत हुआ जैसा किसी का न पहले हुआ था और न आगे होगा। बी. एम. बाबू और उनकी पत्नी दोनों गद्गद हुए।

अब यही ब्रजमोहन बाबू बीमार पड़े थे और बीमारी से बेहद घबड़ाने लगे जी. डी. बाबू, जिनके सामने उन्हें देखने जाने का सवाल प्रस्तुत था। वह अपनी बहन जयदेवी के साथ ब्रजमोहन को अस्पताल में देखने गये। मगर दरवाजे पर ठिठक कर खड़े हो गये। जयदेवीजी के शब्दों में, "मैं भीतर कमरे में गयी और ब्रजमोहनभाई के सिर पर हाथ फेरा, मैंने कहा कि जल्दी से ठीक हो जा। ब्रजमोहनभाई बोले कि हां मैं ठीक हो जाऊंगा, फिर हम लोग स्काटलैण्ड चलेंगे; तू अरुण वगैरह को साथ ले लेना और मैं भी लेखा को साथ ले लूंगा। मैं बाहर आयी और मैंने कहा कि घनश्यामभाईजी,आप भी उसके सिर पर हाथ फेर आओ। सुनकर, वह भीतर जाने को हुए लेकिन तुरन्त ही लौट गये और बोले, 'मुझसे यह सब देखा नहीं जाता।' असल में बात यह थी कि ब्रजमोहनभाईजी बड़ी तकलीफ में थे और उनको डाक्टरों ने कई तरह की नलियां लगा रखी थीं। उस हालत में वह उसे देखने को अपने को तैयार नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने डा. मदन से भी यही कहा कि ब्रजमोहन का कष्ट मुझसे देखा नहीं जाता। तुम लोग उसे ज्यादा दुख-तकलीफ नहीं होने देना।"

लोगों ने लिफ्ट के पास जी. डी. बाबू से फिर कहा कि आप अपने भाई को देखने जायें तो अच्छा रहेगा। वह बार-बार आपके लिए ही पूछ रहे हैं। जानना चाहते हैं कि भाईजी का स्वागत ठीक से किया कि नहीं? उनको माला पहनायी या नहीं? उनको कौन-सी लिफ्ट से ऊपर लाओगे और ले जाओगे आदि ? लोगों के

जोर देने पर जी. डी. बाबू रोगी के कमरे के दरवाजे से आगे बढ़ नहीं पाये। अब रोगी पूछने लगा कि आये तो मुझसे मिल कर क्यों नहीं गये ? जवाब यही दिया जा सकता था कि तुम्हारा सुख पूछ गये हैं और तुम्हें परेशान नहीं करना चाहते थे इसलिए भीतर नहीं आये। जयदेवीजी के शब्दों में, "ब्रजमोहन भाई अपने मन में यह समझ ही गया होगा कि घनश्याम भाईजी अपने लाड़ले छोटे भाई को इस तरह नहीं देखना चाहते थे इसीलिए दरवाजे पर आकर लौट-लौट जा रहे हैं।"

11 जनवरी 1982 को सुबह सवा तीन बजे जी. डी. बाबू के छोटे भाई बी. एम. बाबू जाते रहे। राजा बलदेवदास के चार सुयोग्य पुत्रों में से केवल अब जी. डी. ही बचे थे और हर तरह से अकेले रह गये थे। जयदेवीजी के शब्दों में, "घनश्याम भाईजी मुझसे बोले कि अब अगर मैं कोई काम करना भी चाहूं तो उसके बारे में सलाह किससे करूं ? ब्रजमोहन अब रहा नहीं और बच्चों से तो क्या करूं!"

अपनी बीमारी के बाद से ही जी. डी. बाबू अपने परिवार वालों में, खासकर बेटी-बहुओं और नाती-पोतों में बहुत रुचि लेने लगे थे। ब्रजमोहनजी के देहान्त के बाद उनका माया-ममता वाला यह पक्ष कुछ और प्रबल हो गया। बल्कि एक बार उनकी मुंह लगी बेटी शान्तिबाई ने उनसे यह कहा, "बचपन में अगर आपने इतना स्नेह दिया होता, जितना आजकल देते हैं तो कितना अच्छा होता! बचपन में जब हम दिल्ली आपके पास आते अथवा आप बम्बई हमारे पास, आपके बारे में हम सुनते ही सुनते कि आप घर में आ गये हैं या घर से चले गये हैं। देखने और बात करने का अवसर कम ही मिलता।"

जी. डी. बाबू ने कुछ देर इस आक्षेप पर मनन किया और बोले, "देख शान्ति, जब तेरी मां गयी तब मैंने तुम लोगों को रामेश्वर भाया और भाभी को सौंप दिया। अगर मैं तुम्हारी तरफ ज्यादा खिचता या तुम मेरी तरफ ज्यादा खिचते तो तुम्हें वह संभाल कहां से मिलती, वह स्नेह कहां से मिलता जो भाया और भाभी ने तुम्हें दिया।"

शान्तिबाई ने काकोजी के कथन की सच्चाई स्वीकार करते हुए कहा, "बाबोजी (रामेश्वरदासजी) की जितनी लगन में मैं थी उतनी कोई नहीं। वह तो दोनों टाइम भोजन भी मेरे हाथ से करते। मैंने उनका भी स्नेह पाया और आपका भी। यह तो मेरा दोहरा सौभाग्य हुआ।"

शान्तिबाई इस स्थापना से सहमत हैं कि जी. डी. बाबू जीवन के अन्तिम वर्षों में काफी भावुक हो चले थे। अपनी पत्नी को अक्सर याद करते। शान्तिबाई के शब्दों में, ''इन दिनों उठते-बैठते मां का ही नाम लेने लगे थे। हम उनसे कुछ फ्री हो गये थे इसलिए मां के बारे में उनसे तरह-तरह के सवाल भी कर लेते थे। वह भी बड़े ही स्नेह से हमें मां के बारे में कई बातें बताते। एक बार उन्होंने पदम को बहुत धमकाया। जब वह उसे धमका रहे थे तब मैं मुंह नीचा करके हंस रही थी। जब वह चला गया तब मैं खुलकर हंसने लगी। इस पर काकोजी ने कहा कि तेरी मां भी बहुत हंसती थी। एक बार हंसी छूटती उसकी तो रुकती नहीं। ऐसे ही नीची निगाह करके हंसती जाती थी जैसे तू। एक बार उसकी हंसी बाहर के कमरों में भी सुनाई दी तब मैंने उसे जाकर धमकाया, जितना धमकाया उतना ही हंसी।''

शान्तिबाई बताती हैं कि काकोजी मां की सहनशीलता की भी बहुत चर्चा करते थे। वह बताते थे कि जब तेरी मां बीमार पड़ी और उसे पता चल ही गया कि रोग लाइलाज है और अब वह बचेगी नहीं तब भी वह न घबड़ायी और न उसने कोई दुख का इजहार किया। बच्चों का मोह उसे जरूर था। सबसे अधिक बसन्तो का—छोटा बेटा जो था।

82 की गर्मियों में पुत्र बसन्तकुमार और पुत्रवधू सरला ने जी. डी. बाबू से अनुरोध किया कि आप हमारे साथ केदारनाथ की यात्रा पर चलें। आपके साथ होने से हमारे लिए यात्रा का महत्त्व बढ़ जाएगा और आप भी हिमालय-दर्शन करके आनन्दित होंगे। बहुत मनाने पर जी डी. बाबू मान गये लेकिन उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि अगर मैं जाऊंगा तो आम तीर्थ-यात्री की तरह पैदल ही जाऊंगा। मुझे डाण्डी (पालकी) पर चढ़ना और दूसरों का बोझ बनकर शिखरस्थ मन्दिर पर पहुंचना स्वीकार नहीं। अगर शरीर की निर्बलता के कारण किसी जगह से आगे नहीं बढ़ पाया तो उसे ही अपना केदारनाथ मान लूंगा और वहीं शीश नवा कर लौट आऊंगा। भगवान की कुछ ऐसी कृपा रही (आखिर केदारनाथवासी महेश, माहेश्वरियों के सिरमौर पर कृपालु क्यों न होते) कि वयोवृद्ध जी. डी. बाबू केदारनाथ की यात्रा सकुशल पूरी कर आये।

केदारनाथ के मार्ग पर जगह-जगह बिड़ला परिवार का स्वागत किया गया। सरलाजी ने जी. डी. बाबू की ओर से यथोचित दान-पुण्य किया। गांवों के लोग जी. डी. बाबू को जानते नहीं थे। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इस बूढ़े आदमी के साथ परिवार के इतने लोग हैं मगर इनमें से किसी में इतनी दया नहीं है कि इसके लिए डाण्डी करवा दें। कुछ ने तो सीधे बसन्तकुमारजी से यह पूछ लिया कि क्या

यह आपके पिता हैं? और जब उन्होंने उत्तर में 'हां' कहा तब वह बोले कि अगर आपको पैसों की बहुत तंगी न हो तो इनके लिए एक डाण्डी करवा दीजिए न! यात्रा से लौटने पर ऐसे प्रसंग जी. डी. बाबू बहुत रुचि से सुनते-सुनाते।

अगर गांवों के अनजान लोग बसन्तकुमारजी को यह सलाह दे रहे थे कि कुछ पैसे खर्च करके अपने बूढ़े पिता के लिए पालकी करवा दो तो वह कुछ गलत नहीं कर रहे थे। वयोवृद्ध जी. डी. बाबू की जर्जर काया केदारनाथ की सीधी-तीखी चढ़ाई पर सचमुच चरमर कर उठी थी। उनके पांव जवाब देने लगे थे। मगर वह हार मानने को तैयार नहीं हुए। और किसी में इतना साहस था नहीं कि उनसे कह सकता कि अब जिद छोड़िये और डाण्डी कर ही लीजिए। रुकते, सांस लेते, गिरते-पड़ते किसी तरह जी. डी. बाबू अन्ततः केदारनाथ पहुंच ही गये। वहां जब बिड़लाओं द्वारा निर्मित विश्राम भवन में एक सोफे पर बैठ कर उन्होंने गहरी सांस छोड़ी तब उनके साथ आये रमणलालजी बिन्नानी ने जी. डी. बाबू की जमुनोत्री यात्रा पर लिखी हुई मेरी ही एक कविता की पंक्ति 'हिमगिरि की चोटी पर कैसे, आया सागर चलकर' को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया, 'हिमगिरि की चोटी पर ऐसे आया सागर चलकर।' इस पर जी. डी. बाबू खूब प्रसन्न हुए।

केदारनाथ यात्रा के दौरान उनसे जिज्ञासुओं ने कुछ प्रश्न भी किये और उनके उत्तर में उन्होंने पहली बात यह कही कि केदारनाथ की यात्रा मेरे लिए कोई खास तीर्थयात्रा नहीं है। वह बोले, "जो भगवान केदारनाथ में प्रतिष्ठित है वही सर्वत्र प्रतिष्ठित है। इसलिए मेरा यह कहना भूल करना होगा कि केदारनाथ की यात्रा ही मेरे लिए तीर्थयात्रा थी। पूरा जीवन ही धर्मयात्रा है, तीर्थयात्रा है। अगर भक्तिभाव से जाओ तो केदारनाथ जाने में और अपने कार्यालय जाने में कोई अन्तर है नहीं।"

यह पूछे जाने पर कि फिर भी आप केदारनाथ क्यों जा रहे हैं, उन्होंने एक ऐसा उत्तर दिया जो उनके विनोदी स्वभाव और विद्वत्ता दोनों का ही परिचायक था। वह बोले, "अपने अहंकार के मारे जा रहा हूं। यह दिखाने के लिए कि इस उम्र में भी मेरे पांवों में इतनी ताकत है कि केदारनाथ तक पहुंच सकूं। यों यह अहंकार भी दूसरों का उपकार कर सकता है। अगर इस उम्र में मेरा केदारनाथ जाना दूसरे व्यक्तियों को भी इस तीर्थ-यात्रा के लिए प्रेरित करेगा तो अच्छा ही होगा। यह सम्भव है कि वह कदाचित आरम्भ में यह न समझ पाये कि श्रद्धा और निष्ठा हर जगह को तीर्थ और हर कार्य को आराधना का दर्जा दे सकती हैं। सम्भव है कि वह किसी प्रकार के मोह अथवा सम्भ्रम के कारण इस तीर्थ-यात्रा पर निकले। लेकिन

मैं समझता हूं कि धर्म के सम्बन्ध में ऐसा मोह भ्रम भी बुरा नहीं क्योंकि वह सद्मार्ग पर ही ले जाता है।"

यात्रा से लौटने पर उन्हें अपनी अवस्था और बढ़ती असमर्थता का बहुत तीखा बोध हुआ। एक बार मंगलम में मुझसे बोले, "भाई, अब नब्बे बरस का होने वाला हूं। चलने-फिरने में भी थोड़ा-बहुत दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। सरला का हाथ पकड़ कर चलते मुझे बहुत असमंजस होता है। यह तो जैसे बच्चा बन जाने वाली बात हुई। पर अब शरीर में शक्ति नहीं रही। क्या किया जाए! कई बार मन करता है कि सब कुछ बसन्त पर छोड़कर वानप्रस्थ धारण कर लूं, जैसे राजा रघु ने किया था।"

उनकी बात बीच में ही काट कर बी. के. बाबू ने कहा, "नहीं जी, ऐसे कैसे होगा। फिर तो मैं भी आदित्य पर छोड़ कर वन चला जाऊं।"

जी. डी. बाबू सुनकर मुस्कराये और बोले, "मैं वानप्रस्थी बना थोड़े ही हूं। जी कभी-कभी उचटता है मगर गीता का स्मरण हो आता है और मैं काम में जुट जाता हूं।"

यह एक विचित्र तथ्य है कि स्वयं अपनी मृत्यु के पूर्व के वर्षों में उन्हें अपने कई संगी-साथियों की मृत्यु याद आने लगी। एक बार रामकृष्णजी बजाज की पत्नी से मिले तो बोले, "तुम्हारे दादाजी राधाकृष्णजी पोद्दार की बात सुनाता हूं। उन्हें 'बड़े' खाना बहुत पसन्द था। बड़े बनवा कर छींके पर रखवा देते और बहुत दिनों बाद तक खाते रहते थे। जब वह बहुत बीमार पड़े और उनकी मृत्यु आसन्न मालूम पड़ी तब मैंने उनसे कहा कि यदि आप अधिक जीना चाहते हैं तो बड़े खाना अब बन्द कर दें। वह बोले, 'बड़े खाना ही बन्द करना है तो जीवन में क्या रखा है।'

"एक दिन सुबह नाश्ते पर बताने लगे कि मरते समय किसको क्या इच्छा हो सब भगवान की मर्जी है। रामनारायणजी रुईया से वर्धा में मरने से एक घण्टे पहले जमनालालजी बजाज ने पूछा कि आपकी कोई इच्छा हो तो कहिये। वह बोले कि पत्ती खेलेंगे। तो जमनालालजी, रामेश्वरभाई और उन्होंने मिलकर खेली। इसी तरह राधाकृष्णजी साथोलिया ने मरते समय मुझसे कहा कि अब तो मेरा आखिरी वक्त आ गया है। बस गौहरजान का नाच करा दो। उसे देख लूं तो चलूं। ऐसा ही हुआ भी।"

गाँधीजी के सचिव प्यारेलालजी की मृत्यु का समाचार पढ़कर जी. डी. बाबू बोले, "बेचारा अस्पताल में जाकर मरा। अन्त समय तो आदमी को भगवान का ध्यान करना चाहिए। अस्पताल में जाकर भगवान का ध्यान कैसे करे? पक्की उम्र में आदमी को घर ही में मरना चाहिए। अस्सी पार किये बूढ़ों को अस्पताल में ले जाना और इंजेक्शनों के बल पर जिला कर रखना, इसमें क्या धरा है? मेरा दोस्त जार्ज वुड, जो वर्ल्ड बैंक का चेयरमैन रह चुका था, बुढ़ापे में कैंसर का रोग हो जाने पर घरवालों और डाक्टरों के लाख कहने पर भी अस्पताल में भर्ती नहीं हुआ। उसने इस बारे में मुझे पत्र लिखा था। वह छः महीने बाद घर में अपने कमरे में, अपने लोगों के बीच मरा। ऐसी ही मौत उसे पसन्द थी।"

जी. डी. बाबू की इन्द्रियातीत शक्तियों में विशेष आस्था थी नहीं किन्तु जीवन में कई बार स्वयं उन्हें इन्द्रियातीत बोध हुए। मृत्यु से पहले के इस दौर में उनकी छठी इन्द्री काफी सक्रिय हो गयी। उन्हें एक दिन सपने में अपना पुराना रसोइया लोकनाथ यह कहता हुआ दिखाई दिया कि मैं मर गया हूं। उठकर सुबह उन्होंने इसकी चर्चा भी की। चार दिन बाद एक पोस्टकार्ड मिला कि अवकाश प्राप्त रसोइया लोकनाथ ठीक उसी समय मरा जिस समय वह सपने में जी. डी बाबू को दिखाई दिया।

इन्हीं दिनों वे कभी-कभीअपनी पुत्रवधू सरला से यह भी कहने लगे कि पुनर्जन्म में ज्यादा विश्वास कभी रहा नहीं। मगर अब ऐसा लगने लगा है कि मैं अगले जन्म में कुमार मंगलम का बेटा बनकर आऊंगा।

मृत्यु और वृद्धावस्था दोनों ही अब बहुधा जी. डी. बाबू की चर्चा का विषय बनने लगे। एक बार भगवतीप्रसादजी खेतान से उन्होंने कहा, "जवानी चली जाती है तो वापस नहीं आती। और बुढ़ापा आ जाता है तो लौट कर नहीं जाता।" कभी-कभी वह किसी अंग्रेज लेखक की ये पंक्तियां दोहराते, "दी ओल्ड मैन चीट्स गॉड आल्सो बाय नॉट लीविंग ऑन टाइम।" (वृद्ध व्यक्ति वक्त से विदा न होकर भगवान से भी धोखाधड़ी कर रहा है।)

एक बार बातचीत में जब लोग प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर यह चर्चा करने लगे कि मृत्यु के बाद क्या होता है? उन्होंने कहा, "मृत्यु के बारे में लोग तरह-तरह की बातें करते हैं मगर ऐसा कौन है जो मृत्यु को भोगकर उसकी अनुभूति कर लौटा हो और उसने आकर कुछ बताया हो।"

इन दिनों जब भी जी. डी. बाबू को उनकी प्रशंसा में लिखी गयी कोई सामग्री

दी जाती, वह कहते, "अरे भाई, मैं खुद खूब जानता हूं कि मैं क्या हूं। मुझसे ज्यादा और कौन जानेगा!"

इस प्रसंग में और जीवनचरित की बात उठाये जाने पर वह यह भी कहते कि, "भारतीय लोग तो शेष गुना-भाग लिखना जानते हैं, जीवनचरित नहीं। मेरे बारे में लिखने बैठेंगे तो मुझे देवता ही बना देंगे।"

यह कहे जाने पर कि आप लोकप्रिय हैं और लोगों में आपके प्रति बहुत श्रद्धा है इसलिए उनकी लेखनी आपका गुणगान करती है, वह मुस्कराकर जवाब देते, "मुझे लोग मेरी उम्र, मेरा अनुभव और मेरी हैसियत देखते हुए सम्मान भले ही देते हों मगर मुझे यह अच्छी तरह पता है कि मैं लोकप्रिय नहीं हूं। मैं तो लोगों की भूलें बता देता हूं, उनकी आलोचना करना और उन्हें गलत काम करने से रोकना अपना कर्तव्य मानता हूं। इसलिए मैं लोकप्रिय कैसे हो सकता हूं?"

वृद्धावस्था में जी. डी. बाबू ने अपने बच्चों से कुछ भी नहीं मांगा। जबकि बच्चों के मन में सदा यही भावना रहती कि पिता सेवा का कोई अवसर प्रदान करें। यह प्रसंग उठने पर वह कहते, "वृद्धावस्था में सुख-संतोषपूर्वक जीना भी एक कला है। उसके लिए यह समझना जरूरी है कि अगली पीढ़ी वालों का अपना जीवन है, अपना कार्यक्षेत्र है और अपने काम-काज हैं। उनसे किसी भी तरह की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। वरना तो बुढ़ापा दुखी होने और शिकायतें करते रहने का पर्याय बनता जाता है कि बेटे ने यह नहीं किया, बहू ने वह नहीं पूछा, पोते ने ऐसा नहीं किया और बेटी वैसा क्यों नहीं करती!"

स्वजनों का ध्यान इस ओर गया कि अपने जीवन के अन्तिम कुछ महीनों में जी. डी. बाबू ने अपनी पत्नी के विषय में बहुत ज्यादा अपनी और दूसरों की स्मृति को टटोला। महादेवीजी की स्मृति में वह इतने तन्मय हो जाते कि मैं इसको आध्यात्मिक स्तर पर, आत्मा के स्तर पर, रूमानियत की, शृंगार की संज्ञा देने की धृष्टता करना चाहूंगा। जयदेवीजी बताती हैं, "इधर सचमुच भाईजी को अपनी पत्नी की बहुत याद आने लगी थी। जनवरी 83 की बात है, दिल्ली में, मंगलम में भाईजी और बसन्त के साथ मैं बैठी थी। मेरे मुंह से भाभी के बारे में कोई बात निकली थी। भाईजी ने कुछ सवाल किये, बात में से बात निकली। मैं और भाईजी दोनों ही भाभी को याद करने में जुट गये। बातचीत में मैंने कहा कि भाभी की खास बात यह थी कि कभी उसने किसी से कोई कटु वचन नहीं कहा। कभी किसी से ऊंची आवाज में नहीं बोलीं। स्वयं खुश रहीं और दूसरों को खुश रखने की

कोशिश में लगी रहीं। भाईजी बोले यह बात तो तूने सौ फीसदी सही कही। तेरी भाभी को गुस्सा कभी नहीं आता था।"

जयदेवीजी ने बताया कि इस अवसर पर घनश्याम भाईजी ने बहुत आग्रहपूर्वक मेरे साथ फोटो खिचवाया और मुझे विदा देते समय उनकी आंखें छलक आईं।

मई 1983 में जब वह जुग में थे तब भी महादेवीजी का निरन्तर स्मरण कर रहे थे। उनकी प्रिय पुत्री 'चंका' (चन्द्रकला) उनके साथ वहीं थी। चन्द्रकलाजी का कहना है, "पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से तो काकोजी से मैंने मां के बारे मे कुछ नहीं सुना था। पर वहां जुग में उन्होंने मां को खूब याद किया। एक दिन कमरे में अकेले बैठे थे कि मैं पहुंची। बोले चंका यहां मैं अकेला पड़ गया हूं। यहां तो तेरी मां की तस्वीर भी नहीं है। दिल्ली में तुम्हारी भाभी ने तस्वीर लगा दी है जिससे अकेलापन दूर होता है। सच तस्वीर रहने से भी बड़ी बस्ती होती है। काकोजी ने यह भी याद किया कि जयदेवी बुआजी ने उन्हें अपनी भाभी यानी हमारी मां के बारे में कौन-कौन-सी बातें याद दिलायी हैं।"

इस बार जुग में शान्तिबाई भी जी. डी. बाबू के साथ थीं। इतने सारे लोग वहां इकट्ठे हो गये थे कि समय बातों ही बातों में बीत जाता था। इसलिए जी. डी. बाबू को वीडियो पर कोई विशेष घरेलू फिल्म या वृत्तचित्र वगैरह देखने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। रोजाना सुबह नाश्ते के बाद जी. डी. बाबू अपनी बेटियों के साथ घूमने निकल जाते। लगभग पौने दो घंटें तक वह सैर करते। सदा हंसने वाली शान्तिबाई साथ चलते-चलते थक जाती और कहती, "काकोजी, आप तो इतनी देर चक्कर लगाते हैं। मेरा तो सिर चकरा जाता है।" जी. डी. बाबू कहते, "तू मुझ पर हंसती है, जब मेरी उम्र में आयेगी तब देखना क्या हाल होगा तेरा।"

शान्तिबाई कहती, "काकोजी, मैं कोई आपके ऊपर नहीं हंसी। पर यह जरूर लागे है कि आप तो साठ बरस का हो और मैं फक्त नवासी वर्ष की।"

विनोदप्रिय जी. डी. बाबू इस टिप्पणी पर, जिसमें शान्तिबाई का आत्म-व्यंग्य निहित था, बहुत हंसते।

जहां यह सच है कि जी. डी. बाबू अपने अन्तिम दिनों में भावुक हो चले थे

वहां यह भी सच है कि उनमें जो विनोद वृत्ति थी, जो 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' था, वह बराबर बना रहा। परिवारवालों के साथ भोजन करने बैठते तो कई पुराने और रोचक प्रसंग सुनाते। एक बार बसन्तकुमारजी और सरलाजी का विवाह याद करते हुए बताया, "बियाणीजी (सरलाजी के पिता) की ओर से आर्य समाजी पण्डित आया था और हमारी ओर से सनातनी। हमारे पण्डित ने उनके पण्डित से कहा, 'हां पण्डितजी, अब गणेशजी को बुलाओ।' आर्य समाजी पण्डित बोले, 'मेरे बुलाने से तहसीलदार तक नहीं आता, भला गणेशजी कैसे आयेंगे!' इसी विवाह के प्रसंग में जी. डी. बाबू बताते कि कैसे लड़कीवालों के इष्टमित्रों में बहुत से मराठी थे और उनका परिचय मामा फलां, दादा फलां के रूप में दिया जा रहा था। इस पर रामकुमारजी केजरीवाल ने अपने स्वयं का परिचय दिया 'चांचा रामकुमार' बोलकर।

जुग से फोन लगाकर जी. डी. बाबू ने शान्तिबाई के पति यानी अपने जामाता कृष्णगोपालजी से भी अच्छा मजाक किया। ज्यों ही कृष्णगोपालजी यह बोले, "हम लोग भी कई दिन से फोन लगा रहे थे, मगर मिल नहीं रहा था," उन्होंने हंसकर कहा, "भाई, रुपया खर्च करोगे तो फोन मिलेगा।" इसके बाद उन्होंने शान्तिबाई की बेटी सुषमा से पूछा कि सगाई से तुम खुश हो कि नहीं? उसने उत्तर में जब 'हां' कहा तब वह बोले कि जब तो मैं भी खुश हूं।

शान्तिबाई बताती हैं कि सुषमा की सगाई की चर्चा चलने पर जी. डी. बाबू ने कहा था कि लड़का शान्ति देखेगी मगर पास मैं करूंगा।

मजाक-मजाक में जी. डी. बाबू अपनी इस डटकर बहस करने वाली बेटी शान्ति के सन्दर्भ में कहा करते थे कि अब शान्ति आ गयी है इसलिए अशान्ति हो जायेगी। फोन से इस अन्तिम वार्तालाप में बोले, "शान्ति तू चली गयी तो यहां पूरी शान्ति हो गयी है।"

अपने जन्म-दिवस के अवसर पर जी. डी. बाबू प्रायः दिल्ली रहते थे और यहां अपनी बहन जयदेवी से उनकी भेंट हो ही जाती थी। उनकी अन्तिम वर्षगांठ पर जयदेवीजी दिल्ली नहीं आ पायी थीं। पैर में चोट लग जाने के कारण वह बिस्तर पर पड़ गयी थीं। जी. डी. बाबू ने फोन से उनसे सम्पर्क किया। बहन ने कहा कि पता नहीं अब मैं कभी बिस्तर से उठ सकूं या नहीं? इस पर वह बोले कि तुझे मेरा आशीर्वाद है कि तू बहुत जल्दी ठीक हो जायेगी और कोई कष्ट नहीं पायेगी। उन्होंने जयदेवीजी के बेटे गिरधर को अलग से फोन किया कि बाई का

ध्यान रखना, उसकी संभाल करना, ऐसा न हो कि वह मेरे से पहले ही चली जाये। जयदेवीजी कहती हैं कि घनश्याम ईजी के आशीर्वाद से मुझे बहुत सम्बल मिला क्योंकि हम लोग ऐसा मानते थे कि वह जो कह दें जरूर हो जाता है।

जुग से भी उन्होंने जयदेवीजी को फोन किया और जब बहन ने कहा, "भाईजी, अब मैं आपके आशीर्वाद से बहुत ठीक हूं, चलने-फिरने लगी हूं," तब जी. डी. बोले, "मैं लन्दन जाकर जल्दी ही दिल्ली लौटूंगा, फिर मिलूंगा।" दुर्भाग्य कि जी. डी. बाबू की कही यही बात सच नहीं हुई। वह जुग से लन्दन जरूर गये मगर लन्दन से दिल्ली लौटे नहीं।

लन्दन के पार्क टावर्स के जिस फ्लैट में वह पिछले कुछ वर्षों से ठहरा करते थे, वहीं इस बार भी ठहरे। शनिवार 11 जून 1983 को दो मंजिले पर स्थित इस फ्लैट में वह प्रसन्नचित्त उठे और उन्होंने अपनी नियमित्त दिनचर्या आरम्भ की।

सुबह ही उन्होंने आये हुए टेलेक्स देख लिए तथा उनका उत्तर भी लिखा दिया। हिण्डाल्को से सम्बन्धित रेनुसागर के 'टरबाइन' की 'मेनटिनेंस' का प्रोग्राम बना दिया और उसे उस कम्पनी के प्रेसीडेंट आसकरण अग्रवाल के हाथ में (जो वहां उपस्थित थे) अपने निर्देशों के साथ थमा दिया। इस बारे में आवश्यक निर्देश भी दे दिये कि ऊर्जा का उत्पादन किस तरह और कितना पूरा-पूरा हो जाना चाहिए ताकि हिण्डाल्को के अल्यूमीनियम उत्पादन की क्षमता में कमी न आए। इस प्रकार अपने काम को निपटाते हुए सुबह के 8 बज गये। उनके नाश्ते का समय हो गया और वह ब्रेकफास्ट टेबुल पर बैठ गये। साथ में आसकरण अग्रवाल भी थे। सचिव श्यामलाल ने ब्रेकफास्ट स्वयं बनाया और परोसा। बब्बूगोशा उन्हें पसन्द आया। स्वयं चाव से खाया और आसकरण को भी खिलाया।

नाश्ता समाप्त होने वाला था कि इस बीच में मैसूर सीमेण्ट के प्रेसीडेण्ट नन्दलाल हमीरवासिया और ग्वालियर रेयन के वाइस प्रेसीडेण्ट सुशील कुमार साबू भी वहां पहुंच गये। इन दोनों से उन्होंने कहा कि तुम लोग भी 'काफी' ले लो। उन्होंने नन्दू से पूछा कि तुम अपना सामान ले आये हो क्या, जिसका उत्तर मिला कि आप चिन्ता न करें जी, बाद में ले आऊंगा। तब तक 8 बजकर 20 मिनट हो चुके थे और आसकरण अग्रवाल भारतवर्ष जाने के लिए हवाई अड्डे हेतु रवाना हो गये। इसके बाद जी. डी. बाबू ने अपने सचिव श्यामलाल से कहा, "दुर्गा से बात कराओ।" पर बात नहीं करायी जा सकी क्योंकि दुर्गाप्रसादजी तब तक ग्वालियर से लौटकर दिल्ली नहीं पहुंचे थे। फिर कहा गया कि आदित्य से बात कराओ, पर

बम्बई की लाइन ही नहीं मिली। पुनः कहा गया कि सक्सेना से बात कराओ जिसका दिल्ली से उत्तर मिला कि बी. एन. सक्सेना एयरपोर्ट गये हैं, दुर्गाप्रसादजी को लाने।

इस प्रकार कार्य सम्बन्धी जो भी आवश्यक बातें उस समय रही होंगी वह दुर्गा, आदित्य और सक्सेना से नहीं कर सके। तब वह दैनिक समाचार-पत्र पढ़ने लग गये। 8 बजकर 45 मिनट पर उन्होंने कहा कि तुम दोनों तैयार हो क्या, चलो नन्दू घूमने चलते हैं। नन्दू ने उत्तर दिया कि मैं तैयार हूं जी, और वह लिफ्ट से नीचे उतर गये। मकान से बाहर आकर आकाश की तरफ देखा। बादल छाये हुए थे। उन्होंने कहा कि बारिश आ सकती है। नन्दलाल हमीरवासिया बोला, "हां जी, आ भी सकती है और नहीं भी, पर घूमना तो हो सकता है।" उन्होंने कहा कि आज हाइडपार्क से नहीं जायेंगे। इधर फुटपाथ से चलते हैं ताकि बारिश आ भी गयी तो टैक्सी से लौट आयेंगे।

सुबह के 8 बजकर 45 मिनट हुए थे कि वह अपने दोनों सहयोगियों के साथ पिकाडेली रोड पर चल दिये। रास्ते में बातें होती रहीं, 14 जून को वापस इण्डिया लौटने की। उन्होंने नन्दू से पूछा कि तुम्हारी फ्लाइट कब की है, जिसका उत्तर मिला कि आपकी फ्लाइट के बाद ही मेरी फिनलैण्ड जाने की फ्लाइट है। इसी तरह मैंने प्रोग्राम बनाया है। इण्डिया कब तक आ जाओगे, उन्होंने पूछा। यह सुनकर कि 10-12 दिन के बाद, उन्होंने कहा ठीक है। पिकाडेली रोड से रीजेण्ट स्ट्रीट में उन्होंने प्रवेश किया। चलते-चलते वीरास्वामी का रेस्टोरेण्ट भी पार हो गया और उसके आगे 'ब्राडबरी स्टोर्स' के फुटपाथ पर 9 बजकर 15 मिनट के समय उनके पांव जरा लड़खड़ाए। नन्दलाल हमीरवासिया ने दाहिनी ओर से और सुशील कुमार साबू ने बाईं ओर से उन्हें सहारा देने के लिए पकड़ लिया। तब उन्होंने अपने हाथों से इन दोनों के हाथों को हटा दिया और 5/10 सैकेण्ड के लिए आंख मींचकर खड़े हो गये। नन्दलाल के पूछने पर कि बाबू क्या हुआ, उत्तर मिला कि कुछ अंधेरी सी आ गयी थी। पता नहीं क्यों? तब इन दोनों ने यह कहते हुए कि आज और नहीं घूमेंगे एक टैक्सी खड़ी की ली और जी. डी. बाबू स्वयं बिना सहारा लिए हुए उसमें सामान्य तरीके से घुसकर बैठ गये। टैक्सी उनके पार्क टावर्स के फ्लैट की बिल्डिंग की ओर दौड़ने लगी। जब टैक्सी आधा रास्ता पार कर चुकी थी तो 'बरक्ले स्क्वायर' के पास सुशील साबू ने पूछा कि बाबू अब कैसा लग रहा है, उन्होंने कहा कि बिल्कुल ठीक है। पता नहीं, क्यों अंधेरी आ गयी थी। 'नाऊ आई एम फीलिंग बैटर देन नॉरमल' उन्होंने कहा। टैक्सी पार्क टावर्स के सामने आकर रुकी।

सुबह के 9 बजकर 25 मिनट हुए थे। सदा की भाँति नन्दू के कन्धे पर हाथ रखते हुए टैक्सी से वह स्वयं उतरे, फिर चलकर बिना किसी सहायता के अपने आप दरवाजे पर पहुंचे, दरबान ने दरवाजा खोला, वह पहले दरवाजे के अन्दर प्रवेश कर चुके थे और दूसरे दरवाजे पर पहुंचने वाले थे कि इस एक मिनट में ही जोर से सांस लेने लगे। उनके पैर लड़खड़ाये तो नन्दलाल और सुशील ने सहारा देकर वहीं पड़े सोफे पर उन्हें लिटाया। उसके बाद लगभग दो मिनट तक उन्होंने 2-4 जोर की सांसें लीं और शांत से हो गये। इसी बीच डाक्टरों को बुलाने सुशील बाबू फ्लैट में ऊपर चले गये। नन्दलाल ने अपने हाथों में उनका सिर रख लिया क्योंकि उस समय कोई तकिया तो था नहीं। उसने पूछा कि बाबू क्या तकलीफ है जी, दर्द मालूम दे रहा है क्या? किन्तु वह बिल्कुल भी बोले-डोले नहीं। नन्दू ने उनकी नब्ज देखी तो समझ में आया कि नाड़ी शिथिल लग रही थी। उनका फ्लैट दो तल्ले पर था। वहां से तब तक खांडू नौकर पानी लेकर आया और साथ में उनका सचिव श्यामलाल भी। नन्दलाल ने श्यामलाल से पूछा कि वह नाड़ी देखना जानता है क्या, जिसके उत्तर में उसने इन्कार कर दिया।

चूंकि सुशील बाबू ने फौरन फोन कर दिया था, अतः इसी बीच में गंगाप्रसादजी बिड़ला और उनकी धर्मपत्नी निर्मलाजी दवा और गंगाजल लिये हुए तत्काल आ पहुंचे। उनके पहुंचने के दो मिनट पहले एम्बुलेन्स वाले भी पहुंच चुके थे और उन्होंने उपचार शुरू कर दिया। टाई ढीली कर दी, जूते निकाल दिये और छाती पर जोर-जोर से मालिश शुरू की,तब निर्मलाजी ने उनसे कहा कि यह दवाई भी दे दीजिए पर उन्होंने उस बात को अनसुना कर दिया। फिर भी निर्मलाजी ने फौरन गंगाजल जी. डी. बाबू के मुख में डाला और इसके बाद ही एम्बुलेन्स वालों ने उन्हें सोफे से उठाकर स्ट्रेचर पर लिटाया और एम्बुलेन्स पर चढ़ा दिया। गंगाप्रसादजी और उनकी धर्मपत्नी तथा नन्दलाल और सुशीलकुमार भी एम्बुलेन्स में बैठ गये। तब सुबह के लगभग 9 बजकर 35 मिनट हो चुके थे। एम्बुलेन्स तेज रफ्तार से दौड़ती हुई मिडिलसेक्स अस्पताल पर 9 बजकर 40 मिनट पर पहुंची जहां पूर्व-सूचना के कारण डाक्टर और नर्सें बाहर खड़े एम्बुलेन्स की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे स्ट्रेचर को आपातकालीन-कक्ष में ले गये। कक्ष के दरवाजे बन्द कर दिये गये। साथ आये हुए चारों बाहर प्रतीक्षालय हाल में एक बैंच पर बैठ गये। दो-तीन मिनट के बाद आपातकालीन कक्ष से एक डाक्टर बाहर निकला और इन लोगों से कहा, "द केस इज सीरियस बट वी आर ट्राईंग आवर बैस्ट।"

गंगाप्रसादजी और निर्मलाजी को पूरी आशा बँध गयी। पर पांच मिनट के

बाद ही जबकि सुबह के 9 बजकर 45 मिनट हुए होंगे, एक दूसरे डाक्टर ने कक्ष से निकलकर कहा, "वी ट्राईड आवर बैस्ट, बट इट इज आल ओवर।"

गंगाप्रसादजी और निर्मलाजी विह्वल तो थे ही। इस आघातपूर्ण घोषणा को सुनकर स्तम्भित हो गये मानो उन पर वज्र गिर पड़ा हो। कुछ मिनटों के बाद तो इन दोनों को अपना आपा सँभालना ही पड़ा, क्या कर सकते थे, विधि के विधान के आगे!

इस बीच दिल्ली दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया को फोन कर दिया गया था कि बाबू की हालत काफी गम्भीर है और पांच मिनट बाद ही श्यामलाल ने उन्हें दूसरे फोन से बता दिया था कि बाबू तो अब नहीं रहे। अवतार की तरह आये और अवतार की तरह चले गये।

90 वर्ष का कर्मयोगी, गीता का पुजारी विख्यात कवयित्री महादेवी वर्मा के शब्दों में, 'दास अपने घनश्याम से जा मिला।' ऐसा लगा मानो वह अन्तिम सेवा के नाम पर भी किसी से कुछ कराना नहीं चाहता था। जिसने जीवन भर परिवार, समाज और देश की सेवा की वह भला अपने स्वजनों से भी सेवा कराने का भार अपने सिर पर क्यों रखता! जी. डी. बाबू ऐसे ही कालजयी महापुरुष थे जो मृत्यु को वरण करना जानते थे, मरण-त्योहार मनाना जानते थे। मानो अपने ही पांव से चलकर बिना किसी का सहारा लिए वह स्वयं अपने हाथ से सजायी हुई चन्दन की चिता पर चढ़ गये हों। कविवर बच्चन की इन पंक्तियों के मर्म को उन्होंने केवल समझा ही नहीं सिद्ध भी किया...

> **मेरी तो बस यह अभिलाषा...**
> **चिता निकट भी पहुंच सकूं मैं, अपने पैरों-पैरों चलकर।**

केदारनाथ की पैदल यात्रा के समय उन्होंने स्वामी अखण्डानन्दजी को प्रणाम करते हुए कहा था, "मुझे ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि अन्त तक भगवान की स्मृति बनी रहे और मैं इस दुनिया से चलते-फिरते चला जाऊं।" सो सचमुच चलते फिरते ही गए।

पुनः गंगोत्री

अस्पताल में शव को सफेद कपड़े से ढक दिया गया और 10 बजकर 10 मिनट पर वहां के मोर्ग में पहुंचा दिया गया जहां सब घर वाले तथा अन्य स्वजन, जिनको भी खबर मिली, आ पहुंचे। निर्मलाजी ने भारतीय विद्या भवन से पं. कृष्णामूर्ति को बुला लिया। गीता-पाठ प्रारम्भ हो गया और 11 बजे से 2 बजे तक चला। सब लोग श्रद्धा और स्मृतियों के सागर में डूबते हुए गीता सुनते रहे। लगता था गीता का वह पुजारी उस गीता-पाठ की ध्वनि में गुंजरित हो रहा था।

इस बीच 'अण्डरटेकर्स' की तलाश की गयी ताकि शव को उत्तम रूप से सुरक्षित रखने की व्यवस्था की जा सके। कनाट स्ट्रीट, लन्दन के जे. एच. केन्योन लि. अण्डरटेकर्स नियुक्त किये गये। वे लोग 3 बजे शव लेने अस्पताल आ गये।

'अण्डरटेकर्स' का स्थान अस्पताल से करीब 5-6 किलोमीटर दूर था। शव वहां ले जाया गया। शव को एक ट्रॉली पर रखा गया और 'अण्डरटेकर्स' उसे दूसरे कमरे में ले जाने लगे। ऐसा करने से पूर्व साथ आये हुए परिवार के लोगों और अन्य स्वजनों ने सफेद कपड़ा हटाकर पुनः उन महामना के चेहरे को देखा। किसी भी प्रकार का पसीना या फेन उनके मुंह पर नहीं था। तन्मय किन्तु शान्त। चिरनिद्रा का भाव था। लगता था मानो किसी प्रार्थना में लीन हों और अभी उठ जायेंगे।

कई लोग पार्क टावर्स के फ्लैट में पहुंच रहे थे। वहां महापुरुष के चित्र के आगे फूल रख दिये गये, दीपक जलाया गया और सब लोग कीर्तन करने बैठ गये।

रामधुन चलती रही। सात बजे भारतीय विद्या भवन के पण्डित कृष्णामूर्ति आ गये और उनका गीता-पाठ हुआ। तभी गंगाप्रसादजी की धर्मपत्नी निर्मलाजी वहां आ गयीं। सारे फ्लैट में रोशनी होते हुए भी एक अंधेरा-सा छा गया था। प्रकाश तो था किन्तु किरण लौट चुकी थी। सुनसान था, पर स्मृतियों के तूफान उठ रहे थे। शनिवार 11 जून का दिन अपनी अर्ध-रात्रि की ओर उन्मुख था। स्वजनों की आंखों में कुछ नींद आयी होगी पर नींद सपनों से भरी हुई थी और सपनों में सब को उस कर्मयोगी का रथ दौड़ता हुआ दिखाई देता था।

रविवार 12 जून। वही पार्क टावर्स का फ्लैट। भोर साढ़े पांच बजे सबसे पहले बसन्तकुमारजी अपनी धर्मपत्नी सरलाजी के साथ पहुंचे। उनका दुख, उनकी टूटन वर्णनातीत थी। आंसुओं में डूबे हुए, सिसकियां लेते हुए अपने काकोजी को ढूंढ रहे थे। सदा की भांति मानो काकोजी अपने कमरे से निकल कर प्रणाम स्वीकार करते हुए, आशीर्वाद देते हुए बोलने वाले हों, 'सरला आ गयी, बसन्ता आ गयो, राजी हो ना।' ये शब्द मानों सुनाई दे रहे थे, कानों में गूंज रहे थे। पर इनको कहने वाला आज मौन हो गया—सदा-सदा के लिए। कुछ समय बाद पौत्र आदित्य विक्रम अपनी धर्मपत्नी राज्यश्री के साथ अपने दादोजी को श्रद्धांजली देने पहुंचे। माधवप्रसादजी बिड़ला और उनकी धर्मपत्नी प्रियंवदाजी आयीं अपने चाचोजी को समवेत श्रद्धांजली अर्पित करने। जयश्री और प्रकाश, मंजुश्री और शैलेश भी आ गये और सोचते रहे कि दादोजी के बिना कैसे रहेंगे। चन्द्रकलाबाई के सुपुत्र प्रदीप डागा और अनुसूया बाई के सुपुत्र भरत तापड़िया भी नानोजी को श्रद्धा-सुमन अर्पित करने आ पहुंचे। दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया अपनी धर्मपत्नी के साथ आये, पूरी तरह से उदास और खोये हुए। सब के सब दिवंगत महापुरुष के चित्र पर पुष्प चढ़ाते। प्रणाम करते। उसी प्रकार जैसे करते आये थे।

रविवार को परिवार के अन्य कई लोग जो लन्दन में थे अथवा अमरीका से लौटे थे,आ पहुंचे। उनमें प्रमुख थे विमल नेपानी, सरोज पोद्दार, लेखा व रंजन पोद्दार, बसन्त झंवर व उमा, राजेन्द्र साबू व उषा आदि। सब के सब आये और उन्होंने चित्र पर पुष्प चढ़ाये।

सब आगंतुकों की जुबान पर दिनभर एक ही चर्चा थी, एक ही विषय था, एक ही व्यक्ति था, एक ही उसकी व्याख्या थी, **न भूतो न भविष्यति।**

सोमवार 13 जून। सार्वजनिक जीवन में परिवार के अग्रणी कृष्णकुमारजी बिड़ला अपनी धर्मपत्नी मनोरमाजी के साथ भारतवर्ष से आ पहुंचे। अपने

पुत्र वसन्तकुमार एवं पुत्रवधू सरला बिरला द्वारा अन्तिम दर्शन।

काकोजी की याद में खोये हुए, भीतर से टूटे हुए, किन्तु बाहर से स्तब्ध, अपने आंसुओं से श्रद्धांजली दे रहे थे। डबडबाई आंखों से काकोजी को ढूंढते हुए अनुसूया बाई और शान्तिबाई आयीं और साथ में कृष्णगोपालजी माहेश्वरी भी। पौत्र सुदर्शनकुमार बिड़ला अपनी धर्मपत्नी सुमंगला के साथ दादोजी की स्मृतियों में डूबे हुए पहुंचे। प्रपौत्र सिद्धार्थ और कुमार मंगलम भी आ गये मानो अपने रूठे हुए बड़े दादू को ढूंढने और मनाने। तांता लग गया भारतवर्ष से आने वालों का। रमा बाबू गोयनका अपनी श्रद्धांजली देने लन्दन आ पहुंचे। हरिप्रसादजी सिंघी अपनी पत्नी के साथ कलकत्ते से आये। ओंकारमलजी सोमानी आदि अनेक लोग आये जिनके नाम गिनाना कठिन हो रहा है। उधर बम्बई से आने वालों में विजयमल सांड भी थे।

दिन के 2 बजे पार्क टावर्स के दो मंजिल पर स्थित फ्लैट में राम धुन शेष होने लगी थी। सभी लोग तब तक आ चुके थे। 'अण्डरटेकर्स' के यहां पहुंचकर सभी लोगों ने ट्राली पर बाहर लाये गये शव पर फूल चढ़ाये और बारी-बारी से अन्तिम प्रणाम किया। फिर शव कांच के ढक्कन वाली लकड़ी की पेटिका में रखकर फूलों से सजी-धजी गाड़ी पर चढ़ाया गया। अन्य गाड़ियां इस गाड़ी के पीछे लगीं। शवयात्रा गोल्डर्स ग्रीन क्रिमेटोरियम की ओर निकल पड़ी। सैकड़ों परिचित-अपरिचित लोग इसमें शामिल हुए।

शाम 4 बजे उत्तरी लन्दन के गोल्डर्स ग्रीन मोहल्ले में हरे-भरे वृक्षों के बीच स्थित दाह-गृह में शव यात्रा पहुंच गई। शव पेटिका गाड़ी से उतारकर दाह-गृह के वेस्टर्न चैपल यानी पश्चिमी पूजा-गृह में ले जायी गयी। वहां अन्तिम संस्कार के लिए उसे एक ऊंची टेबुल पर रखा गया। अन्तिम दर्शनों के लिए शव के चेहरे से सफेद वस्त्र हटाया गया।

फूल-मालाओं और गुलदस्तों के बीच वह चेहरा अब भी दमक रहा था। ऐसा लगता था मानो दुनिया से बहुत कुछ कह लेने के बाद वह एक घड़ी अपने आप में ही खो गया हो और कुछ ऐसा खोया हो कि क्षणभंगुर को भुला कर शाश्वत से जुड़ गया हो। उस महापुरुष को अन्तिम प्रणाम करने वाले हर व्यक्ति के मन में यह भाव आया कि ऐसी बात तो समाधि लेने वाले ऋषि-मुनियों के बारे में ही सुनी थी।

अन्तिम दर्शनों के लिए आये हुए लोग शोकाकुल थे किन्तु श्मशानघाट की मुर्दनी कहीं दिखाई नहीं देती थी। उस चेपल में वास्तव में पूजा-घर का सा

वातावरण था। ऐसा लगता था मानो लोग श्रद्धांजली-सभा में आये हों। हाल के एक ओर मर्द बैठे थे और दूसरी ओर औरतें। होते-होते भीड़ इतनी हो गयी कि वहुतों को वाहर खड़े होना पड़ा। लन्दन के सभी प्रमुख भारतीय वहां उपस्थित थे। अटल विहारीजी वाजपेयी और भीष्मनारायणजी जैसे कुछ नेता जो उस समय लन्दन में थे, श्रद्धा-सुमन चढ़ाने आये। जी. डी. बाबू के अनेक विदेशी मित्र भी पहुंचे। वड़ी संख्या में भारतीय और विदेशी पत्रकार उपस्थित हुए। लन्दन की इस अन्तिम श्रद्धांजली में जातीय पीड़ा उमड़ आयी थी।

विधिवत् अंत्येष्टि संस्कार कराने के लिए भारतीय विद्या भवन के पण्डित मटूर कृष्णामूर्ति और पांच अन्य पण्डित उपस्थित थे। गीता का वह अट्ठारहवां अध्याय जो जी. डी. बाबू को बहुत प्रिय था, जिसके श्लोक वह बहुत पहले कभी पिलानी में अपनी दादीजी को सुनाया करते थे, अब यहां वेस्ट चेपल में प्रस्तुत किया गया। फिर रामधुन शुरू हुई। वह धुन जो गाँधीजी के अन्यतम अनुयायी जी. डी. वाबू को भी उतनी ही प्रिय थी जितनी गाँधीजी को। इसके बाद पुनः मृतक के मुंह में गंगाजल डाला गया, तुलसीदल रखा गया। अंत्येष्टि का विधान सम्पन्न किया गया। शव फिर ढक दिया गया। '**श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव**' उचारा गया। एक बटन दबा। शव पेटिका कन्वेयर पर खिसकी। सामने दीवार पर एक खिड़की खुली, और पेटिका चल पड़ी दहन-भट्ठी की ओर,हाल में बैठी महिलाएं कराह उठीं। उनका दबा-दबा सा कातर क्रन्दन उस पूजा-घर में मानवीय असमर्थता कीअन्तिम संवेदना के रूप में कुछ देर चला और फिर गोल्डर्स ग्रीन की हरीतिमा में तिरोहित हो गया। सब लोग हाथ जोड़े खड़े हो गये। उधर भट्ठी की ओर वाली खिड़की के पट बन्द हुए और इधर स्मृतियों की असंख्य खिड़कियों के पट खुलने लगे। 10 मिनट में सब कुछ शेष हो गया।

माधवप्रसादजी, कृष्णकुमारजी, बसन्तकुमारजी और गंगाप्रसादजी बिड़ला परिवार के ये चारों वरिष्ठ प्रतिनिधि पूजा-घर से बाहर हाथ जोड़कर खड़े हो गये उन लोगों के प्रति आभार व्यक्त करने के लिए जो जी. डी. बाबू को अन्तिम प्रणाम करने लन्दन की एक सुदूर नगरी में आये थे।

जी. डी. वावू की एक लौकिक कहानी इतिश्री पर आ पहुंची थी किन्तु किसी को भी यह तथ्य मान्य नहीं हो रहा था। उनकी पुत्रवधू सरलाजी ने कहा, "मुझे लगता है कि काकोजी अव भी हमारे मध्य में हैं और हमें सम्भालते रहेंगे।"

जी. डी. वावू स्वयं भी कहा करते थे कि किसी भी व्यक्ति की अपनी कहानी

उसके न रहने पर ही शुरू होती है।

जी. डी. बाबू एक प्रकार से सम्राट थे और सम्राटों के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि सम्राट मर गया, सम्राट अमर रहे।

गोल्डर्स ग्रीन के दाह-गृह से लौटते हुए सभी व्यक्तियों के मन स्मृतियों से आलोड़ित थे और मस्तक श्रद्धा से नमित थे।

14 जून मंगलवार सुबह 9 बजे कृष्णकुमारजी और बसन्तकुमारजी दाहगृह में फूल चुनने गये। अस्थिकलश बनाया गया। उसे सिर पर रखकर वह पार्क टावर्स फ्लैट में लौटे। वहां और अनन्तर हवाई अड्डे पर अस्थिकलश दर्शनों के लिए रखा गया। सैकड़ों व्यक्तियों ने पुष्पांजली अर्पित की। उसी दिन शाम 4 बजे के हवाई जहाज से कृष्णकुमारजी और बसन्तकुमारजी अस्थिकलश को लेकर बम्बई रवाना हो गये।

15 जून बुधवार सुबह 7 बजे बम्बई में अस्थिकलश उतरने के बाद हवाई अड्डे से बहुत ही मर्मस्पर्शी और स्तब्ध कर देने वाले पैमाने पर इस अस्थिकलश को अन्तिम श्रद्धांजली अर्पित करने के लिए सम्पूर्ण भारत से विविध प्रतिनिधि एकत्र हुए। अस्थिकलश के दर्शनों के लिए जो लोग इकट्ठा थे उनमें जी. डी. बाबू के परिवार के लोग, उद्योगों में उनके साथ कार्यरत लोग, व्यक्तिगत रूप से उनके सम्पर्क में आने वाले लोग और एक बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग भी थे जिन्होंने अपने जीवन में जी. डी. बाबू से कोई परिचय नहीं प्राप्त किया था। अस्थिकलश सेंचुरी भवन के सभागार में रखा गया जहां हजारों लोगों ने पुष्प चढ़ाये।

यह किसी राजनेता का अस्थिकलश नहीं था, किसी संसार-त्यागी महात्मा का अस्थिकलश नहीं था, किसी ऐसे कवि का अस्थिकलश नहीं था जिसके गीत लोगों के कण्ठ में बसे हुए हों, लेकिन सम्भवतः महात्मा गाँधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे दो-एक अप्रतिम महापुरुषों को छोड़कर किसी भी एक व्यक्ति की मृत्यु पर इतने लोगों ने और इतनी तरह के लोगों ने आंसू नहीं बहाये जितने लोगों ने जी. डी. बाबू की मृत्यु पर। उनके प्रति इतने व्यापक वर्ग का यह श्रद्धाभाव, उनका इतना गहरा लगाव सचमुच ही जी. डी. बाबू की इस बात को साबित करता है कि आदमी की पहचान उसके मरने के बाद होती है।

अस्थिकलश कलकत्ता पहुंचा 16 जून की शाम। कलकत्ता तो जी. डी. बाबू

की प्रारम्भिक कर्मभूमि था, वहां की गली-गली, कूचा-कूचा उन्होंने देख रखा था, उसके हर हिस्से पर उनकी एक छाप थी। दमदम हवाई अड्डे पर अपार जनसमूह उपस्थित था। जी. डी. बाबू के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी ने अश्रुपूरित मुद्रा में अस्थिकलश को ग्रहण किया। पुष्प चढ़ाने वालों का तांता लग गया। इस कतार में सैकड़ों प्रशासक और हजारों प्रशंसक थे। अस्थिकलश की यात्रा एक जुलूस में बदल गयी थी।

दूसरे दिन स्थानीय विद्या मन्दिर के सभागार में अस्थिकलश के दर्शन करने उद्योग और सार्वजनिक क्षेत्र के वृद्ध, युवा, शिशु सब आये। बंगाली समाज के अग्रणी लोगों ने अपनी भावभीनी श्रद्धांजली अर्पित की।

अगले दिन 18 जून शनिवार को सुबह अस्थिकलश दिल्ली पहुंचा। हवाई अड्डे पर वही अपार भीड़, वही अनन्य प्रशंसक। दिन के 11 बजे से दिल्ली के बिड़ला मन्दिर में गीता-भवन के भीतर अस्थिकलश रखा गया तो बड़े से बड़े और छोटे से छोटे हजारों व्यक्तियों ने आकर रामधुन और भजन-कीर्तन के बीच श्रद्धा-सुमन चढ़ाये। राजधानी कैसे पीछे रहती, जहां से स्वाधीनता आन्दोलन के लिए उन्होंने इतना योगदान किया था।

रविवार, 19 जून। अस्थिकलश पिलानी पहुंचा। पिलानी ने जी. डी. बाबू को बनाया, जी. डी. बाबू ने पिलानी को संवारा। पूरा पिलानी जी. डी. बाबू को अपना नव-निर्माता मानता था और उसी आन्तरिक भाव से पिलानी ने उनके अस्थिकलश को नगर के मध्य में स्थित पुराने बिड़ला कालेज किन्तु वर्तमान में बिड़ला हाई स्कूल के सभागार में एक मंच पर रखा। पंक्तिबद्ध होकर नगर के प्रत्येक वर्ग और जाति के बाल, वृद्ध जन-समुदाय ने अपनी पुष्पमालाएं अथवा हरी पत्तियां उस अस्थिकलश पर चढ़ाकर, सिर नवाकर उस नव-निर्माता को अपनी अन्तिम विदाई दी। जिन लोगों ने पिलानी में जन्म लिया और जिन लोगों ने वहां जन्म नहीं लिया लेकिन वहां की शिक्षा संस्थाओं या अन्य संगठनों से सम्बद्ध रहे, उस अस्थिकलश में अपने संरक्षक, अपने अभिभावक, अपने प्रेरक जी. डी. बाबू को देह से परे पा रहे थे। **'आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर'**, लेकिन कुछ लोगों से दुनिया इतनी भरी होती है कि सिर्फ उनके शरीरान्त के नाते वह उनसे खाली नहीं हो जाती। पिलानी को जी. डी. बाबू ने जो स्वरूप दिया उसकी निरन्तरता का एहसास लोगों में मौजूद था और इस तरह एक लौकिक स्तर पर भी इस बात की सच्चाई जाहिर होती है कि मनुष्य का शरीर रहे या न रहे,उसका आत्मिक स्वरूप अमर रहता है। पिलानी के जिन पेड़ों, जिन वाटिकाओं, जिस

मिट्टी से जी. डी. बाबू को इतना लगाव रहा उसने उन्हें अस्थिकलश की मिट्टी के रूप में अपने बीच देखकर कितनी आह भरी होगी, क्या सोचा होगा,यह कौन कवि बता सकता है? जो वायुयान उनका अस्थिकलश लेकर उतरा वहीं पिलानी वालों की सुबकती स्मृतियों को लेकर तीन घण्टे बाद उड़ गया। एक बार लगा पिलानी अनाथ हो गयी।

उसी दिन फिर हरिद्वार। कुछ समय के लिए गंगालहरी विश्रामगृह के ड्राइंगरूम में अस्थिकलश रखा गया। जी. डी. बाबू भले ही लन्दन में मरे, भले ही पूरे विश्व का नागरिक होने की हैसियत से उनका यह कहना था कि दुनिया में जिस जगह भी उनका देहान्त हो, अंत्येष्टि वहीं की जाये, लेकिन हर हिन्दू की तरह उनकी भी यह आकांक्षा थी कि उनकी अस्थियां गंगा में मिलें। और अब यही होने जा रहा था। हर की पौड़ी पर हरिद्वार का साधु-समाज उमड़ आया। सैकड़ों लोग सीधे दिल्ली से आये। वेद-मन्त्रों के साथ उनके पुत्र कृष्णकुमारजी और बसन्तकुमारजी ने अपनी धर्मपत्नियों के साथ तथा पौत्र सुदर्शन कुमार और आदित्य विक्रम ने सन्ध्या 5 बजे जी. डी. बाबू की अस्थियां गंगा में प्रवाहित कर दीं। परिवार के अनेक अन्य सदस्य भी इस अस्थि - विसर्जन के समय उपस्थित थे।

दूसरे दिन सोमवार सब लोग गंगोत्री की ओर कारों से गये। गंगोत्री में जी. डी. बाबू की अस्थियां विसर्जित की जानी थीं, जहां से वे गंगा की सारी यात्रा के साथ अपनी यात्रा करते हुए हर तीर्थ से मिलते हुए गंगासागर तक पहुंच जायें और विशाल समुद्र में निमज्जित हो जायें। बूंद को समुद्र में मिलना था तो रास्ता गंगा से बढ़कर और क्या हो सकता था!

इस गंगोत्री यात्रा के दौरान अस्थिकलश के साथ उनके परिवार के लोग और दोनों पुत्रों में से एक पुत्र बराबर बना रहा। पारम्परिक और पारिवारिक मर्यादा का निर्वाह उच्चतम ढंग से किया गया। मार्ग में सरलाजी ने मुझे बताया कि जी. डी. बाबू की अभिलाषा थी कि वह गंगा के किनारे अपना शरीर त्याग करें। यह हो नहीं सका। ऐसी स्थिति में उनके अस्थिकलश को गंगोत्री में ले जाकर प्रवाहित करना तो परिवार वालों का एक परम पुनीत कर्त्तव्य है।

जी. डी. बाबू ने प्राण-त्याग पश्चिम में किये लेकिन अन्तिम अस्थि-विसर्जन पावन गंगोत्री में होने जा रहा था। अपनी अन्तिम यात्रा के जरिये इस प्रकार अनजाने ही उन्होंने एक साथ पूर्व और पश्चिम को अपना लिया। इस प्रकार एक प्रतीकात्मक ढंग से उनकी मृत्यु ने उनके जीवन-दर्शन को उभार दिया।

गंगोत्री में अस्थि-विसर्जन के उपरान्त पुत्र कृष्णकुमार एवं
वसन्तकुमार द्वारा अर्घ्य-दान

मंगलवार 21 जून। सुबह 8 बजे। अस्थिकलश लिये हुए अत्यन्त सम्मान के साथ वाद्य और मंत्रोच्चार की सम्मिलित ध्वनि से युक्त वातावरण में उनके दोनों पुत्र कृष्णकुमारजी, बसन्तकुमारजी और पुत्रवधू सरलाजी पहुंचे। पौत्रियां जयश्री, मंजुश्री और दामाद शैलेश तथा परिवार के अन्य कई लोग साथ थे। दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया अपनी धर्मपत्नी के साथ अपने पूज्य बाबूजी की अस्थियों को अन्तिम विदाई देने उपस्थित थे। मेरे जैसे सैकड़ों लोग वहां इस लोक से उनकी विदाई का अन्तिम दृश्य देखने के लिए अपनी आंसू भरी आंखों पर कठिनाई से नियन्त्रण करते हुए खड़े थे। मंत्रोच्चार चल रहा था। गंगा में अस्थि शेष का अन्तिम भाग विसर्जित किया गया। सारे पर्वतराज से एक प्रतिध्वनि आ रही थी। उत्तराखंड ने साक्षी भरी। मन ही मन सब ने प्रणाम किया। दान-दक्षिणा, भजन-पूजन हुआ। सरलाजी ने शान्त भाव से कहा, ''आज काकोजी के पांचों तत्व पांचों तत्वों में मिल गये। बस अब तो शेष रह गये हैं काकोजी के सिद्धान्त, उनके विश्वास, उनके उपदेश, जिनका हम पालन करते रहेंगे।'' मैंने तत्काल उनकी बात उन्हें याद दिलायी और कहा, ''काकोजी गये नहीं, वह हम सब के बीच ज्यों के त्यों विद्यमान हैं, अनेक-अनेक रूपों में, अनेक-अनेक प्रेरणाओं के साथ।'' उन्होंने हां भरते हुए कहा, ''यह बात भी पूरी सही है। देह का ही तो विसर्जन हुआ, किन्तु कई मायनों में वह विदेह थे। उनकी सारी आस्थाएं, उनकी सारी मान्यताएं आज ज्यों की त्यों हैं और हम सब लोग उनके काम को करते रहेंगे।''

'जय गंगा माई की। यह जी. डी. बाबू ने गंगोत्री पर जाने के बाद लिखे गये यात्रा-संस्मरण में लिखा था। हम लोग भी मन ही मन ऐसा कह रहे थे। गंगा मनुष्य लोक से देव लोक ले जाने का हिन्दुओं द्वारा स्वीकृत परम्परामान्य मार्ग है। जी. डी. बाबू इस मार्ग पर चल पड़े थे। गंगा ने उपनिषद् के इस वाक्य में कही गयी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया था जो जी. डी. बाबू अक्सर उद्धृत किया करते थे, - मृत्यु की ओर नहीं अमरता की ओर ले जाओ:

मृत्योर्मा अमृतंगमय

द्वितीय खण्ड

जीवन-दर्शन

चारों भाई :

बायें से : सर्वश्री जुगलकिशोर बिड़ला, रामेश्वरदास बिड़ला, घनश्यामदास बिड़ला एवं ब्रजमोहन बिड़ला

आर्थिक क्रान्ति का अग्रदूत

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं श्रम आयोग में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में

समृद्धि का संविधान

कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जिनके विषय में निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने देश-काल में एक विशिष्ट ऐतिहासिक भूमिका के निर्वाह के लिए ही जन्म लिया। जी. डी. बाबू भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। उनका सारा जीवन निर्धन और पराधीन भारत में आर्थिक-क्रान्ति कर देने को समर्पित रहा। अगर गाँधीजी भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के सूत्रधार थे तो जी. डी. बाबू आर्थिक स्वाधीनता के अग्रणी संयोजक। आर्थिक क्षेत्र से बाहर भी उन्होंने जो काम किया ऐसा किया, जिससे राष्ट्र की आर्थिक स्वाधीनता और समृद्धि का उनका यज्ञ सफल हो सके। उदाहरण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने इंजीनियरी और प्रोद्योगिकी के महत्त्व को रेखांकित करके पिलानी में इन विद्याओं की उच्चतम शिक्षा का केन्द्र स्थापित किया। इसी तरह धर्म के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दुत्व के ऐसे पहलुओं को प्रश्रय दिया जो कर्मठता को प्रेरित कर सकते थे। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने ऐसी तमाम कुरीतियों को दूर करने का यत्न किया जो समाज को आधुनिक चुनौतियों का सामना करने में असमर्थ बना रही थीं। इसी प्रकार जी. डी. बाबू ने रूढ़िबद्ध धर्म के प्रति विशेष उत्साही न होते हुए भी मन्दिरों की स्थापना के लिए पैसा दिया तो यही समझकर कि समाज को नैतिकता के दायरे में रखने के लिए ऐसे खूंटे उपयोगी होते हैं और देश की वास्तविक आर्थिक समृद्धि के लिए भी नीति-विश्वासी परम्परा, नीति-निरपेक्ष आधुनिकता से अधिक आवश्यक है।

आजादी की लड़ाई का आर्थिक मोर्चा

जी. डी. बाबू की यह प्रसिद्ध मान्यता थी कि भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए गाँधीजी का यज्ञ तब तक पूरी तरह सार्थक नहीं होगा जब तक भारतवासी अपनी आर्थिक आजादी के लिए भी मोर्चा न बांधें। वह अच्छी तरह जानते थे कि गाँधी, नेहरू, पटेल जैसे शीर्षस्थ नेतागण राजनीतिक चुनौतियों का सामना करने में ही इतने व्यस्त हैं कि आर्थिक मोर्चे पर खुद नहीं उतर सकते। उन्होंने मन ही मन यह निर्णय किया कि देश की आर्थिक आजादी के लिए जो औद्योगिक आत्म-निर्भरता लानी है उसके लिए मैं स्वयं ही प्रयत्न करूं। इसे अपना व्यक्तिगत दायित्व मानकर उन्होंने अपना ध्यान आर्थिक क्षेत्र में लगा दिया और परोक्ष राजनीति से अपने को पृथक रखा। उनकी इस प्रबल मान्यता का सही अनुमान मुझे उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला से एक साक्षात्कार में मिला।

जी. डी. बाबू इस बात से परिचित थे कि गाँधीजी का चिन्तन एक समग्र इकाई है जिसके राजनीतिक और आर्थिक तत्वों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु अपने स्वाभाविक पैनेपन और व्यावहारिक दृष्टि के कारण उनसे यह बात भी छिपी नहीं रही कि गाँधी चिन्तन के आर्थिक तत्व वर्तमान में कुल मिला कर प्रतीकात्मक महत्त्व के ही हो सकते हैं। गाँधीजी गांव के जरिये, कुटीर-उद्योगों के माध्यम से जो चमत्कार करना चाहते थे उसके लिए सारे संस्कार बदलने की जरूरत थी और संस्कार बदलने पर भी औद्योगिक उन्नति के नक्शे में कोई स्थान बनता नजर नहीं आता था। मशीनीकरण, आधुनिकीकरण, नगरीकरण—साम्राज्यवादी पश्चिम की लायी हर चीज का गाँधीजी द्वारा विरोध किया जाना राजनीतिक लड़ाई की धार तेज रखने के लिए जरूरी था ऐसा जी. डी. बाबू मानते थे। किन्तु देश की समृद्धि बढ़ाने वाले, आत्म-निर्भरता जगाने वाले औद्योगीकरण से भी कोई द्वेष गाँधीजी को हो सकता था, यह मानना उनके लिए कठिन था। तो वह पूरी निष्ठा और विश्वास के साथ औद्योगिक-आत्मनिर्भरता और आर्थिक-विकास के अभियान में जुट गये। उनके कट्टतम मार्क्सवादी आलोचक तक यह मानने को बाध्य हैं कि जिसे 'नेशनलिस्ट बूर्जुआजी' कहते हैं उसके अन्यतम भारतीय प्रतिनिधि घनश्यामदास बिड़ला ही हुए। वह पूंजीवादी बाद में थे, राष्ट्रवादी पहले थे।

वैश्यकर्म जी. डी. बाबू को विरासत में मिला था किन्तु मात्र पैसा कमाना उन्होंने कभी अपना धर्म नहीं माना। परम्परागत सट्टे और व्यापार से मुंह

मोड़कर उन्होंने आधुनिक वाणिज्य-व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में कदम रखा और अपने साथ-साथ अपनी बिरादरी, अपने समाज और अपने देश को भी इस नयी दुनिया में लाये। उनके प्रयास से औद्योगीकरण की एक प्रबल वेगवती धारा वह निकली जिसके स्पर्श से अनपढ़ ग्रामीण कुशल कारीगर बन गये, मुनीम आधुनिक मैनेजर हो गये और सेठ उद्योगपति बन गये।

भारत में आर्थिक क्रान्ति के अग्रदूत थे जी. डी. बाबू और राजनीतिक क्षेत्र में उनका हर प्रयत्न इस क्रान्ति की विजय यात्रा को निरापद बनाने के लिए समर्पित था। अगर यह कहा जाये कि उद्योग और राजनीति के मध्य सबसे बड़े सेतु की भूमिका उन्होंने ही निभायी तो यह कोई अतिशयोक्ति न होगी। जहां अनेक अन्य नामधारी उद्यमियों का क्रियाकलाप अपना औद्योगिक कौशल, अपनी व्यावसायिक व्यावहारिकता, अपनी पेशेवर चुस्ती-फुरती दर्शाने तक ही सीमित रहा वहां जी. डी. बाबू आर्थिक जीवन के हर आयाम में आत्म-निर्भरता लाने के लिए, भारत की आजादी की राजनीतिक लड़ाई का आर्थिक क्षेत्र में पूरक बन सकने के लिए, और अन्त में भारत की स्वतन्त्रता को सुदृढ़ आर्थिक आधार देने के लिए सतत यत्नशील रहे। निश्चय ही राष्ट्र-प्रेम जी. डी. बाबू के आर्थिक चिन्तन का प्रमुख तत्व था। भले ही आर्थिक क्षेत्र में उनके गाँधीजी से मतभेद रहे हों और इसलिए उन्हें गाँधीजी का अनुयायी न कहा जा सकता हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह गाँधी के सहगामी थे और गाँधीजी के राजनीतिक मोर्चे के समानान्तर आर्थिक मोर्चे पर उन्होंने अपने ढंग से एक महत्त्वपूर्ण लड़ाई लड़ी।

औद्योगिक आत्मनिर्भरता के लिए आर्थिक नियोजन
(इकॉनामिक प्लानिंग)

जी. डी. बाबू का पूरा आर्थिक-चिन्तन इस अनुभूति से उपजा था कि अपने निर्धन देशवासियों के जीवन-स्तर में तत्काल सुधार लाने की आवश्यकता है। यह काम तभी हो सकता है जब इसे सुनियोजित ढंग से किया जाये और इसमें जनता और सरकार दोनों का सहकार्य प्राप्त हो। वह उन उद्योगपतियों में से नहीं थे जो आर्थिक-क्षेत्र में सरकारी भूमिका को एक सिरे से अस्वीकार कर देते हैं। उनका तो यह विचार था कि जिस सरकार के हाथ में सारा शासन सूत्र है उसे ही इस क्षेत्र में पहल करनी चाहिए और सब लोगों को आर्थिक विकास में हिस्सा बंटाने की कारगर प्रेरणा देनी चाहिए।

उल्लेखनीय है कि आर्थिक नियोजन का विचार जी. डी. बाबू के मन में किसी

सफल विदेशी उदाहरण का अनुसरण करने की ललक के रूप में पैदा नहीं हुआ। उन्हें भारत के लिए योजनाएं बनाने में विदेशी सहायता की अपेक्षा नहीं हुई। फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स में बोलते हुए सन् 1934 में उन्होंने वड़े पते की वात कही थी, "मैं यह बताना चाहूंगा कि हम बाहरी विशेषज्ञों को वुलावा नहीं दे रहे हैं कि आइये और वताइये हमें कौन-सी योजनायें अपनानी चाहिये और कौन-सी नहीं। मेरा मानना है कि अगर हम भारतवासी ही अपनी आर्थिक समस्याओं को नहीं जानते तो और कोई भी उन्हें जान नहीं सकता।"

जीवन-यापन का कौन-सा स्तर हमारा लक्ष्य होना चाहिए, इस विषय में सन् 34 में ही जी. डी. बाबू अपना मन्तव्य दे चुके थे—हर आदमी को दो जून पौष्टिक खाना मिले। दो हजार कैलोरी प्रतिदिन के हिसाब से, तन ढकने को कपड़ा लगभग पचपन गज प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के हिसाब से। और सिर छिपाने के लिए मकान लगभग सौ वर्ग फुट के हिसाब से। जी. डी. बाबू के निर्धारित इस न्यूनतम लक्ष्य से दरिद्रनारायण के किसी भी पक्षधर को, किसी भी क्रान्तिकारी को कोई शिकायत नहीं हो सकती। शोषण या उत्पीड़न पर टिके हुए किसी भी विलासपूर्ण जीवन-स्तर को, आर्थिक जीवन में किसी भी तरह के परोपजीवीपन को स्वीकृति देने के लिए जी. डी. बाबू न तब तैयार थे और न बाद में कभी हुए। इस दृष्टि से आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में उन्हें समाजवादी तक कहा जा सकता है।

जी. डी. बाबू यह तो नहीं मानते थे कि आर्थिक-नियोजन से समाज में व्याप्त गैर बराबरी पूरी तरह समाप्त की जा सकती है। उनका आग्रह था कि बुद्धि, प्रतिभा, उद्यम, ईमानदारी,मितव्ययिता, जोखिम उठाने का मनोबल आदि अनेक ऐसे तत्व हैं जो हर व्यक्ति में समान मात्रा में नहीं पाये जाते और इनमें अन्तर होने के कारण किसी न किसी नाम से किसी न किसी रूप में मानव समाज में असमानता हमेशा बनी रहेगी। किन्तु साथ ही वह यह भी कहते थे कि एक सीमा से अधिक आर्थिक असमानता पनपने देना सर्वनाश को न्यौता देने के बराबर है। ऐसी अस्वस्थ आर्थिक असमानता को स्वीकार करने के लिए जी. डी. बाबू तैयार नहीं थे। वह रूजवेल्ट के प्रशंसक थे कि उसने निष्क्रिय पूंजी को बहुजन हिताय लगाकर, घाटे की अर्थव्यवस्था का सार्थक उपयोग करके अमेरिका को घोर आर्थिक संकट से उभारा और अपने देश को साम्यवाद की ओर जाने से रोका। असमानता कम करने के लिए, गरीबों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप जी. डी. बाबू को स्वीकार था बल्कि प्रखर राष्ट्रवादी होने के नाते वह इतना अवश्य जोड़ देते थे कि इस क्षेत्र में सफल भूमिका स्वदेशी सरकार की हो सकती है, विदेशी शासन की नहीं। यद्यपि आर्थिक-नियोजन की

बात पहले-पहल जी. डी. बाबू ने 1934 के आस-पास उठायीं तथापि बार-बार उन्होंने यह स्पष्ट किया कि आर्थिक-नियोजन आजादी के मौसम में ही सही ढंग से पनप सकता है।

बाम्बे-प्लान : आर्थिक नियोजन का महत्त्वाकांक्षी अभियान

1944 में जी. डी. बाबू ने भारत के आर्थिक विकास की वह योजना तैयार करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया जो 'बाम्बे-प्लान' के नाम से प्रसिद्ध है। यह सच है कि इस दौर में अंग्रेज औपनिवेशिक शासक युद्धोत्तर भारत में आर्थिक-पुनर्निर्माण की बात सोच रहे थे। पर इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता कि इस काल-खण्ड में जी. डी. बाबू जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी पूंजीपति और कांग्रेस के शीर्षस्थ नेता एक दूसरे के बहुत निकट थे। इन लोगों ने मिल-जुलकर ही यह कल्पना की थी कि जल्द ही देश का शासन भारतवासियों के हाथ में आयेगा और राष्ट्र के आर्थिक-उत्थान के लिए स्वदेशी सरकार और देसी उद्यमी-पूंजीपति मिलकर काम कर सकेंगे। बाम्बे-प्लान में ऐसी तमाम बातें सोची और कही गयी थीं जो आज भले ही बहुत सामान्य हो चुकी हैं, तब बहुत नहीं थीं। यथा—घाटे की अर्थव्यवस्था, योजनाबद्ध विकास, निजी और सार्वजनिक औद्योगिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र पर सरकारी नियन्त्रण आदि।

जनवरी 1944 में आठ भारतीय उद्योगपतियों ने भारत के आर्थिक विकास की जिस प्रस्तावित योजना को प्रकाशित किया उसका काम 15 वर्षों में समाप्त होना था, इसके लिए 10 हजार करोड़ रुपये का निवेश अनुमानित था और इसमें कृषि-क्षेत्र में 130 प्रतिशत और उद्योग-धंधों में 500 प्रतिशत की वृद्धि हासिल करने का मनसूबा बाँधा गया था। मूल महत्त्वाकांक्षा थी कि इस काल-अवधि के भीतर औसत भारतीय की प्रति-व्यक्ति प्रति-वर्ष आय को दुगना करना। यह बात उल्लेखनीय है कि बाम्बे-प्लान में जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे वे लगभग वही थे जिन्हें 10 वर्ष पहले जी. डी. बाबू ने मुखर किया था—प्रति व्यक्ति 2800 कैलोरी दे सकने वाला खाद्यान्न, 30 गज कपड़ा और 100 वर्ग फुट रिहायशी स्थान। अन्य उद्योगपति भले ही किन्हीं और उद्देश्यों से इस अभियान में जुड़े हों, जी. डी. बाबू के बारे में निस्संकोच यह बात कही और प्रमाणित की जा सकती है कि आर्थिक नियोजन में उनकी रुचि पुरानी थी और इसके प्रति उनकी निष्ठा इस मान्यता से पुष्ट होती थी कि आर्थिक आत्म-निर्भरता के अभाव में भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता खोखली ही साबित हो सकती है। भले ही उन्होंने इस मुहावरे का प्रयोग

न किया हो—नव-उपनिवशवादी संकट के प्रति उनकी जागरूकता अद्‌भुत और उल्लेखनीय है।

विदेशी अनुभव से स्वदेश का लाभ

विड़लाजी की दृष्टि में फ्रांसीसी नमूने का आर्थिक-नियोजन भारतीय परिवेश में कहीं अधिक संगत साबित हो सकता था। फ्रांस में आर्थिक नियोजन के लक्ष्य व्यापारियों के साथ सलाह-मशवरे के बाद ही तय किये जाते थे और इन लक्ष्यों की पूरी जिम्मेदारी भी व्यापारियों और उद्यमियों को ही सौंपी जाती थी। जी. डी. बाबू को असन्तोष इस बात को लेकर था कि आर्थिक-नियोजन के प्रति भारतीय सरकार का मोह किताबी समाजवाद के प्रति पूर्वाग्रह-ग्रस्त प्रतिबद्धता के कारण ही ज्यादा दिखाई देता है और नारों के छलावे से मुक्त हुए बिना देश के आर्थिक-विकास की आशा नहीं की जा सकती।

सोवियत संघ में नियोजित आर्थिक विकास का जो प्रयोग चल रहा था उससे जी. डी. बाबू का लगाव अर्थशास्त्र और राजनीति के किसी भी मेधावी छात्र या पेशेवर अध्यापक से कम कभी नहीं रहा। रूसी प्रयोग में जी. डी. बाबू की रुचि चूंकि राष्ट्र-प्रेमी भारतीय नागरिक के रूप में थी इसलिए किसी भी तरह की रूमानियत और अनावश्यक आशावादिता से वह मुक्त थे। जी. डी. बाबू इस बात को भली-भाँति जानते थे कि लेनिन की नयी आर्थिक-नीति का क्रियान्वयन किन कठिन परिस्थितियों में किया गया है और कितने विकट भीतरी-बाहरी खतरों का सामना बोलशेविक सरकार को करना पड़ा था। रूसी असफलताओं-सफलताओं का मूल्यांकन भी वह यथार्थवादी तरीके से करते थे। इस बात पर जोर दिया जाना जरूरी है कि इन परिस्थितियों को वह भारत के सन्दर्भ में तुलनीय समझते थे और जब भी आर्थिक नियोजन की रूपरेखा सुझाते तो सीमित, हासिल किये जा सकने लायक लक्ष्य निर्धारण की बात करते थे। ब्रिटेन में लार्ड मेनर्डकीन्स अपने शोध और प्रशासकीय कौशल से पूंजीवाद को जिस तरह परिष्कृत कर भविष्य की चुनौतियों का सामना करने लायक बना रहे थे, उससे बिड़लाजी अनभिज्ञ न थे। अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट जिन उपकरणों से अपने देश को आर्थिक-संकट से उबारने में सफल हुए थे उनसे भी जी. डी. बाबू का परिचय था। फिक्की की बैठकों में अन्य भारतीय पूंजीपतियों को इन बातों में रुचि लेने के लिए जी. डी. बाबू यदाकदा कुरेदते रहते थे।

राष्ट्र-प्रेम से प्रेरित आर्थिक स्वावलंबन की खोज में जापानी अनुभव ने भी जी. डी. बाबू के आर्थिक-चिन्तन को प्रभावित किया था। इसे वह एक दूसरी तरह

का आर्थिक-नियोजन समझते थे। पर वह इस बात को अनदेखा नहीं करते थे कि भाग्य ने जापान का कितना साथ दिया है। जी. डी. बाबू अपने देशवासियों का ध्यान इस ओर निरन्तर आकर्षित करते थे कि आर्थिक-नियोजन की सफलता के लिए स्थायित्व, शान्ति और सुव्यवस्था आवश्यक है। आम आदमी के जीवन-स्तर में सुधार, विशेषकर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में, स्वयं सिद्ध अनिवार्यता है। राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी वाद को अपनाना जी. डी. बाबू की दृष्टि में बुरा नहीं है। उनका मानना था कि संसार में कोई भी व्यक्ति वादों से छुटकारा नहीं पा सकता और यदि हिन्दुस्तान को प्रगति करनी है, समृद्ध और समर्थ बनना है तो उसके लिए वह एक ही वाद सार्थक व आकर्षक हो सकता है जो उपलब्ध प्रतिभा, श्रमशक्ति, कौशल, विवेक को समाज के हर तबके से दोहन कर देश के व्यापक हित में जुटा सके। जन्म और कर्म से भले ही बिड़लाजी पूंजीवादी थे, भारत के सन्दर्भ में समाजवाद और साम्यवाद के अच्छे पक्ष को स्वीकार करने से वह कभी नहीं हिचकिचाते थे।

स्वतन्त्र भारत में सार्वजनिक बनाम निजी क्षेत्र

नये भारत के निर्माण में पूंजीवादियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण और रचनात्मक हो सकती है। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि स्वतन्त्र भारत में जी. डी. बाबू निजी क्षेत्र को स्वच्छन्द और निरंकुश रखना चाहते थे। उन्होंने यह बात स्पष्टतः कही, "व्यक्तिगत रूप से मेरा मानना है कि भारत के आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दी जाये या निजी क्षेत्र को, इसकी एक ही कसौटी हो सकती है—देश का हित। मैं निजी क्षेत्र को वहां अनुमति दूंगा जहां इससे राष्ट्र का हित होता हो और सार्वजनिक क्षेत्र को वहां चुनूंगा जहां इसकी आवश्यकता है।"

वह यह जोड़ते थे कि उत्पादन को, वितरण को समुचित ढंग से साधने के लिए भारत में योग्य व्यक्तियों की कमी है और यह काम ऐसे लोगों द्वारा नहीं किया जा सकता जिनको इसका कोई अनुभव नहीं है। जी. डी. बाबू की मान्यता थी कि तमाम प्रशासन बुनियादी तौर पर अनुत्पादक होता है और इस तरह के अनुत्पादक क्रिया-कलाप को आर्थिक जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बनाना दिवालियेपन का खतरा उठाना है। सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में सहकार की बात करते समय कोई अस्पष्ट सरलीकरण जी. डी. बाबू के मन में नहीं था। एक ठोस कार्यक्रम, एक यथार्थवादी लाभप्रद फार्मूला वह अक्सर सुझाते थे।

दुर्भाग्यवश जी. डी. बाबू के दूरदर्शी, रचनात्मक सुझावों का पूरा लाभ उठा सकने में सरकार असमर्थ रही। बाद के वर्षों में कभी-कभी जी. डी. बाबू को स्वयं

लगता था कि शायद इस मामले में उनकी पुरानी आशावादिता निर्मूल थी। एक बार उन्हें खेद के साथ यह टिप्पणी करनी पड़ी, "ऐसा जान पड़ता है कि प्रशासन सोने चला गया है या अतीत की खुमारी उस पर बाकी है। यह नहीं कि हमारे प्रशासकों में बुद्धि का अभाव है या कौशल का। परेशानी तो यह है कि वह कोई निर्णय लेना ही नहीं चाहते। उनको डर लगता है कि 20 साल बाद भी कोई पचड़ा उठ खड़ा हो सकता है तो हम उसमें क्यों फंसें? जिच की स्थिति इससे ही पैदा होती है।"

जी. डी. बाबू का मानना था कि निजी क्षेत्र को निरंकुश छोड़ने की मांग या स्वच्छन्द आर्थिक क्रियाकलाप की बात आज सिर्फ दकियानूसी कट्टरपन्थी पूंजीवादी ही उठाते हैं। भारतवासियों के लिए यह जरूरी है कि वह औरों की गलतियों और अनुभव से सीखें और अपने लिए एक ऐसा मार्ग चुनें जिसमें दोनों ही व्यवस्थाओं (पूंजीवादी और समाजवादी) के तत्वों का समावेश हो। जी. डी. बाबू की दृष्टि में दोनों ही व्यवस्थायें एक ही लक्ष्य के लिए कारगर थीं। उत्पादन में वृद्धि और समतापूर्ण वितरण।

आर्थिक विकास का मूल-मंत्र उत्पादकता-वृद्धि

घनश्यामदासजी की मान्यता थी कि देश का आर्थिक-विकास केवल शब्द जाल फैलाने से नहीं सध सकता और न केवल आर्थिक-नियोजन की रूपरेखा तैयार कर लेने भर से पूरा हो जाता है। योजना का क्रियान्वयन परमावश्यक है और इसके बिना जीवन-स्तर ऊपर नहीं उठाया जा सकता। आरम्भ में ही बहुत ज्यादा महत्त्वाकांक्षी होना या अतिशय केन्द्रीयकरण असफलता का संकट पैदा कर सकते हैं। उनका यह मानना था कि आर्थिक-नियोजन तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक वर्तमान को अनदेखा किया जाता रहे और किसी सुदूर स्वर्णिम भविष्य पर ही हमारी दृष्टि टिकी रहे। जी. डी. बाबू की समझ में यह सब कुछ ऐसा ही है जैसे बिना नींव डाले इमारत की दसवीं मंजिल के लिए भाग-दौड़।

सफल उद्योगपति के रूप में जी. डी. बाबू का अनुभव उन्हें यह सिखला चुका था कि आर्थिक-नियोजन जैसी बड़ी जिम्मेदारी शौकिया या पेशेवर अर्थशास्त्री, नेताओं और नौकरशाहों पर नहीं छोड़ी जा सकती। बहुत चुटीले ढंग से वह कहा करते थे, "व्यापारी-उद्यमी बिरादरी के 'मूर्ख' इस सन्दर्भ में सचिवालय में बैठे रहने वाले मूर्खों से श्रेष्ठ ही सिद्ध होंगे क्योंकि आर्थिक-क्रियाकलाप में कोई भी व्यापारी कोई गलती करता है तो कीमत उसकी अपनी गांठ से जाती है। पर जब ऐसी ही कोई गलती सचिवालय में बैठा मूर्ख करता है तो कीमत देश को चुकानी पड़ती है।"

सफल उद्योगपति विड़लाजी की दृढ़ मान्यता थी कि आर्थिक-विकास का एक ही मूल-मंत्र है—'बढ़ी हुई उत्पादकता'। सन 1947 में श्रीमती जोखिम अलवा को प्रेषित एक टिप्पणी में उन्होंने इस बात पर जोर दिया, "मेरी इच्छा है कि भारत में हर चीज का उत्पादन बढ़े और बढ़े उत्पादन की खपत हो—चाहे खाद्यान्न हो या कपड़ा, आवास हो या सड़कें तथा यातायात, शिक्षा हो या बेहतर स्वास्थ्य-सेवायें। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि हर तरह का सामाजिक खर्च बढ़ी समृद्धि से ही पूरा किया जा सकता है—दूसरो शब्दों में बढ़े उत्पादन से, और इसके लिए जरूरी है नारेबाजी से मुक्ति और कठिन श्रम।" जी. डी. बाबू जब स्वतन्त्र भारत की नियोजन-प्रक्रिया से खिन्न होने लगते तब यह व्यंग्य करते कि बिना बन्दूकों और गोलियों के निशाने की बात करना व्यर्थ है।

जी. डी. बाबू के विचार से भारतवासियों को वामपन्थी और दक्षिणपन्थी बहस में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। शायद ही कोई व्यक्ति इनकी सही-सही परिभाषा दे सके। वह अक्सर अपने श्रोताओं और पाठकों को याद दिलाते रहते कि अमरीका के सन्दर्भ में राष्ट्रपति कैनेडी वामपन्थी थे और इंग्लैण्ड में दक्षिणपन्थी टोरी 50 वर्ष पहले के उग्रपन्थियों के मुकाबले कहीं अधिक प्रगतिशील साबित हो चुके थे। देश की खुशहाली के लिए सिर्फ एक बात महत्त्वपूर्ण है—उत्पादन में वृद्धि। जी. डी. बाबू के ध्यान में यह बात हमेशा रहती थी कि उत्पादन की दर जरा भी कम हुई तो मुद्रास्फीति का संकट हमें घेर लेगा। इसके बाद न तो करों से कुछ हासिल होगा और न ही किसी बजट से कुछ आशा की जा सकती है।

विड़लाजी पूंजीवादी थे और पूंजीवादी होना बुरा नहीं समझते थे। वह कहते थे कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि लगभग हर विकासशील देश के विभिन्न वर्गों में समृद्धि लाने के लिए चाहे जापान हो या रूस, इंग्लैण्ड हो या अमरीका, पूंजीवादी उद्यमियों ने महत्त्वपूर्ण और अक्सर निर्णायक भूमिका निभायी है। जी. डी. बाबू का आर्थिक-चिन्तन इस ऐतिहासिक ज्ञान से समृद्ध था और उनके देश-प्रेम और उनकी यथार्थवादी व्यावसायिकता में विरोधाभास पैदा नहीं होने देता था। इसी कारण जी. डी. बाबू का चिन्तन व्यावहारिक और पैनी धार वाला बना रहा। उनकी स्फुट टिप्पणियां आज भी विचारोत्तेजक और उपयोगी हैं।

मार्च 1947 में तत्कालीन आपूर्ति मंत्री श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को लिखे एक पत्र में जी. डी. बाबू के चिन्तन का व्यावहारिक पक्ष अच्छी तरह उजागर हुआ है। उन्होंने लिखा, "मुद्रास्फीति शब्द भ्रान्तिपूर्ण है। यह एक ऐसा फिसलनदार शब्द है जिसके बारे में कोई दो अर्थशास्त्री एकमत नहीं होते।

महायुद्ध के पहले आम आदमी मुद्रास्फीति का अर्थ समझता था रुपये का अवमूल्यन, अब यह बदल कर हो गया है मूल्य-वृद्धि। बुराई की जड़ मुद्रास्फीति नहीं बल्कि जरूरी चीजों के उत्पादन में कमी है। उत्पादन बढ़ाये बिना कुछ नहीं किया जा सकता और यह उत्पादन-वृद्धि वर्तमान में ही उपलब्ध होनी चाहिए। आर्थिक-नियोजन के सिलसिले में यही तथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण है।"

उत्पादन-वृद्धि के मार्ग में अदूरदर्शी कर-शुल्क-नीति रुकावटें ही पैदा करती रही है। भारतीय उत्पादन को विदेशी मंडियों में खपाने के लिए स्तर और मूल्य के मामले में सही मायंने में प्रति-स्पर्धात्मक बनाना सबसे बड़ी आवश्यकता है। जी. डी. बाबू को इस बात की समझ थी कि आयात पर अन्धाधुन्ध शुल्क या कर बढ़ाकर देश का कोई हित अपने आप में नहीं हो सकता। निर्यात को बढ़ाने के लिए विदेशी मुद्रा का खर्च जरूरी है और इस मामले में कंजूसी आत्मघाती ही साबित हो सकती है। इस बात को वे भली-भाँन्ति जानते थे कि आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए उत्पादन बढ़ाने वाले जरूरी संयन्त्रों के आयात को सहानुभूति के तरीके से देखा जाना जरूरी है। इस मामले में जी. डी. बाबू बहुत दूरदर्शी थे और रिजर्व बैंक की नादान किफायतसारी को कुरेदकर सामने लाना अपना कर्तव्य समझते थे। एक पत्र द्वारा तत्कालीन प्रधानमन्त्री के सचिव श्री एल. के. झा को उन्होंने सुझाया कि इस तरह की नीतियां देश के आर्थिक-विकास को नुकसान ही पहुंचा सकती हैं। उनको यह बात भी अटपटी लगती थी कि विदेशों में निर्यात बढ़ाने वाले प्रचार में महिलाओं की नियुक्ति पर रिजर्व बैंक ने रोक लगा रखी थी। उनका मत इस मामले में प्रगतिशील और आधुनिक था। और उन्होंने झाजी को लिखा, "इस मामले में रिजर्व बैंक की नीति मुझे तर्कसंगत नहीं लगती। कुछ काम निश्चय ही महिलाएं पुरुषों से बेहतर कर सकती हैं।"

भारतीय परिवेश में पूंजीवाद की जिम्मेदारी से जी. डी. बाबू स्वयं कभी कतराते नहीं थे और हमेशा अपने पूंजीवादी भाई-भतीजों को यह सलाह देते रहते थे कि उन्हें भी देश और समाज की जरूरत के अनुसार अपने लाभ में कटौती करने तथा कमर कसने के लिए तैयार रहना चाहिये। वे कहा करते थे कि हम सरकार से असहमत हो सकते हैं, सरकार की आलोचना कर सकते हैं और जिन बातों को, नीतियों को भला-बुरा समझते हैं उनके बारे में अपनी राय सरकार तक पहुंचा सकते हैं, पर हमें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिये जो सरकार के प्रभाव को, उनके शासनाधिकार को कमजोर करे। न ही जी. डी. बाबू कमरतोड़ करों का रोना रोते रहते थे। वैंजामिन फ्रेंकलिन के एक चुस्त विचारोत्तेजक मुहावरे को वह अक्सर दोहराते थे, "दोस्तो, सरकार द्वारा लगाये कर वाकई बहुत भारी हैं तब भी इनको बिना रोये-कराहे देना ही बेहतर है। क्योंकि हमारे ऊपर गैर सरकारी करों का

बोझ भी कम नहीं—आलस्य के कर का बोझ हमारे ऊपर दुगना, अंहकार के करों का बोझ तिगुना और हमारी अपनी गलतियों के करों का बोझ सरकार द्वारा लगाये करों से चौगुना है। इन करों से हमें कोई बचा नहीं सकता।"

जी. डी. बाबू अमरीका, इंग्लैण्ड और जर्मनी की खुशहाली से यही सबक लेते थे कि उत्पादन की स्वतन्त्रता और खर्च करने की स्वतन्त्रता की नींव पर ही इन देशों की अद्भुत सफलता टिकी थी। उनका कहना था कि भारत में नियन्त्रित उपभोग, नियन्त्रित उत्पादन और विदेशों में संकटकालीन बदहवास विक्रय की दकियानूसी नीतियों ने ही हमारी मुसीबतें पैदा की हैं। जब तक इस जड़ता से छुटकारा नहीं पाया जा सकता तब तक आर्थिक-नियोजन का लाभ उस भारतीय जनता को नहीं हो सकता जिसके लिए आर्थिक-नियोजन आरम्भ किया गया है। जी. डी. बाबू का कोई हठ राष्ट्रीय बजट को हर हालत में सन्तुलित रखने का नहीं था। उनका मानना था और इस बात को अक्सर वह मजाहिया ढंग से, मगर बिना इसका महत्त्व कम किये, पेश करते थे, "आखिर आम आदमी के घर का बजट सन्तुलित किये रखना इससे कहीं अधिक जरूरी है।"

राह के रोड़े : अदूरदर्शी मूल्य-नीति, अनावश्यक नियन्त्रण और नौकरशाही की बेड़ियां

जी. डी. बाबू मानते थे कि देश के आर्थिक विकास और औद्योगिक उत्पादन में आवश्यक वृद्धि की राह में सबसे बड़ा रोड़ा सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य-नीति है। जी. डी. बाबू अक्सर यह उदाहरण दिया करते थे कि यदि सीमेण्ट की कालाबाजारी होती है तो सरकार द्वारा मूल्य निर्धारण के कारण ही। उत्पादक निर्धारित मूल्य पर सीमेण्ट को बेचने पर विवश है अक्सर एक ऐसे व्यक्ति को जो स्वयं सीमेण्ट की कालाबाजारी करना चाहता है। उपभोक्ता तक सीमेण्ट बढ़ी-चढ़ी कीमतों पर ही पहुंचता है और इस प्रकार लाभ न उपभोक्ता को होता है और न ही उत्पादक को। उनकी राय में सरकार की मूल्य-नीति ने कम से कम तीन उद्योगों को नुकसान पहुंचाया था—सीमेण्ट उद्योग, मोटरकार उद्योग और अल्युमिनियम उद्योग। सन्तोष की बात यह है कि पिछले दो वर्ष से इस मूल्य-नीति को सरकार यथार्थवादी तरीके का रूप दे रही है। परिणामतः इन तीनों ही प्रकार के उद्योगों में आर्थिक-नियोजन सार्थक हो सका है। उपभोक्ता पर कोई अवांछित मूल्य लादे बिना कालाबाजारी घटी है।

जी. डी. बाबू कहा करते थे कि उद्योग में उत्पादन बढ़ाने के लिए दो चीजें बेहद जरूरी हैं—ऊर्जा और यातायात। ऊर्जा-उत्पादन को वह औद्योगिक जीवन

की जान मानते थे। इनके साथ ही श्रम सम्बन्धों के समुचित संचालन की अनिवार्यता वह समझते थे। उनका मानना था कि जिन हड़तालों के बारे में आम आदमी समाचार-पत्रों में रोजमर्रा पढ़ता रहता है उनके लिए सरकार का भोंडा तरीका जिम्मेदार है। हां, योग्य सरकारी अधिकारियों की प्रशंसा करने से वह कतराते नहीं थे। जब एयर चीफ मार्शल पी. सी. लाल ने एयर इण्डिया के महाप्रवन्धक के रूप में अपनी कार्यकुशलता दर्शायी तो जी. डी. बाबू ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

जी. डी. बाबू मानते थे कि औद्योगिक विकास के लिए लाइसेंसवादी सरकारी नीतियां बहुत नुकसानदेह साबित हुई थीं। इससे उद्यमियों का बहुत समय अनुत्पादक ढंग से व्यर्थ होता है। एक बार उन्होंने यहां तक कह दिया कि स्वयं उनका 90 प्रतिशत समय सरकारी अधिकारियों के साथ व्यर्थ के पत्राचार में खर्च होता था।

1967 में भारत की इंजीनियरिंग एसोसिएशन के युवा अध्यक्ष गोविन्दराम हाडा के अनुरोध पर उसके वार्षिक अधिवेशन को सम्बोधित करते समय जी. डी. बाबू ने यह बात स्वीकार की थी कि आजादी के बाद के 18-20 सालों में देश ने निश्चय ही प्रगति की है, पर वह यह जोड़ना आवश्यक समझते थे कि इस प्रगति का श्रेय सरकार या योजना आयोग को नहीं दिया जा सकता। उनकी मान्यता थी, और यह मान्यता गलत भी नहीं कही जा सकती कि यदि कुछ लोगों के अलावा करोड़ों को पहल का मौका दिया जाता और सरकार अधिक व्यावहारिक रवैया अपनाती तो उपलब्ध आर्थिक विकास की दर कहीं बेहतर रहती।

1967 के आसपास देश जिस विकट आर्थिक संकट का सामना कर रहा था उस रोग के उपचार के पहले सम्यक् निदान को बिड़लाजी परमावश्यक मानते थे जिसके उन्होंने चार प्रमुख कारण बताये। पहला था बुरा नियोजन, दूसरा बुरी वित्तीय योजना, तीसरा बुरी मुद्रा नीतियां और चौथा गैर जरूरी अनुशासन और नौकरशाही का हस्तक्षेप। जी. डी. बाबू मानते थे कि इन्हीं बातों ने हमारी अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुंचाया है और उनसे मुक्त होने के लिए हमें निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

हथकरघा, कृषि-उत्पादन और ग्रामीण कर्जदारी के प्रश्न

जी. डी. बाबू के आर्थिक-दर्शन की सबसे दुर्लभ विशेषता यह थी कि किसी भी तरह की हानिकर भावुकता या हठधर्मिता से वे बिल्कुल मुक्त थे। यों वह कांग्रेस के समर्थक थे और गाँधीजी के अनुयायी। तब भी उनके आर्थिक-चिन्तन में

ऐसी किसी नादानी के लिए स्थान नहीं था जो देश के आर्थिक विकास के मार्ग में रोड़ा बनती हो। हथकरघा उद्योग के बारे में उनकी टिप्पणियां इस बात को अच्छी तरह उजागर करती हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि आदिम उत्पादन प्रणाली पर आधारित हथकरघा उद्योग जब तक सरकार द्वारा कृत्रिम रूप से प्रोत्साहित किया जाता रहेगा तब तक विदेशों में जगह बनाने की बात तो छोड़िये स्वदेश में भी वह अपने को नहीं बचाये रख सकता। इस बारे में किसी भी तरह के आत्म-छल को बनाये रखना घातक ही सिद्ध हो सकता है। जी. डी. बाबू मानते थे कि यह सच है कि मद्रास की रंग-बिरंगी लुंगियां अमरीका में एक बार काफी लोकप्रिय हो गयी थीं। पर जैसे ही अमरीकी लोगों ने इस तरह के कपड़ों का उत्पादन शुरू किया इनका बाजार भारतीयों के हाथ से जाता रहा। जी. डी. बाबू को यह बात हमेशा याद रहती थी कि ढाके की मशहूर मलमल लंकाशायर की मिलों के सामने टिक नहीं पायी थी। उनका मानना था कि यदि भारत का कपड़ा उद्योग कालक्रम में लंकाशायर की मिलों से बाजी मार ले गया तो सिर्फ इसीलिये कि भारत के उद्यमियों ने आधुनिकीकरण का उद्यम साधा था। जब यह खतरा पैदा होने लगा कि यदि समय रहते इन मिलों का आधुनिकीकरण न किया गया तो भारत फिर पिछड़ जायेगा तो जी. डी. बाबू को इस बात की कोई तुक नहीं दिखती थी कि भारत में राजनीतिक लोग आज भी 19वीं सदी के ढर्रे पर चल रहे हथकरघों के पुनरुत्थान की बात कर विदेशों के मुकाबले की सोचें।

यह नहीं कि कपड़ा उद्योग के साथ जुड़ा होने के कारण ही उनका रवैया हथकरघों के लिए द्वेषपूर्ण या पूर्वाग्रह-ग्रस्त था। उनका विरोध सिर्फ दकियानूसी चिंतन और हठधर्मी से था जो सिर्फ जिद के कारण आम आदमी की खुशहाली और भारत के आर्थिक विकास की प्राथमिकता की उपेक्षा करती रही है। अन्यथा, स्वयं जी. डी. बाबू ने हथकरघे को समय की जरूरत के मुताबिक सुधारने तथा उसमें नयी जान फूंकने के सुझाव को कारगर किया। तत्कालीन उद्योगमन्त्री टी. टी. कृष्णमाचारी के साथ उनके पत्र-व्यवहार से यह जानकारी प्राप्त होती है कि मशीन चालित किफायती उत्पादन बढ़ाने वाले हथकरघों के अपनाये जाने के लिए जी. डी. बाबू स्वयं हमेशा कितने उत्सुक रहे। अपने 'टेक्समेको' कारखाने से ऐसे कम दाम का एक नमूना तैयार कराकर उन्होंने टी. टी. को दिखाया।

भारत के आर्थिक विकास के लिए नियोजन को जी. डी. बाबू परमावश्यक मानते थे और इस सन्दर्भ में बार-बार यह बात दोहराते थे कि उद्योग और कृषि कर्म एक दूसरे के पूरक हैं। और इस बारे में किसी प्रकार की हठधर्मी उनके सोच में नहीं थी और उनका आर्थिक चिन्तन हमेशा एक व्यावहारिक लचीलेपन का दर्शन था। यों आर्थिक नियोजन की बात उठाने वाले राष्ट्रवादी भारतीयों में वह पहले थे

तथापि उनके मन में अपनी ही पुरानी स्थापनाओं के प्रति देश को नुकसान पहुंचाने वाला कोई आकर्षण कभी नहीं रहा।

आजादी के 10 साल पहले ही उन्होंने यह चेतावनी दे दी थी कि आर्थिक उत्पादन तब तक नहीं साधा जा सकता जब तक भूमि सम्बन्धी कानूनों में जरूरी परिवर्तन नहीं लाया जाता और ग्रामीण कर्जदारी को घटाने का कारगर उपाय नहीं सोचा जाता। कृषि-उत्पादन बढ़ाने की बात जी. डी. बाबू किसी अमूर्त, शास्त्रीय विश्लेषण वाले तरीके से नहीं करते थे। हमेशा की तरह उनका दूरदर्शी यथार्थवाद बरकरार रहता और मार्ग में आ सकने वाली अड़चनों को अनदेखा करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था।

जी. डी. बाबू यहां तक स्वीकार करते थे कि हो सकता है कि औद्योगिक क्षेत्र में उद्यमियों को भले ही प्रत्यक्ष प्रोत्साहन की जरूरत न पड़े, कृषि उत्पादन के क्षेत्र में विशेषकर खाद्यान्नों, तिलहन, फल और गोधनजनित उत्पादनों के मामले में अतिरिक्त आर्थिक सहायता तक आवश्यक हो सकती है। देश के आर्थिक स्वास्थ्य में सुधार के लिए खाद्यान्नों की उपलब्धि सबसे पहली जरूरत है और बिड़लाजी का मानना था कि इसके लिए कोई भी कीमत बहुत ज्यादा नहीं समझी जानी चाहिए।

1974 में 'इंडियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स' की एक बैठक में उन्होंने कहा, ''यह अक्सर भुला दिया जाता है कि कृषि उत्पादन मूलतः औद्योगिक उत्पादन पर निर्भर है। क्यों? क्योंकि यदि आप कृषि उत्पादन बढ़ाना चाहते हैं तो आपको नलकूप, जलकल तथा उर्वरक चाहिए। यह आपको कहां से मिलेंगे? यदि आपको बड़े जल-भण्डार तैयार करने हैं तो आपको स्टीम और सीमेण्ट चाहिए। यदि आपको उर्वरक चाहिए तो इसके उत्पादन के लिए संयन्त्र लगाने होंगे। उद्योग और कृषि का सम्बन्ध बीज और पेड़ वाला है, बिना बीज के पेड़ नहीं लगाया जा सकता। यदि हमें कृषि उत्पादन बढ़ाना है तो हमें अपने उद्योग-धन्धों की ओर समुचित ध्यान देना होगा। ऐसा किये बिना कृषि उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता।''

भारत सरकार को व्यावहारिक दूरदर्शिता से सूचित रखने का सिलसिला

जी. डी. बाबू इस बात को भली-भाँन्ति समझते थे कि औपनिवेशिक सरकार ने मजबूरन भारतीय उद्योग-धन्धों को बढ़ने का मौका तो दिया था पर इस

वारे में उसकी सतर्कता हर बार वनी रही थी कि भविष्य में विदेशी उत्पादकों के लिए भारतीय उद्यमी प्रतिद्वन्द्वी न बनने पायें। भारत की स्वतन्त्र सरकार को जो भी राय जी. डी. बाबू देते थे उसका प्रमुख उद्देश्य यही होता था कि औपनिवेशिक षड्यन्त्रों से हुए भारत के आर्थिक नुकसान को जल्द से जल्द पूरा किया जा सके।

अन्तरिम सरकार के गठन के शीघ्र बाद राजाजी को लिखे गये 21 अक्टूबर 1946 के अपने पत्र में जी. डी. बाबू ने 6 ऐसे भारतीय उद्योगपतियों के नाम उन्हें सुझाये जो आवश्यकतानुसार सरकार को राष्ट्र हितकारी सलाह दे सकते थे। जी. डी. बाबू की टिप्पणियां उनके नीर-क्षीर विवेक का अच्छा प्रमाण देती हैं। बिड़लाजी ने यह बात लुकाने-छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि ये उद्योगपति (जिनमें वह स्वयं भी शामिल थे) अपने हितों की बलि तो नहीं देने वाले थे तथापि उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक, व्यापक और देश के लिए हितैषी साबित हो सकता था। मानव स्वभाव की उनकी अद्भुत पकड़, परख भी इस मूल्यांकन में झलकती है। उदाहरणत: बद्रीदासजी गोयनका के बारे में बतलाया गया, "वे खरे सोने जैसे चरित्र वाले व्यक्ति हैं। आमतौर से पृष्ठभूमि में रहना उनकी आदत है और सिर्फ इसी कारण देश-सेवा की उनकी क्षमता को, उनकी तत्परता को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।" इसी तरह "कस्तूर भाई लालभाई की बात का तरीका अन्य व्यापारियों की तुलना में कुछ भिन्न है पर इसे भी एक दुर्बलता नहीं समझा जाना चाहिए।" सबसे मजे का विश्लेषण तो जे. आर. डी. टाटा के बारे में है। उन्हें अत्यन्त बुद्धिमान एवं सुसंस्कृत व्यक्ति स्वीकार किया गया है। मानकराय रायचन्द प्रेमचन्द के बारे में उन्होंने स्पष्टत: लिखा कि वित्तीय मामलों में हम में से किसी से भी अधिक जानकारी उन्हें प्राप्त है। सर षणमुखम चेट्टी का नाम बिड़लाजी ने यह जानते हुए भी सुझाया कि कांग्रेसी जमात में उनके अनेक आलोचक हैं पर इससे उनकी योग्यता, बुद्धि और ईमानदारी का अवमूल्यन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उनकी मेधा व्यावसायिक थी और प्रशासकीय अनुभव व्यापक। जी. डी. बाबू की नजर में राष्ट्र के लाभ के लिए इन सबका उपयोग किया ही जाना चाहिए था।

छोटी-छोटी महत्त्वपूर्ण बातें

आर्थिक विकास के लिए सरलीकृत सामान्यीकरणों या मोटे-मोटे लक्ष्यों–उद्देश्यों का निरूपण ही काफी नहीं होता। अक्सर विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था का स्वास्थ्य और प्रगति की दर छोटी-छोटी, पर रोजमर्रा की जिन्दगी के लिए महत्त्वपूर्ण बातों पर आधारित होती है। जी. डी. बाबू के आर्थिक चिन्तन में इन नगण्य लगने वाली बातों की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती थी। 1945 में

ही आकाशवाणी से प्रसारित अपनी वार्ता में जी. डी. बाबू ने श्रोताओं का ध्यान इस ओर दिलाया था कि श्रमिक कारीगर की कार्यकुशलता बढ़ाने, उसकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए समुचित पोषण और सन्तुलित आहार की उपयोगिता जग-जाहिर है। इतना ही नहीं उनका मानना था कि स्वाद के मामले में एकरूपता लाने का प्रयत्न समय और खाद्य-सामग्री की फिजूलखर्ची को बचा सकता है। देश के विभिन्न भागों में पूरी, लूची, चपाती, खाखरा, रोटी या परांठा तवा तन्दूर कड़ाही में पकाये जाते हैं। निश्चय ही एक केन्द्रीय रसोई या बेकरी में इनको बड़े पैमाने पर तैयार किया जा सकता है। इसी तरह थोड़ी सी कल्पनाशीलता से प्रादेशिक मसालों में फर्क/अड़चनों को दूर किया जा सकता है। बिड़लाजी का सुझाव था कि बड़े उद्योग-धन्धों की कैण्टीनें स्वाद के राष्ट्रीयकरण तथा कम खर्च पर स्वास्थ्यप्रद भोजन को सुलभ बनाने के मामले में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

इसी तरह सन्तुलित आहार के साथ-साथ समय की पाबन्दी और समुचित शिक्षा के महत्त्व को जी. डी. बाबू भली-भाँन्ति समझते थे। वह अक्सर कहते थे कि भारतीय कारीगरों को समय की पाबन्दी अपनी व्यक्तिगत आदतों में अपनानी होगी। आज यदि मनसुख 9 बजे नाश्ता करता है तो तनसुख इससे 10 बजे निपटता है। चैनसुख और नैनसुख इसका आनन्द क्रमशः 11 और 12 बजे लेते हैं। अब यदि ये चारों सुख एक संयुक्त परिवार के सदस्य हैं तो बेचारी भाभी या पत्नी को चूल्हा-चौके के चक्कर में घण्टों बन्दी बनाये रखने के साथ-साथ अपने कामकाज को भी नुकसान पहुंचाते हैं।

इसी वार्ता में बिड़लाजी ने इस बात पर भी जोर दिया था कि रात्रि स्कूलों का अभाव भारतीय कारीगरों को अधिक कुशल बनने से रोकता रहा है। वह उदाहरण देते थे कि लार्ड नफील्ड जो विलायत के सबसे बड़े अमीर आदमियों में से थे और जिनकी मिल्कियत तो छोड़िये जिनके द्वारा स्थापित जन-हितकारी ट्रस्टों की मिल्कियत ही 40 करोड़ रुपयों से अधिक थी, कभी सिर्फ 20 रुपये प्रतिमाह पर काम करने वाले मजदूर थे। अपनी हालत में सुधार लाने की अभिलाषा से प्रेरित यदि नफील्ड साइकिल मरम्मत के खोमचे को भीमकाय उद्योग-धन्धों में बदल पाये थे तो सिर्फ इसलिए कि इस काम के लिए जरूरी ज्ञान और शिक्षा को हासिल करना सम्भव हुआ था। जी. डी. बाबू इस बात को भली-भाँन्ति समझते थे कि भारत में औद्योगिक उत्पादन इसीलिए नुकसान उठाता रहता है क्योंकि जटिल यन्त्रों के कुशल प्रयोग के लिए जिस बेहतर शिक्षा-दीक्षा की जरूरत है वह सुलभ नहीं है। श्रमिक और कारीगर का अपना कैरियर तो निरक्षरता से कुण्ठित रह ही जाता है, आर्थिक विकास भी उनसे नहीं होता।

एक और बात जी. डी. बाबू को बार-बार खिन्न करती थी कि भारत में प्रबन्धक और तकनीकी विशेषज्ञ श्रम की वास्तविकता के बारे में बहुत कम जानते हैं और इससे अपरिचित ही हैं। सिद्धान्तों से उनका परिचय कितना ही अच्छा क्यों न हो, काम का उनका अनुभव बहुत सीमित रहता है। एक रेडियो वार्ता में उन्होंने कहा था, ''मैं भारत में अनेक ऐसे अच्छे इंजीनियरों को पहचानता हूं जो बिना एक मिस्त्री के स्वयं बेकार हो जायेंगे। ऐसा इसलिए है कि उन्हें अपने हाथ से काम करने का कोई मौका ही नहीं मिला। हमारे युवा इंजीनियरों की आकांक्षा ज्यादा सीखने (प्रशिक्षण प्राप्त करने) की सिर्फ इसलिए रहती है कि उन्हें काम कम करना पड़े, जबकि इंग्लैण्ड और अमरीका में आम आदमी इसलिए सीखता है कि वह बेहतर काम कर सके।'' उनकी दृढ़ मान्यता थी कि यह गलत मानसिकता तब ही बदल सकती है जब वास्तविक कारीगर को अपने ज्ञान का भण्डार बढ़ाने का अवसर मिले और अंततः वह स्वयं एक वरिष्ठ अधिकारी या मालिक बन सकता हो। इस दृष्टान्त से यह बात अच्छी तरह उजागर होती है कि जी. डी. बाबू औद्योगिक विकास के अभियान में श्रम के महत्त्व को अनदेखा नहीं करते थे और न ही जनहितकारी पक्ष की अवहेलना उनकी सारी दूरदर्शिता व्यावहारिकता से भरी पड़ी थी। उनके हर व्यावहारिक कदम में नया आर्थिक क्षितिज दिखलाई पड़ता था, ऐसा क्षितिज जो भारतवर्ष के आकाश का था, जिसमें भारत की प्राचीनता और आधुनिकता टकराव के मोर्चे छोड़कर, मिलने और सिमटने के मार्ग ढूंढ चुकी थी।

जी. डी. बाबू जन्मजात आशावादी थे और यह सन्तोष का विषय है कि अपनी जीवन सन्ध्या में वह भारत के भविष्य के प्रति आश्वस्त थे। उनके सपनों का समृद्ध भारत भले ही पूर्णतः साकार नहीं हो सका हो, इस बात को नहीं नकारा जा सकता कि आज देश निश्चय ही आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर है। एक बड़ी सीमा तक इसे जी. डी. बाबू की दूरदृष्टि और कर्मठता की उपलब्धि समझा जा सकता है।

राष्ट्रीय विकास के लिए एकजुट हो जायें

अभी पिछले साल उन्होंने मुझे जो बताया उसे उनके राष्ट्रप्रेमी आर्थिक दर्शन के प्रमाण और प्रेरक आत्म-विश्वास के उपहारस्वरूप ग्रहण किया जाना चाहिए। जी. डी. बाबू ने कहा था :

''यह सोचना गलत है कि भारत विकसित नहीं हुआ। ऐसा सोचना 40 वर्ष पहले भले ही सही रहा हो,,आज सच नहीं। भारत ने बहुत विकास किया है, मैं अमरीकियों और यूरोपवासियों से कहता रहता हूं कि वे भारत की उपेक्षा नहीं कर

सकते। एशिया में आज भी संभवतः जापान को छोड़ हम सब औरों से अधिक विकसित हैं। यदि जापानी अधिक समृद्ध और विकसित हैं तो इसलिए नहीं कि वे हमसे अधिक बुद्धिमान हैं या उनके पास हमसे अधिक उद्योग-धन्धे, कारीगर हैं, पर सिर्फ इसलिए कि वे राष्ट्रीय विकास के लिए एकजुट होकर काम करते हैं। दुर्भाग्यवश इस देश में वैसी एकता नहीं दिखाई देती। यदि सरकार और औद्योगिकों के बीच सहकार हो तो हम जापान को कहीं पीछे छोड़ सकते हैं।

हमारा प्रमुख प्रयत्न जनता के कष्ट निवारण का होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब शिक्षा का प्रसार हो, खपत के लिए उत्पादन बढ़ाया जाये। अधिक उत्पादन का अर्थ विलासिता नहीं बल्कि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं– खाना, कपड़ा, मकान की पूर्ति है। जनसाधारण की यन्त्रणा/असुविधा को दूर करने का उत्तरदायित्व हर किसी का है। अपने लिए नहीं औरों के कल्याण के लिए अधिक श्रम करना, हमारी परम्परा यही सिखाती है। किसी का भी यह सोचना कि हमारी धार्मिकता हमारी औद्योगिक प्रगति में अवरोधक है, बिल्कुल सच नहीं है। धार्मिक होना हमारा एक विशेष गुण है। इसी ने हमें तीन चार हजार वर्षों से जीवित रखा है। हम एक अलग प्रकार का देश हैं, एक अलग किस्म के लोग हैं। हमे में अन्तर निरीक्षण की आदत है। हम सदैव अपनी आलोचना भी करते रहे हैं। यह कोई बुरी बात नहीं है। पर हम अपने महत्त्व को नहीं भूल सकते। हम एक शक्तिशाली देश हैं और सम्भवतः कुछ वर्षों के बाद हमारा देश संसार का सबसे बड़ा शक्तिशाली देश हो जाएगा। इस बात को अमरीका भी जानता है और मन ही मन मानने लगा है।"

उद्योग स्थापना 'मिनखां की माया है'

एक व्यक्ति को सही प्रशासक के रूप में नियुक्त करना और उसको पूरी जिम्मेदारी देना उनका पहला काम था। पहले काम को सबसे पहले करना आवश्यक माना जाता था। सही प्रशासक का पहला गुण स्वामि-श्रद्धा और स्वामि-सेवा, दूसरा गुण उसकी व्यक्तिगत ईमानदारी का ऊंचा स्तर तथा उसके आचरण की सच्चाई। तीसरा, उसका प्रतिभावान व कुशाग्र-बुद्धि वाला होना। इन गुणों वाला व्यक्ति अगर डिगरी शुदा होता तो अच्छा माना जाता किन्तु यदि वह डिगरी का अधूरा होते हुए भी समझ का पूरा होता तो भी प्रशासकीय दायित्व के लिए उपयुक्त माना जाता। ऐसे व्यक्ति का चयन करना अथवा ऐसी सम्भावनाओं वाले व्यक्तियों को तैयार करना अथवा उनमें छिपी हुई शक्तियों को उभरने का अवसर देना भी उनका एक मुख्य काम था। इन नियुक्तियों के लिए विज्ञापनों का सहारा कभी नहीं लिया जाता। एक विशेष बात यह थी कि अपने स्वयं के परिवार के या दूर-नजदीक के रिश्तेदारों का चयन ऐसे पदों के लिए शायद ही कभी किया जाता।

वह इन लोगों को एक प्रशासक के रूप में घड़ने और तराशने के मामले में अद्वितीय थे। अक्सर ऐसे व्यक्ति जाने-पहचाने किसी अच्छे खानदान से मिल जाते, अपने यहां काम करने वालों में से निकल आते अथवा शीर्षस्थ अधिकारी-वर्ग के पुत्र/पौत्र या उनके परिवार के सदस्य इस लायक समझ लिये जाते। यदि बिड़ला बन्धुओं के उच्च प्रशासकों की सूची पर नजर घुमाई जाये तो उसमें इन्हीं तीन श्रेणियों के लोगों का बोलबाला मिलेगा। सामान्यतया, ऐसे लोगों

की प्रकृति, पृष्ठभूमि और संस्कार में तीनों अपेक्षित गुणों का पर्याप्त प्रभाव रहता। यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि व्यक्ति की क्षमताएं और सम्भावनाएं परखने में जी. डी. बाबू को अचूक दृष्टि प्राप्त थी। यही नहीं, इस विषय में वह हर प्रकार के राग-अनुराग से परे थे।

काचो मणिर्मणिः काचो येषां ते न्ये हि देहिनः।
सन्ति ते सुधियो येषा काचः काचो मणिर्मणिः।।

वे और लोग होते हैं जिन्हें कांच हीरे की तरह लगता है और हीरा कांच की तरह। बुद्धिमानों के लिए तो कांच कांच ही रहता है और हीरा, हीरा ही।

कई प्रकार के प्रशासकों और प्रबन्धकों का चयन जी. डी. बाबू ने किया। एक वह श्रेणी जिसमें देवीप्रसादजी खेतान, सीतारामजी खेमका, पारसनाथजी सिन्हा, पिलानी के शुकदेवजी पाण्डे आदि जो अपने समय के सुशिक्षित व्यक्तियों में से थे, एक यह श्रेणी जिसमें दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया, डेडराजजी मरदा, मुरलीधरजी डालमिया, ताराचन्दजी साबू, रामलालजी राजगढ़िया, रामप्रसादजी पोद्दार आदि हैं जिनको जी. डी. बाबू ने तराशा, तैयार किया और उदाहरण बना दिया। मूलचन्दजी बगड़िया और गंगाधरजी माखरिया की अपनी एक श्रेणी थी जो पढ़ाई-लिखाई से दूर, पर काम की विश्वसनीयता और स्वामिभक्ति के स्तर पर कलाई के कंगन सी थी। इधर एक श्रेणी यह भी है युवा प्रबन्धकों की जो शिक्षित प्रशिक्षित और पुष्ट धातु में है। इनमें आसकरण अग्रवाल, इन्दु पारेख, विश्वनाथ पूरनमलका, नन्दलाल हमीरवासिया, रामनिवास साबू, बी. एन. सक्सेना, रामावतार माखरिया आदि को गिनाया जा सकता है। जी. डी. बाबू की इस चमत्कारी चयन-पद्धति का मर्म और महत्व कुछ चुने हुए प्रसंगों के विवरण से अधिक स्पष्ट हो जाता है।

दुर्गाप्रसादजी का परिवार पिलानी का ही था और बिड़ला परिवार तथा मण्डेलिया परिवार में घरोपा सा था। दुर्गाप्रसादजी के पिता गौरीदत्तजी 'रांची जमींदारी' में और ताऊ के बेटे ज्वालाप्रसादजी बिड़ला जूट तथा बिरला काटन मिल्स में पहले से ही जी. डी. बाबू के यहां काम कर रहे थे। दुर्गाप्रसादजी में कोई विशेष योग्यता या अनुभव नहीं था लेकिन जी. डी. बाबू ने उन्हें भरोसे का आदमी समझा इसलिए काम करने का मौका दिया। दुर्गाप्रसादजी ने 1921 में जूट निर्यात विभाग में काम शुरू किया और वहां से बिड़ला जूट मिल में गये और फिर

केशोराम मिल में रखे गये। दस वर्षों तक उनका जी. डी. बाबू से कोई सीधा सम्पर्क नहीं रहा मगर वह बराबर उनकी निगाह में रहे और फिर मई 1931 में एक दिन अचानक सुबह-सुबह जी. डी. बाबू ने फोन किया, "दुर्गा, अब मैं इंडस्ट्रीज में ज्यादा इन्टरेस्ट लूंगा। पहले ग्वालियर में काम करूंगा—जियाजी राव काटन मिल्स में। तुम ग्वालियर चले जाओ, जितनी जल्दी हो सके।" दुर्गाप्रसादजी अगले ही दिन ग्वालियर के लिए रवाना हो गये। वहां उन्हें आदेश हुआ कि मिल का काम सँभाल लो। दुर्गाप्रसादजी के शब्दों में, "मेरी कोई विशेष योग्यता थी नहीं, लेकिन जब बाबू ने मुझे इस काम के योग्य समझा तो मेरे लिये यह जरूरी हुआ कि मैं हर तरह से अपने को इस काम के योग्य बनाऊं।"

मुरलीधरजी की नियुक्ति की कहानी भी कोई कम दिलचस्प नहीं है। उन्हें उनके मामा ज्वालाप्रसादजी मण्डेलिया 1924 में जी. डी. बाबू के पास ले गये थे। वह उम्र में बहुत छोटे थे इसलिए उन्हें नियुक्त करने में पहले जी. डी. बाबू को हिचक हुई और उन्होंने कहा कि अभी तो इसके खेलने और पढ़ने के दिन हैं अभी से क्यों धंधे में लगवा रहे हो। बहरहाल 12 वर्षीय किशोर मुरलीधर बिड़ला जूट मिल के स्टोर में रख लिये गये, जहां उन्होंने स्वेच्छा से तीन महीने तक कुली का भी काम किया। उनकी लगन से उच्चाधिकारी प्रभावित हुए और उन्होंने उन्हें 1927 में स्टोरकीपर बना दिया। इस पर जी. डी. बाबू से शिकायत की गयी कि एक बहुत छोटे से लड़के को स्टोरकीपर बना दिया है और उसने सारा हिसाब गड़बड़ कर दिया है। जी. डी. बाबू ने जांच करवायी जिसमें यह साबित हुआ कि जो भी गड़बड़ी है मुरलीधर की नियुक्ति से पहले की है, मुरलीधर ने अपना काम अच्छी तरह से किया है। जी. डी. बाबू ने तरुण मुरलीधर को बुला भेजा और बहुत रुखाई से पेश आने का नाटक करते हुए बोले कि स्टोर का काम तो बहुत मामूली सा है उसे तो कोई भी कर सकता है। "कोई स्टोरकीपर न हो तो भी काम चल सकता है।" मुरलीधरजी ने समझा कि उन्हें बर्खास्त किया जा रहा है और वह कमरे से बाहर चले गये। वह नीचे सड़क पर पहुंचे थे कि चपरासी दौड़ता हुआ आया कि बाबू बुला रहे हैं। अब जी. डी. बाबू ने उनसे कहा कि तुमने स्टोर के सुधार के विषय में अधिकारियों को जो पत्र भेजे थे उनकी एक-एक नकल मुझे फौरन भिजवाओ।

इन पत्रों में से एक में उत्साही मुरलीधर ने दावा किया था कि अगर मुझे पैसा और सुविधा दी जाये तो मैं स्टोर को चौरंगी स्थित 'व्हाइटवे लडलो' डिपार्टमेण्टल स्टोर जैसा चमका दूंगा। जी. डी. बाबू ने कहा कि अगर यह दावा तुम्हारे पागलपन का नहीं अक्लमंदी का नमूना है तो यह बताओ कि जूट मिल के स्टोर को 'व्हाइटवे लडलो' बनाने के लिये तुम्हें क्या-क्या चाहिए? उसमें कितना समय लगेगा? और

यह कौन नक्की करेगा कि 'व्हाइटवे लडलो' बना कि नहीं? मुरलीधर ने उत्तर दिया, "इसमें करीब एक लाख रुपया खर्चा होगा और तीन वर्ष का समय लगेगा। और, यह निर्णय आप देंगे कि व्हाइटवे लडलो बना कि नहीं।" जी. डी. बाबू ने एक लाख रुपए की मंजूरी दे दी हालांकि उस जमाने में उच्च-प्रबन्धकों तक को 10 हजार के खर्चे की मंजूरी लेना कोई आसान बात मालूम नहीं होती थी।

अभी तीन साल पूरे होने में 10 दिन बाकी थे कि मुरलीधर ने जी. डी. बाबू को जूट मिल के गोदामों का निरीक्षण करने के लिये आमन्त्रित किया। गोदामों की सफाई और स्टोर की व्यवस्था देखकर जी. डी. बाबू बहुत प्रसन्न हुए और वहीं कह गये, "मुरली, मेरे पास अब जो भी 'अर्लिऐस्ट' मौका आयेगा मैं तुम्हें कोई बड़ा काम सौंपूंगा।" 1935 में बिड़ला काटन मिल्स दिल्ली के जनरल मैनेजर ज्वालाप्रसादजी मण्डेलिया का जब देहान्त हुआ तब जी. डी. बाबू का लन्दन से तार आया कि मुरलीधर डालमिया को यह जगह दे दो। सन्देश स्पष्ट था किन्तु लोगों को सहज यह विश्वास नहीं हो सका कि एक युवा स्टोरकीपर को पूरी मिल का मैनेजर नियुक्त करने को कहा जा रहा है। मुरलीधरजी केजरीवाल जूट मिल के वरिष्ठ अधिकारी थे इसलिए यह समझा गया कि शायद बाबू गलती से केजरीवाल की जगह डालमिया लिखवा गये हैं। यहां से उन्हें तार भेजा गया 'मुरलीधर डालमिया या केजरीवाल'। वहां से तार आया 'डालमिया रिपीट डालमिया नेफ्यू आफ ज्वालाप्रसाद'।

बिड़ला मिल्स दिल्ली के सेक्रेटरी मूलचन्दजी बगड़िया विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे किन्तु बाबू द्वारा सौंपी गयी जिम्मेदारी को उन्होंने हमेशा बखूबी निभाया। बिड़ला प्रतिष्ठान में आज भी वह महारथी सेल्समैन के रूप में याद किये जाते हैं। माल को खपाने और बाजार में भेजे माल की कीमत उगाहने में उनकी टक्कर कोई नहीं ले सकता था। इसी तरह गंगाधरजी माखरिया बिड़ला ब्रदर्स के कर्तमकर्ता थे, जिसे अंग्रेजी में 'पर प्रो' कहते हैं। उन्हें मालिकों के स्थान पर हर कागज पर आवश्यकतानुसार हस्ताक्षर करने के लिए अधिकृत किया गया था। सिर्फ इस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिये उन्होंने बड़े अभ्यास से अंग्रेजी में हस्ताक्षर करना सीखा था। जहां तक गंगाधरजी के अधिकार क्षेत्र का प्रश्न है वह खर्चे के मामले में यात्रा-व्यय के वाउचर आदि के सिलसिले में 'बाबू' लोगों तक को टोक देते थे।

इसी तरह सन् 1933 में रामलालजी राजगढ़िया जी. डी. बाबू के सम्पर्क में आये थे। किशोर रामलाल पिलानी से फर्स्ट क्लास मैट्रिक पास कर दिल्ली पहुंचे थे। उन्हें पहले टाइम-आफिस में और फिर अकाउंट विभाग में काम पर लगा दिया

गया। रामलालजी के उत्साह, योग्यता और कर्मठता को देखकर 1936 में उनको स्टोरकीपर वना दिया गया और फरवरी-मार्च 1937 में अल्पकाल के लिए उन्हें ग्वालियर मिल की मैनेजरी भी सौंप दी गयी। 1945 में जब दुर्गाप्रसादजी जी. ड़ी. वावू के साथ विलायत गये तो कुछ समय के लिए रामलालजी को सतलज काटन, जियाजी राव, ग्वालियर इंडस्ट्रियल बैंक की देखरेख का, प्रबन्ध का कार्यकारी उत्तरदायित्व भी सौंप दिया गया। इसके वाद तो उन्हें 'टेक्समेको' का प्रमुख प्रवन्धक वनाया गया।

इन नियुक्तियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि जी. डी. बाबू की नजर में किसी भी व्यक्ति की एक खास योग्यता यह भी थी कि उससे पारिवारिक स्तर का परिचय हो। विड़ला जूट मिल्स के प्रबन्धक के रूप में ज्वालाप्रसादजी मण्डेलिया इसलिए नियुक्त किये गये थे कि पिलानी में विड़ला परिवार से मण्डेलिया परिवार का काफी सम्वन्ध था। इसी प्रकार मालवीयजी को जी. डी. वावू अपने सांस्कृतिक परिवार का अग्रज मानते थे और उन्हीं के संकेत पर पिलानी के सर्वांगीण प्रशासक के रूप में सुखदेवजी पाण्डे की नियुक्ति की थी। हां पारिवारिक स्तर के परिचय का यह आग्रह नासमझों की दृष्टि में भाई-भतीजावाद, जातिवाद अथवा क्षेत्रीयता का नमूना ठहर सकता है। भाई-भतीजावाद तो वह निश्चय ही नहीं था क्योंकि अपने उद्योगों के प्रबन्ध प्रशासन में जी. डी. वावू ने कभी अपने किसी दूर अथवा पास के रिश्तेदार को स्थान नहीं दिया। रही बात जातिवाद और क्षेत्रीयता की—इसका मूल्यांकन भी बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए।

पूंजीवाद का जो ऐतिहासिक विकास हुआ है उसका एक खास पूर्वी (ओरियंटल) नमूना भी है जिसका अच्छा उदाहरण जापान पेश करता है। इस व्यवस्था में पूंजीवादी-स्वामी और उसके प्रशासक-सेवकों के सम्वन्ध में 'पारिवारिकता' को प्रमुखता दी जाती है। एक तरह से इसे 'पितृ सत्तात्मक' पूंजीवाद कहा जा सकता है। विड़लाजी का व्यवहार भी इसी को प्रतिविम्वित करता है। वैसे भी, एक वोली-भाषा का प्रयोग उद्यम के विशेष दौर में—जिस तरह के परिवेश में उद्योगों की स्थापना के लिए विड़लाजी सक्रिय थे—गोपनीयता बनाये रखने, काम करने वालों में घनिष्ठता वढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। शायद यह भी जोड़ने की जरूरत है कि हर देशकाल में समाज विशेष में एक ऐसा समूह होता है जिसमें व्यावसायिक-व्यापारिक क्रिया-कलाप में विशेष रुचि और अनुभवजन्य योग्यता मिलती है। अक्सर इस विरादरी में पारम्परिक प्रवन्ध-कौशल पीढ़ी दर पीढ़ी अनौपचारिक रूप से विरासत में हस्तान्तरित होता

है। इसी सन्दर्भ में यह बात समझी जा सकती है कि क्यों अक्सर बिड़लाजी को अपनी जरूरत के आदमी, सुयोग्य पात्र, मारवाड़ी समाज में मिल जाते थे।

यदि कोई योग्य पात्र परिचित लोगों में जाति-बिरादरी के क्षेत्र के बाहर भी नजर आता तो उसे उचित अवसर देने और भारी जिम्मेदारी सौंपने में जी. डी. बाबू को कभी कोई असुविधा नहीं हुई। इसका सबसे अच्छा उदाहरण श्री सी. जे. लालकाका के प्रसंग में मिलता है। लालकाकाजी पारसी हैं और प्रशिक्षित इंजीनियर। बिड़लाओं की भारत एअरवेज और सेन्चुरी रेयन के जनरल मैनेजर रहे। जब 1961-62 में स्विट्जरलैण्ड मे बिड़ला-ऐजी. की स्थापना की बात चली तब लालकाकाजी की नियुक्ति महा-प्रबन्धक के रूप में करने में बिड़लाजी को कोई हिचक नहीं हुई। प्रसंगवश मि. लालकाका पारसी होने पर भी पूरी तरह राजस्थानी रंग में रँग चुके हैं और धड़ल्ले से मारवाड़ी बोलते हैं।

जी. डी. बाबू सही प्रशासक को नियुक्त करते ही उसकी सारी जिम्मेदारी उसे समझा देते और सौंप देते। वह मालिक की हैसियत से मालिक की जगह पर स्वयं तो रहते ही थे पर उस उद्योग को निर्दिष्ट समय में, अनुमानित लागत पर, निर्धारित उत्पादन क्षमता वाले कारखाने के रूप में बैठाने और चला देने के प्रसंग में उस नियुक्त प्रशासक को मालिक जितना ही अधिकार दे देते थे। नियुक्त प्रशासक स्वयं अपने को मालिक जैसा समझने लगता था और अधीनस्थ कर्मचारी उसे मालिक जैसा आदर-सम्मांन देते थे। व्यावसायिक व्यवहार में भी जी. डी. बाबू ने अपने प्रबन्धकों को मालिक जैसा स्थान दिया। अगर कोई भी अधीनस्थ कर्मचारी सीधे बात करना चाहता तो वह उससे कहते कि प्रबन्धक से बात करो। जी. डी. बाबू को अपनी ओर से नियुक्त एक विश्वस्त प्रबन्धक की ही दरकार होती और उसी से वह सीधा तथा संक्षिप्त सम्पर्क रखना चाहते। अनेकों से उलझने की पद्धति में उनकी आस्था नहीं थी और न ही वह बेकार के ब्यौरे में जाना चाहते थे। प्रबन्धक के अधीन काम करने वाले उप-प्रबन्धकों तथा विभागाध्यक्षों से दैनिक रिपोर्ट की जांच-पड़ताल करते हुए शुरू के दिनों में वह अवश्य सीधी पूछताछ करते थे।

विश्वस्त प्रबन्धक पर जी. डी. बाबू की ओर से ऐसा कोई बन्धन नहीं था कि वह भी उनकी ही प्रबन्ध शैली अपनाये। अगर उसे जिम्मेदारियां बांटने में विश्वास न हो और वह हर पचड़े में खुद पड़ना चाहता हो तो खुशी से ऐसा करे। प्रबन्धक के लिये तो जी. डी. बाबू की अनिवार्य शर्त यही थी कि जैसे हो अपनी जिम्मेदारी पूरी करे, अपना काम अंजाम दे । यदि सौंपा हुआ काम अंजाम देन में

वह विफल रहता तो उसकी कोई भी सफाई उसकी सत्ता और प्रतिष्ठा का अवमूल्यन होने से बचा नहीं सकती। अगर-मगर वाली बातें जी. डी. बाबू को पसन्द नहीं थीं। प्रबन्धक से उनका यह कहना था कि तुम्हें सारे अधिकार दे दिये गये थे और काम समझा दिया गया था इसके बाद तो काम न होने की कोई गुंजाइश बचती नहीं थी। यही वजह है कि जी. डी. बाबू के संस्थानों में प्रबन्धकों के लिये सही समय में, सही लागत पर, सही उत्पादन-क्षमता अर्जित करना सदा जीवन-मरण का प्रश्न बना रहता। प्रबन्धक भली-भाँन्ति जानता कि वह सर्वाधिकार सम्पन्न है किन्तु यह अधिकार तभी तक है जब तक कि उनका सदुपयोग करके वह जी. डी. बाबू द्वारा निर्धारित लक्ष्य पूरा करके उनका प्रयोग कर रहा है।

जी. डी. बाबू की इसी पद्धति का प्रताप था कि उद्योग स्थापना के क्षेत्र में बिड़ला बन्धुओं ने लागत की किफायत और उत्पादन क्षमता की बढ़ोत्तरी के बारे में अनुपम कीर्तिमान स्थापित किये और अपने प्रतियोगियों को चकित-चमत्कृत कर दिया। ग्वालियर रेयन उद्योग समूह के अनेक कारखानों में उनके विश्वस्त प्रशासक दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया ने इस तरह के कई काम किये। देश के अन्य औद्योगिक घरानों के कारखानों से तुलना की जाये तो कारखानों की स्थापना में कहीं कम समय और धन लगा तथा उत्पादन क्षमता कहीं अधिक रही। यही बात अल्युमिनियम के क्षेत्र में भारत के दो प्रमुख कारखानों 'इंडाल' और 'हिंडाल्को' की तुलना करने से सिद्ध होती है। बिड़लाओं के लगाये हुए हिंडाल्को में ताराचंदजी साबू ने उद्योग स्थापना के समय इसी प्रकार का चमत्कार दिखाया। 'हिंडाल्को', कनाडावासियों के लगाये हुए 'इन्डाल' से आर्थिक लागत और उत्पादन क्षमता के नाते कई प्रकार से कई गुना बेहतर सिद्ध हुआ।

भारत सरकार के मन्त्रियों, सचिवों और आर्थिक-विशेषज्ञों से अपने पत्र-व्यवहार और बातचीत में, जी. डी. बाबू ने कम लागत पर बढ़िया कारखाने लगाने के सवाल की कई बार चर्चा की। उन्होंने बताया कि बात केवल कुल लागत के कम होने की ही नहीं है। विदेशी-मुद्रा की लागत खुद अपने आप में और कुल लागत के अनुपात में सदा कम से कम रहनी चाहिए। सारे आंकड़े और ब्यौरे प्रस्तुत करते हुए जी. डी. बाबू ने सिद्ध किया कि बिड़ला प्रतिष्ठानों में स्थापना के समय ऐसा आर्थिक कौशल बरता गया है। अगर उद्योग की स्थापना में अनावश्यक व्यय न किया जाये और स्थापना के बाद उसका संचालन किफायतसारी से किया जाये तो सफलता अवश्यम्भावी होगी।

जी. डी. वाबू का उद्योग की स्थापना के समय दूसरा मुख्य उद्देश्य यह होता था कि मशीनें अच्छी से अच्छी खरीदी जायें और पर्याप्त संख्या में। मशीनें सही-सही मेल की हों और कोई भी आवश्यक उपकरण खरीदने से रह न जाये। कई अनाड़ी उद्योगपति अत्याधुनिक उपकरणों से अपने कारखानों को लैस करने का उत्साह तो दिखाते हैं मगर इस बात का ध्यान नहीं रख पाते कि सभी आवश्यक उपकरण खरीदे गये हैं कि नहीं। समय बीत जाने पर जब ऐसे किसी उपकरण के अभाव की जानकारी मिलती है तब तक बजट खत्म हो चुका होता है और इन उपकरणों के विना ही काम चलाने की बाध्यता हाथ लगती है। उत्पादन में इस वाध्यता के कारण तमाम तरह के झंझट पेश आते हैं और उनमें से कुछ तो स्थायी रूप से लगे ही रहते हैं।

जी. डी. वाबू के उद्योगों में न केवल तमाम आवश्यक उपकरण स्थापना के समय ही खरीद लिये जाते थे बल्कि अगर आगे चल कर किसी सर्वथा अप्रत्याशित 'बेलेंसिंग इक्विपमेंट' की जरूरत होती तो वह इसे तत्काल खरीदवा देते। कुछ वर्ष पूर्व रेनुकूट के हिंडालको कारखाने के लिए सहसा जब बिजली का संकट पैदा हुआ तब वहां का प्रवन्धक वर्ग किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो गया। इतने बड़े उद्योग के लिए अलग पावर हाउस का निर्माण करने की बात सोचना असम्भव था क्योंकि उसकी लागत 20 करोड़ रुपया आ रही थी जबकि सारा कारखाना ही 14 करोड़ रुपये की लागत से तैयार हुआ था। जब मामला जी. डी. वाबू के सामने पेश हुआ तव अन्ततोगत्वा उन्होंने 135 मेगावाट के पावर हाउस के लिए 20 करोड़ रुपया मंजूर कर दिया। यह नमूना था उनकी निर्णय-शक्ति का। ऐसे मामलों में वह बड़े साहसी, सजग और दूरदर्शी व्यक्ति थे। येनकेन प्रकारेण काम चलाना उन्हें सुहाता नहीं था।

उद्योग स्थापना के समय जी. डी. वाबू निर्धारित मशीन-सूची पर नजर डालते समय वरावर यह ध्यान रखते थे कि इनमें से कौन सी मशीनें अपने ही लोग यहां पर बना सकते हैं। जो मशीनें यहीं बन सकती हों उन्हें बाहर से मंगाने के पक्ष में वह नहीं थे। इस दृष्टि का ही यह परिणाम था कि विदेशी-मुद्रा की लागत कम हो जाती थी और कई मशीनों और उनके पुर्जों को बनाने की युक्ति व अनुभव अपने लोगों को मिलता रहता था। जब श्री टी. टी. कृष्णमाचारी भारत सरकार के वाणिज्य और उद्योग मन्त्री थे तब 1952-54 के दौरान जी. डी. वाबू ने इस मामले में अपना दृष्टिकोण कई बार कई प्रकार से उनके सामने रखा। उद्योग की स्थापना के सम्बन्ध में जी. डी. वाबू की विचारधारा से टी. टी. कृष्णमाचारी वहुत प्रभावित हुए। अपने 15 सितम्बर, 1954 के पत्र में उन्होंने जी. डी. वाबू को लिखा है, "आपके सुझाव वहुत संगत, सटीक और विचारोत्तेजक हैं।"

कारखानों के निर्माण के दौरान भी जी. डी. बाबू नक्शों और योजनाओं में निहित विदेशी खर्चेबाजी को देसी किफायत की ओढ़नी पहना देने में विश्वास रखते थे। उनके इसी आग्रह के कारण हिंडाल्को कारखाना बैठाते समय अनुमानित लागत को लेकर 1957-58 में एक अच्छा खासा विवाद उत्पन्न हो गया। अमरीकी उद्योगपति श्री काइजर इस हिंडाल्को में विदेशी साझेदार थे और उनकी ओर से ही सारी तकनीकी जानकारी और लागत के अनुमान आये थे। उन्होंने 20 करोड़ रुपये के खर्च का अनुमान भेजा था लेकिन इधर जी. डी. बाबू द्वारा नियुक्त प्रशासक ताराचन्दजी साबू इस अनुमान की जांच करते हुए इस नतीजे पर पहुंचे कि 6 करोड़ रुपया बचा कर कारखाना 14 करोड़ रुपये में ही लगाया जा सकेगा। इस मीनमेख से रुष्ट होकर श्री काइजर भारतवर्ष आये और जी. डी. बाबू से हिंडाल्को का समझौता रद्द करने को प्रस्तुत हो उठे। 13-14 करोड़ रुपये की नयी अनुमानित लागत को दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया का भी समर्थन प्राप्त था। इसलिए जी. डी. बाबू उस पर दृढ़ रहे। उन्होंने श्री काइजर से कहा कि लागत का अनुमान तो अब यही रहेगा। व्यर्थ में 6 करोड़ रुपये अधिक व्यय करना बुद्धिमानी की बात नहीं है। किन्तु जहां तक प्रावधान का प्रश्न है इस मद में व्यवस्था 20 करोड़ की ही की जाएगी। यदि मेरा यह प्रस्ताव भी आपको नहीं जंचता हो तो आप समझौता भंग करने को स्वतन्त्र हैं। यह सुनकर श्री काइजर शान्त और आश्वस्त हुए। प्रसंगवश, कारखाने की लागत 14 करोड़ ही बैठी, 20 करोड़ नहीं।

उद्योग की स्थापना के सन्दर्भ में जी. डी. बाबू के लिये तीसरी मुख्य बात थी आर्थिक नाकेबन्दी और किलेबन्दी का चौकस प्रबन्ध। वह अधिकतम सुरक्षित राशि की व्यवस्था करने पर जोर देते थे और घोर आर्थिक संकट के दौर में भी सुरक्षित राशि को सुरक्षित ही रखना बखूबी जानते थे। अलग रखी हुई इस निधि की ताकत से ही वह आर्थिक विशेषज्ञों को चक्कर में डाल देते थे। जब उनकी कम्पनी ग्वालियर रेयन ने बैंकों में अपार धन राशि होते हुए भी रिजर्व बैंक को तीन-चार करोड़ के क्रेडिट के लिए अर्जी डाली तब रिजर्व बैंक के तत्कालीन डिप्टी गवर्नर आर. के. हजारी ने मंजूरी नहीं दी। दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया उनसे मिलने गये तब वे बोले कि जब आपके पास इतना पैसा जमा है तब आपको क्रेडिट लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। दुर्गाप्रसादजी ने उनको बताया कि हम ने जो पैसा जमा कर रखा है आपके पास, उस पर जो ब्याज आप हमको देंगे उससे कहीं अधिक ब्याज हम आपको आपसे उधार लिये हुए पैसे पर देंगे। फिर आपको क्रेडिट देते हुए क्या आपत्ति है ? श्री हजारी ने कहा कि इसीलिए तो मैं जानना चाहता हूं कि आप ऐसी बेवकूफी क्यों कर रहे हैं, या कि इसके पीछे भी बिड़लाओं की कोई चाल है।

इस पर दुर्गाप्रसादजी ने जी. डी. बाबू की नीति समझाई, "हमारा अनुभव यह रहा है कि नया कारखाना लगाने की योजनाएं अक्सर धन की कमी के कारण अधूरी रह जाती हैं, फेल हो जाती हैं, धन की कमी या तो इसलिए होती है कि लोग अनुमान से ज्यादा खर्च कर देते हैं, या फिर इसलिए कि ऐन मौके पर धन का स्रोत सूख जाता है। अगर हम आपसे कर्ज नहीं लें तो दूसरी बात का खतरा उठने की गुंजाइश है। हमारा जो जमा है आज के प्रोफिट पर जमा है। कल कोई लम्बी स्ट्राइक हो जाए या किसी और वजह से उत्पादन रुक जाए तो हमारा तो जमा पैसा खत्म हो जाएगा और उधर नये कारखाने के निर्माण का काम अटक जाएगा। उस समय हम लोन लेने आयेंगे तो आप अर्जी पास करते-करते साल-छः महीने लगायेंगे। हमारा जो पैसा नये कारखाने में लग चुका होगा वह बेकार हो जायेगा। अतएव आपसे पहले ही लोन ले रखना एक तरह से बीमा कर देने वाली बात हो जाएगी कि हमारा काम रुकेगा नहीं। और आपको हमें लोन देते हुए क्या आपत्ति हो सकती है क्योंकि हमारा तो इतना पैसा यहां जमा है ही। इस तरह हम एक साथ अपने को पूरी सुरक्षा दे रहे हैं और आपको भी।" श्री हजारी ने लोन एकदम पास कर दिया और बोले, "यह तो बिड़लाओं की बड़ी दिलचस्प बात है, यह तो आपने पहले बतायी ही नहीं।"

वित्त - प्रबन्ध के मामले में वास्तव में उनका चिन्तन ऐसा था जो बैंक वालों को रास आता और जिसे दुस्साहसी उद्यमी बेकार का ठहराते। अधिकतम सुरक्षित रकम सदा हाथ में रखने और घाटे की वित्त - व्यवस्था से सदा परहेज बरतने के मामले में वह नितान्त पुरातनवादी थे। बल्कि कभी - कभी तो उनकी रीति-नीति नयी पीढ़ी की दृष्टि में कायरतापूर्ण ठहरती थी। इस विषय में अपने समस्त आलोचकों से जी. डी. बाबू का कहना था, "आसमान में छाये बादल देखकर घर के घड़े फोड़ने वाले बुद्धिमान नहीं कहलाते। बाजार में जब भी रकम की भयंकर तंगी आयेगी तो केवल हमारे लिये ही नहीं दूसरों के लिये भी आयेगी और हम से ज्यादा ही आयेगी। उसे भरने के लिये हमें कई नये घाटे उठाने पड़ेंगे। उस दुष्चक्र का कोई अंत न होगा। जो भी रकम की तंगी के दौर में ऐसे घाटे भोगे बिना काम चला लेगा वही बाजी मार लेगा और व्यापार में सबसे आगे निकलेगा। रिजर्व रकम तो सदा ही सहाय होती है। वह पास में बनी रहे तो दुगना-चौगुना लाभ दिलाती है। अगर उससे लाभ न मिले तो या तो वह रकम रिजर्व रकम नहीं है या फिर उसे रखने वाला जानकार नहीं, अनाड़ी है।"

रिजर्व रकम के मामले में उनका यह आग्रह प्रशासकों-प्रबन्धकों पर एक भारी जिम्मेदारी डाले रहा। अनेक बार उन्होंने अपने आलोचकों के सामने यह

सिद्ध किया कि जिसे वे मारवाड़ी व्यवसायियों की दकियानूसी समझ रहे हैं उसी तथाकथित आधुनिक चतुराई से वे सफल और सार्थक हैं।

जी. डी. बाबू ने जितनी चिंता सही प्रबन्धक की नियुक्ति की की उतनी और किसी बात की नहीं। उनके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने औद्योगिक सेनापति बहुत सूझबूझ से चुने और सेना खड़ी करने का काम उन पर ही पूरी तरह छोड़ दिया। सेनापति के पद के लिए ऐसे भरोसे का आदमी चुनते जो एक बार उनकी बात समझ लेने पर बाकी सारा काम उनकी अपेक्षाओं के अनुसार खुद करता चला जाए। उन्होंने कभी बाहर से रेडीमेड गोया सीखे-सिखाये प्रबन्धक नहीं लिये। उन्होंने तो बिल्कुल नये लोगों को अपनी आवश्यकतानुसार कतर-ब्योंत कर, अंग्रेजी में जिसे कहते हैं "टेलर मेड टू रिक्वायरमेंट" प्रबन्धक का पद दिया। उत्पादन, वित्त-प्रबन्ध, फैक्टरी-संचालन और श्रमिक-कल्याण के एक-एक पक्ष के विषय में उसे अपनी मन्त्र-दीक्षा दी और फिर सारे अधिकार सौंप कर काम पर लगा दिया। कौन व्यक्ति उनके काम का होगा, कौन नहीं इसका निर्णय करने में उन्हें अद्भुत अन्तरदृष्टि प्राप्त थी। कभी-कभी कहा करते थे, "मैं तो एक्स-रे कर लेता हूं, मुझे भीतर का आदमी दिख जाता है।" अपने चुने हुए विश्वस्त सेनापतियों का उन्होंने कितना आदर किया वह इसी से स्पष्ट है कि समय-समय पर अपने पुत्रों-पौत्रों को उन्होंने उनसे काम सीखने के लिए भेजा। चुने हुए प्रबन्धकों पर पूरा विश्वास होने का ही यह प्रताप था कि जी. डी. बाबू सार्वजनिक जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों में भी योगदान के लिए पर्याप्त समय निकाल पाते थे। यह भी उनकी एक भीतरी योजना थी जिसको उन्होंने अद्भुत ढंग से अंजाम दिया।

जी. डी. बाबू उद्यम के हर क्षेत्र में बहुत आगे तक की बातें सोचे रखते थे किन्तु हर कदम का औचित्य ब्यौरेवार अपने प्रबन्धकों को पहले से समझाना कतई आवश्यक नहीं मानते थे। लक्ष्य समझाया, निर्देश दिये और बस। कई बार प्रबन्धकों, प्रशासकों, यहां तक कि परिवार वालों को भी उनकी बात समझ में नहीं आती थी बल्कि गलत भी मालूम होती थी। किन्तु इस तरह के प्रश्नों में जी. डी. बाबू विवाद-विश्वासी और परामर्श-सजग नहीं थे। आगे चलकर जब उनकी योजना के सही नतीजे सामने आते चले जाते तब परिवार वाले तथा प्रबन्धक स्वयं समझ लेते कि बाबू ने अमुक कदम इसलिए उठाया था।

यद्यपि जी. डी. बाबू उद्योग का एक-एक ब्यौरा आयोजन काल में ही निश्चित कर देते थे तथापि उद्योगों की सफलता का श्रेय अपने कर्मठ और

विश्वस्त प्रवन्धकों को दे डालने में उन्हें बहुत प्रसन्नता होती थी। कहा करते थे, "आ तो मिनखां की माया है।" यह तो मेरे आदमियों का किया हुआ चमत्कार है। ऐसे उदात्त थे जी. डी. बाबू अपने प्रवन्धकों के प्रति।

PAID-UP CAPITAL, RESERVES AND PRODUCTION OF ALL MANUFACTURING CONCE
OF MESSRS BIRLA BROTHERS LIMITED.
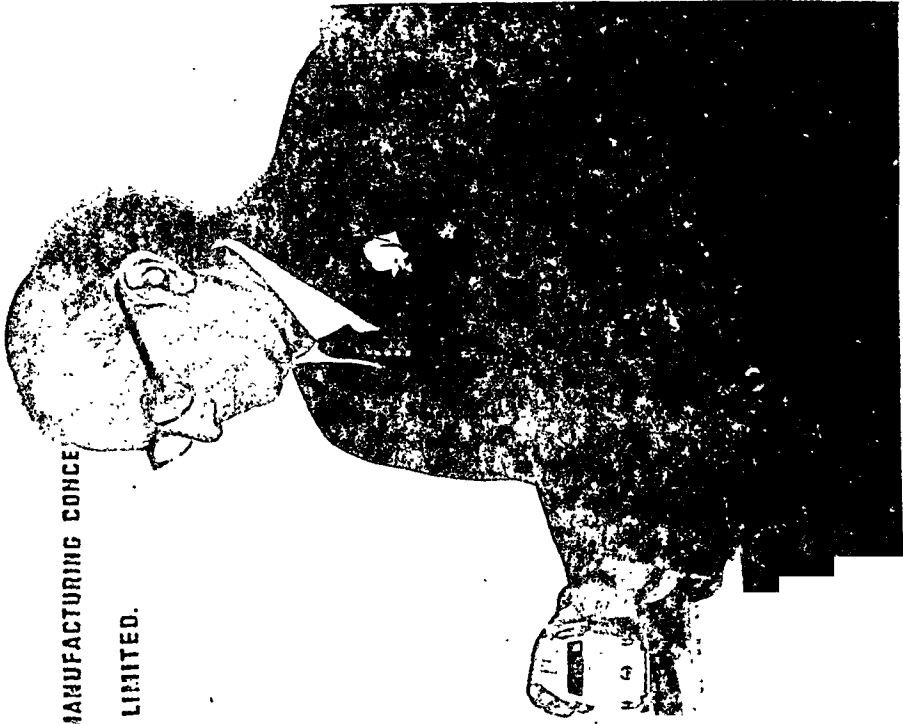
माटी से सोना बनाने का विज्ञान

मिलों और कारखानों की स्थापना और निर्माण मालिक के साधनों और सही निर्णय-शक्ति के प्रमाण होते हैं पर अच्छे उद्योग स्थापित कर देने मात्र से उन्नति का दौर नहीं उत्पन्न होता है । आज तो वह युग है जहां प्रमाण को भी प्रमाणित करना पड़ता है। यदि नदी निकल भी पड़े तो क्या हुआ, उसके निरन्तर बहते रह पाने में ही तो उसका अस्तित्व और उसकी उपयोगिता है। नदी के बहते रहने का श्रेय केवल उसके उद्गम-स्थान को ही नहीं होता। उसके बहने के मार्ग में मिलने वाले जलाशयों, जल-प्रपातों और जलधाराओं पर उसके निरन्तर बहते रहने की बहुत कुछ सम्भावना निर्भर करती है। यदि किसी को जलधारा बनकर बहने और सींचने का उत्तरदायित्व मिला हो तो जल में जल की आय के स्रोत बढ़ाना ही उस कार्यकलाप की जीवनी-शक्ति है। उद्योगों पर नदी की उपमा सटीक बैठती है। औद्योगिक-तन्त्र को चलाने की जी.डी. बाबू की सारी शैली और विचारधारा इसकी प्रतीक थी।

उद्योग चलाने के लिए उनके विज्ञान के दो प्रमुख पक्ष थे। निर्णयात्मक रूप से उनके मन में इनमें किस पक्ष का क्रम पहला था, यह कहना कठिन है। शायद वे भी आवश्यकतानुसार क्रम की प्राथमिकता को बदल लेते थे। खैर, उद्योग चलाने का उनका विज्ञान दो पांवों पर खड़ा रहता था। एक उत्पादन-व्यवस्था का और दूसरा आर्थिक-नियन्त्रण का। साफ बात यह है कि पहले का सफल अस्तित्व दूसरे की कुशल परिचालना पर निर्भर करता है। उत्पादन उनका मूल-मन्त्र था और आर्थिक-नियन्त्रण और ठोस परिणाम उसका मूल स्वर था जो नाद, लय और ताल

से अपने आप संवरता रहता था। आवश्यकतानुसार ये लय और ताल बदलते रहते थे, पर ध्वनि कुल मिलाकर सही आनी चाहिए थी। आम आदमी मन्त्र की ध्वनि पर मोहित होता है और फिर मन्त्र के अर्थ से प्रभावित होता है। ध्वनि सही करने के लिए सब कुछ करना पड़ता था, अन्यथा सारे मन्त्र और उसके संगीत को बदलने अथवा बन्द करने की नौबत पैदा हो सकती थी। इतना बड़ा वजन था आर्थिक-नियन्त्रण का, उत्पादन-व्यवस्था को जमाने, जंचाने और चलाने में। सारी औद्योगिक ध्वनि को 'पड़ता-प्रणाली' के साज से सही सुर में ढाला गया। औद्योगिक जगत जी.डी. बाबू द्वारा आविष्कृत इस 'माटी से सोना बनाने के विज्ञान' के लिए उनका चिर ऋणी रहेगा।

सारी उत्पादन-व्यवस्था को 'पड़ता-प्रणाली' से संचालित किया जाता रहा। यह प्रणाली बिल्कुल उनकी ईजाद की हुई थी, बिल्कुल स्वदेशी थी, खादी की भाँन्ति। इसे आवश्यकतानुसार औद्योगिक प्रतिष्ठान के शरीर पर मोटे कपड़े की चादर की तरह लपेटा जा सकता था, अथवा महीन मलमल के कसीदेदार परिधान की तरह धारण कराया जा सकता था। मारवाड़ी भाषा में पड़ता का सीधा अर्थ है क्या पड़ा' अर्थात् 'अपने क्या पड़ा'। इस बात को और साफ किया जाए तो कहना होगा कि उत्पादन की लागत क्या बैठी और इससे उत्पादक को लाभ क्या हुआ? 'पड़ता' शब्द को यदि उसकी समग्रता में समझा जाए तो उसमें वित्तीय नियोजन, उत्पादन का कार्यक्रम,उपकरणों का सदुपयोग, भण्डार का नियन्त्रण, कच्चे माल की खरीद, बाजार में माल का वितरण, बाजार से उगाई, सभी का समावेश किया गया। यह जोड़ने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि इनमें से किसी भी चरण प्रक्रिया में व्यवधान या काम में अड़चन का पूर्वानुमान भी 'पड़ता' में लगाया जाना जरूरी था। यों कहा जा सकता है कि पड़ता-प्रणाली तर्कसंगत पड़ताल के बाद उत्पादन की "क्या किया जाना चाहिए" वाली (शुड बी) व्यवस्था थी ।

पड़ता-प्रणाली इस बात को सम्भव बनाती थी कि उत्पादन-प्रणाली को दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक या और भी दीर्घकालीन कसौटी पर व्यावहारिक ढंग से कसा जा सके। इसी से लापरवाही, अकुशलता, गलतियों या दुर्घटनाओं के हानिप्रद परिणामों से बाबू द्वारा स्थापित उद्योग बच सके। बाबू यह जरूरी समझते थे कि शीर्षस्थ स्थानों पर नियुक्त सभी महा-प्रबन्धक, परिवार के सदस्यों समेत, पड़ता-प्रणाली में माहिर हों और इसे काम में लाएं। जैसा कहा जा चुका है कि पड़ता-प्रणाली एक 'आदर्श' प्रबन्धकों के सामने रखती है। इसे शतप्रतिशत पूरा कर सकने की बात तो अनुभवहीन नादान प्रबन्धक ही सोच सकता है। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता तो इसे प्रबन्धक के सामने रख उसकी क्षमता-योग्यता को कसौटी पर कसने की है। मैनेजर 'पड़ता' को जितना प्रतिशत

कारगर ढंग से लागू करने की हां भरता है उसी से मालिक यह बात भांप लेते हैं कि वह किस माटी का बना है, कितना जोखिम उठा सकने की दिलेरी उसमें है, कितना व्यावहारिक अनुभव उसे है। प्रबन्धक से बातचीत के बाद जो 'पड़ता' तैयार किया जाता था वह एक तरह से प्रबन्धक का वायदा था। कम से कम इतना उत्पादन, इस लाभ, लागत पर करने के लिए।

बड़ी असरदार और अजमाई हुई इस पद्धति में 'पड़ता' के साथ ही साथ 'प्रोग्राम' का भी उतना ही महत्त्व माना जाता था, बल्कि प्रारम्भ में तो इस पद्धति को 'पड़ता-प्रोग्राम' के नाम से ही पुकारा जाता था। 'प्रोग्राम' (यानी प्रति घण्टे, प्रति शिफ्ट अथवा प्रतिदिन किए जाने वाले काम की प्रति मजदूर और मशीन दर मशीन योजना) यह 'प्रोग्राम' शब्द टैक्सटाइल मिलों के सन्दर्भ में अधिक प्रचलित था, जो आगे चलकर, जब कई इंजीनियरिंग कैमीकल, रेयन, सीमेन्ट आदि-आदि उद्योग बिड़ला समूह में आ गए तो इसे 'टारजेट' शब्द से भी समझा और बरता जाने लगा। एक औद्योगिक इकाई का 'पड़ता' 200/300 पृष्ठों का भी और इसी हिसाब से उसकी दैनिक रिपोर्ट आधे पृष्ठ की और 20/30 पृष्ठों की भी देखी गई है, जिसे स्वयं प्रशासक और मालिक लोग नित्य जांचते रहे हैं। नित्य का घाटा-नफा नित्य मालूम हो जाना कम्प्यूटर से भी अधिक चमत्कारी विज्ञान रहा है। 'पड़ता' बनाना अनुभव और समझ का काम है। उसकी सफलता उसके अन्तर्गत निर्धारित की गई और बनायी जाने वाली दैनिक, साप्ताहिक और मासिक रिपोर्टों पर निर्भर करती है। सामान्यतया, 'पड़ता' पूरे वर्ष के लिए एक बार बनाया जाता है। दैनिक क्रिया-प्रक्रिया उसका आधार है। महीनों पर कभी बात नहीं छोड़ी जाती।

पड़ता में मुख्य रूप से दो स्तम्भ होते हैं। एक आय और दूसरा व्यय का। उत्पादन से प्राप्त होने वाला धन आय के स्तम्भ में लिया जाता है। एक प्रकार की उत्पादित वस्तु की एक निश्चित दर पकड़ ली जाती है। उसकी उत्पादन-क्षमता की उच्चतम नहीं तो सम्भावित अधिकतम राशि निर्धारित कर दी जाती है। बस, उतना दैनिक उत्पादन करना एक अनिवार्यता हो गयी। उत्पादन इससे कम हुआ तो टारजेट के अनुपात में घाटा ही घाटा होगा और बढ़ा तो नफा भी हो सकता है। यदि उत्पादन अनेक प्रकार की वस्तुओं का हो तो उसके ग्रुप बनाकर, एक औसत दर निकाल कर इनके लिए लिखी जाती है। इस प्रकार उत्पादन से प्रतिदिन मिलने वाली यह रकम उस मिल या कारखाने की कुल आय है।

व्यय में, मुख्य रूप से दो भाग होते हैं। एक भाग, कच्चे अथवा अधकच्चे माल के खपत की निर्धारित राशि और स्टेंडर्ड लागत का, जिसकी खपत-राशि नित्य होने वाले प्रोडक्शन के अनुसार बदलती रहती है। दूसरा भाग, स्थाई खर्चों

का होता है, जो यथावत लगते ही रहते हैं—जैसे मजदूरी, तनख्वाह, ब्याज, विजली, किराया, मुसाफिरी-व्यय आदि-आदि। आज से 20 वर्ष पूर्व मजदूरी का व्यय कई 'पड़तों' में प्रोडक्शन के अनुपात से बदलता जाता था पर अब मजदूरों के स्थाई सर्विस में हो जाने के कारण प्रायः ऐसा नहीं हो पाता है।

इस प्रकार दैनिक आय और व्यय के शेष को, दैनिक 'पड़ता' कहा जाता है जो 1000 रुपये या 5000 रुपये प्रतिदिन से लगाकर पांच लाख रुपये प्रतिदिन या अधिक मारजिन का हो सकता है। इस सारे 'पड़ता' तन्त्र को एक 'शुड बी' हिसाब कहा जाता है। 'जो होना चाहिए' वह मालिक को मिलना ही चाहिए और मैनेजर या प्रवन्धक से उतना सब कुछ तो अपेक्षित ही है। यदि 'शुड बी' से 'एक्चुअल' कम हुआ, जो अक्सर होता है, तो बेचारे मैनेजर और प्रशासक का दम घुटता रहता है। क्योंकि यह 'एक्चुअल', 'अनुमानित' से तुलना करने पर एक घाटे के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक आइटम के सामने 'पड़ता' से लिया हुआ एक निर्धारित या निश्चित अंक छाप दिया जाता है और उसके सामने के कालम में 'एक्चुअल', यानी जो हो सका, उसका अंक लिखा जाता है। इन दोनों के बीच में 'टारजेट' के अंक भी लिख दिए जाते हैं। इस प्रकार 'पड़ता' एक आधार है, 'टारजेट' संकल्प है और 'एक्चुअल' है फल, चाहे भला चाहे बुरा। इन सब तालिकाओं की और आय-व्यय से निकली शेष राशि हानि-लाभ के चिन्ह के साथ उनके नीचे ही नीचे चमकती रहती हैं।

'पड़ता' से 'टारजेट' कम हो तो यह मैनेजर के साहस और कुशल प्रशासन की कमी का द्योतक है पर 'टारजेट' के अनुपात में 'एक्चुअल' यानी वास्तविक अंक, अधिक घाटे वाले वैठे, यानी उत्पादन कम हुआ, आय कम हुई पर व्यय उतने ही हुए तो शेष कुल अंक एक विषैला तीर-सा लगने लगता है। उस मैनेजर का दिन लम्वा और रात छोटी हो जाती है। मालिक की दृष्टि में पहले तो मैनेजर ने 'टारजेट' ही घाटे का दिया था, अव उसी की बनायी हुई दैनिक 'एफिशियेंसी गेन-लौस' रिपोर्ट उससे भी अधिक घाटा ला रही है तो वह चुस्ती के साथ चारों ओर से हाथ-पैर पटकता हुआ अपने कार्य-कलाप को सुधारने के लिए स्वयं बाध्य हो जाता है। उसे तर्क देने और वहस करने की गुंजाइश नहीं होती है। 'पड़ता' तन्त्र को आप एक स्वयसिद्ध भाग्य-तालिका कह सकते हैं, जिसमें आय और व्यय के स्रोत फलदायी और कष्टदायी ग्रहों की तरह अंकित रहते हैं।

जिस प्रकार 'उत्पादन-व्यवस्था' का वर्णन किया गया है, उससे प्रतिदिन और प्रतिमाह के घाटे-नफे की पूरी जानकारी उसी दिन और उसी महीने मिलती रहती है। किन्तु इसका आर्थिक-नियन्त्रण भी उतना ही परमावश्यक है, जितना

कि उत्पादन का लेखा-जोखा। आर्थिक-नियन्त्रण में विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है। निर्धारित अथवा अनुमानित कच्चे माल के स्टाक, उत्पादित स्टाक, उगाही यानी उधारी, बैंक ओवर ड्राफ्ट, डिपाजिट एण्ड एडवांस, कर्जदारी आदि-आदि के दैनिक आंकड़ों पर। इन सबके भी टारजेट हाते हैं और 'एक्चुअल' की दैनिक रिपोर्ट भी। इनके गलत रूप से घटने-बढ़ने पर सारी औद्योगिक-व्यवस्था ही कच्ची दीवार की तरह ढह जाती है। मासिक आय-व्यय के लेखे के साथ-साथ आर्थिक-विवरण को लेकर प्रत्येक प्रशासक अथवा प्रबन्धक को मालिक के सामने प्रतिमास अपने किये की पूरी-पूरी पैरवी करनी पड़ती है। इसकी जांच-पड़ताल मालिकों की ओर से नियमित होना, जी.डी. औद्योगिक प्रशासन और 'पड़ता-प्रणाली' की एक अनिवार्य शर्त है। यह व्यायाम उनके कारखानों की स्वास्थ्य-कुंजी है। इस आर्थिक-नियन्त्रण के बिना उत्पादन के नफे केवल कागजी घोड़े होकर रह जाएंगे जो सारे काफिले को हानि पहुंचायेंगे और सारी औद्योगिक यात्रा और उसके विकास को ठप्प कर देंगे, जी.डी. बाबू की ऐसी अटूट मान्यता थी।

आर्थिक-नियन्त्रण से 'आर्थिक-अनुशासन' कायम करना जी.डी. बाबू का अचूक लक्ष्य था। इस अनुशासन से स्वयं मालिकों को वित्तीय-व्यवस्था निर्धारित करने और चलाने के लिए एक अमोघ शस्त्र मिला। इस शस्त्र का प्रयोग करते रहने से मालिक और प्रबन्धक दोनों को आत्मविश्वास और सुरक्षा मिलती रहती। इस व्यायाम से बचने का अर्थ था अनधारे संकटों को निमन्त्रण देना। 'टारजेट' शब्द अधिकतर उत्पादन के प्रसंग में इस्तेमाल किया जाता रहा और वित्तीय-नियन्त्रण के लिए 'शुड बी' शब्द का अधिक सहारा लिया गया। 'पड़ता-पद्धति' उन्होंने इस प्रकार लागू की कि वह प्रबन्धक के स्वभाव में ढल गयी और श्रमिकों के लिए एक अदृश्य पर कारगर अंकुश का काम करने लगी। घाटे-नफे का महत्त्व अपने स्थान पर था, किन्तु वित्तीय-अनुशासन के बिना बाजार में साख नही बनतीं, यह जी.डी, बाबू का पक्का सिद्धान्त था। मालिक या प्रबन्धक यदि दैनिक और मासिक रिपोर्टों के द्वारा अपने उद्योगों में वित्तीय-नियन्त्रण रखने में असफल रहेंगे तो मात्र मुनाफे की शाबाशी उन्हें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती। इतना बड़ा महत्त्व जताते थे जी.डी. बाबू अपने उद्योगों में आर्थिक-नियन्त्रण का। उनकी 'पड़ता-प्रणाली' को यदि ताले की उपमा दी जाये तो उसकी चाबी का नाम है 'आर्थिक-अनुशासन'। जो मालिक और प्रबन्धक इस चाबी को सम्भाल कर नहीं रख सकता, उसे ताले के होने का पूरा लाभ नहीं मिल सकता है। हर समय अंकों का ज्ञान और उन पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक माना गया। राजस्थानी कहावत भी यही कहती है : 'आंक बेपारी की आंख' अर्थात् हिसाबी संख्या ही व्यापारी की आंख है।

यहां यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उद्योग-संचालन के क्षेत्र में अन्य उद्योगपति पहले से ही और अब भी, अन्य सफल तरीके अपनाते रहे हैं। इन प्रणालियों के प्रचलित नाम रहे हैं—प्रोजैक्ट प्लानिंग, बजटिंग, मशीन लोडिंग, जॉब कॉस्टिंग, एक्जीक्यूशन रिपोर्टिंग आदि-आदि। इन सब की रीति-नीति यह रहती आयी है कि अलग-अलग अधिकारी अपने-अपने कार्य क्षेत्रों को सर्वाधिकार के साथ आद्योपान्त सम्भालते हैं। इसे पाश्चात्य पद्धति और आधुनिक पद्धति भी कहा जा सकता है। इसमें पूरा काम कई टुकड़ों अथवा भागों में अन्तिम रूप से बंट जाता है। इन टुकड़ों के जो अलग-अलग परिणाम हैं, उन्हें तब कागज पर उतार कर सर्वोच्च अधिकारी को अन्तिम परिणाम पर सन्तोष ही करना पड़ता है। इससे अधिक इस पर समझा-सोचा भी कैसे जाए? कार्य-पद्धति ही ऐसी है। मालिक सर्वोच्च व्यक्ति पर तलवार चलाना व्यर्थ समझता है। यदि चलाना आवश्यक ही है तो उसे अनेक क्षेत्रीय अधिकारियों पर तलवार चलानी अथवा चलवानी होगी । बहुधा ऐसा नहीं किया जा सकता।

दूसरी ओर 'पड़ता-पद्धति' में प्रबन्धक ही 'पड़ता' बनाता है, काम बांटने और सम्भालने की बागडोर भी वही लेता है, अतएव मालिक की तलवार जब चलती है तो अक्सर उसी की गर्दन पर गिरती है। दूसरों को जांचने, बदलने या हटाने का तो उसे पहले से ही पूरा अधिकार रहता है। अतः गले में माला भी वही पहनता है और फांसी पर भी वही लटकता है। मालिक और प्रबन्धक के बीच में इस बारे में किसी भ्रान्ति की गुंजाइश नहीं होती। दूसरी पद्धतियों से 'पड़ता' प्रणाली का यही अन्तर है और यही विशेषता भी। इस विशेषता को नकारने के लिए यदि कोई इसे निजी औद्योगिक क्षेत्र की एक प्रचलित प्रथा मात्र कहने लगे तो यह एक भुलावा होगा। दूसरी ओर 'पड़ता-प्रणाली' दीपक की लौ की तरह अपना परिणाम स्पष्ट सामने दिखलाती है, जबकि अन्य प्रणालियां अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी दूरियों को तय करने की पटरियां हैं। पड़ता-प्रणाली एक आविष्कार है और अन्य प्रणालियां चलते रहने की परिपाटी।

जी.डी. बाबू द्वारा चलाया गया 'पड़ता'-तन्त्र सारे बिड़ला औद्योगिक समूह के कारखानों और मिलों के प्रशासकों, मैनेजरों, इंजीनियरों, अकाउण्टेंटों आदि का वार्षिक पंचांग है। हर व्यक्ति इसमें अपनी दशा, महादशा और अन्तरदशा के आंकड़े निकाल सकता है। अपने स्वजनों और परिजनों को बता सकता है। अपना भाग्य पढ़ सकता है, गढ़ सकता है। 'पड़ता' तन्त्र के अन्तर्गत यदि एक प्रबन्धक अपने उद्योग-समूह का अच्छा आर्थिक परिणाम ला दिखाये और उसे दिखाता रहे तो उसका उदाहरण सबको प्रचारित किया जाता है। 'पड़ता' के अनुरूप अपने उद्योग-समूह को चला पाना, सिद्ध कर पाना हर प्रबन्धक के लिए एक शान की

बात होती है। प्रशासकीय साख बढ़ा देने वाली यह 'पड़ता-प्रणाली' सारे बिड़ला समूह में अत्यन्त ही सरल और गहन मानी जाती है। किसी भी आधुनिक उद्योग संचालन की प्रणाली के मुकाबले यह नित-नवीन ही लगती है। इस प्रणाली को एक तन्त्र माना ज़ा सकता है। यह 'पड़ता'-तन्त्र कम्प्यूटर की सेवा भी स्वीकारता है पर व्यक्ति और उद्योग की सही तस्वीर को अपने ही लैंस से उतारता है। बिड़ला उद्योग-समूह के संचालन में 'पड़ता'-तन्त्र की विशेषता यह है कि वह दर्पण भी है और अन्तर-दर्पण भी। जी.डी. बाबू इसके निर्माता, जनक थे और इसके सिद्ध-स्वरूप भी।

गुणयुक्तोऽपि पूर्णोऽपि कुम्भः कूपे निमज्जति ।
तस्य भारसहो नास्ति गुणाकग्राहक को यदि ।

गुण (रस्सी) से युक्त होने पर भी, पूरा भरा होने पर भी, घड़ा कुएं में डूब जाता है, यदि उसका भार उठाने वाला, रस्सी पकड़ कर खींचने वाला सिद्ध व्यक्ति न हो।

'पड़ता-पद्धति' की विशद व्याख्या का एक रूप है हिसाबी-किताबी संसार, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। पर इसकी दूसरी आकृति उत्पादन का गाजा-बाजा है। उत्पादन करना, अधिक से अधिक उत्पादन करना। यह तभी सम्भव है जब उस माल को बेचा जा सके, तुरन्त बेंचा जा सके, उपभोग में खपाया जा सके और उसकी मांग को बढ़ाया जा सके। जी.डी. बाबू उत्पादन और उत्पादन-वृद्धि के प्रबल समर्थक थे।

यहां पर प्रासंगिक प्रश्न है कि यदि 'पड़ता'-तन्त्र में हर बार हर मशीन का, हर लूम का, हर स्पिण्डल का, हर फरनेस और ओवेन तथा क्लिन और क्लिंकर का उत्पादन बढ़ाया गया तो आपके बढ़े उत्पादन की बिक्री कैसे होगी? बाजार में माल बेचने की भी समस्या होती है। साथ ही साथ प्रबन्धकों को पड़ता का मारजिन परसेण्टेज भी कायम रखना होता है। अक्सर इस सन्दर्भ में जी.डी. बाबू अपने दिग्गज प्रबन्धकों से कहा करते थे, 'मशीन और इक्वीपमेंट की क्षमता तो उसकी नेम-प्लेट पर लिखी रहती है पर मनुष्य की उत्पादन-क्षमता के कौशल की कोई नेम-प्लेट उसके गले में लटकी हुई नहीं होती, ललाट पर लिखी हुई नहीं होती। अपने बुद्धि, पराक्रम से वह उसे बढ़ा सकता है' । लिफ्टिंग, हैन्डलिंग, ट्रांसपोर्टिंग, होइस्टिंग, कनवेयराइजिंग, रिलेइंग आदि प्रक्रियाओं की वह रफ्तार बदल सकता है। नये तरीकों और उपायों से नये 'बैलेंसिंग इक्वीपमेंट' की आवश्यकता पैदा कर सकता है, उनकी पूर्ति भी कर सकता है। इन सब के लिए

श्रमिकों और सुपरवाइजरों को साथ लेकर, उन्हें ऊपर उठाकर, उनके हौसले वढ़ाकर, चलना होता है। परिणाम होगा 'उत्पादन के नये कीर्तिमान'। ऐसे हर वार वढ़ाये जाने वाले उत्पादन-कीर्तिमानों से क्वालिटी तो अपने आप जमेगी ही, अन्यथा इतना उत्पादन भी सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार इस 'रिकार्ड' उत्पादन का परिणाम होना चाहिए रिकार्ड 'इकॉनमी और रिकार्ड एफीशियेंसी'। यानी आपकी उत्पादन लागत ही कम रहेगी, पहले के अनुपात में। अतएव, आप कम मूल्य पर अपना माल वेचकर भी लाभ की प्रतिशत मात्रा रख सकेंगे।

जी.डी. वावू को एक वार कस्तूर भाई ने कहा था, 'रक्खो साफ कोठा, कभी न होगा खोटा। जिसका साफ पेट, वही असली सेठ'। इस बात का उदाहरण देते हुए, अपने उत्पादन-वृद्धि के फार्मूले को सही बताते हुए उन्होंने कहा कि भावों के इन्तजार में जो प्रवन्धक अपने माल की बिक्री रोकता है वह बर्बाद हो जाता है, क्योंकि उसका कर्म अधिक से अधिक उत्पादन करना है। बिक्री कम होने से उसका कर्म ही विफल हो जाएगा। 'पड़ता' की सफलता के लिए 'अधिकतम उत्पादन मन्त्र है, तो शीघ्रतम बिक्री श्रेष्ठतम यन्त्र है'। मन्त्र तभी गूंजेगा जब यन्त्र को साधोगे। यही था उनका सफल सन्देश और स्थायी आदेश।

विस्तार और विकास का व्यापकरण

किसी भी उद्योग की स्थापना और उसके संचालन को निश्चय ही एक बड़ी उपलब्धि माना जाना चाहिए, विशेषकर परतन्त्र देश में और विकासशील समाज में, जहां पूंजीनिवेश और औद्योगीकरण के मामले में अनेक अड़चनें होती हैं। जी.डी. बाबू ने एक नहीं अनेक उद्योगों की स्थापना की,और उनका सफलतापूर्वक संचालन किया। पर सिर्फ 'इतने भर' को सन्तोष का विषय वह नहीं मानते थे। उनका मत था कि सफलता पाकर बैठ जाने वालों के पास सफलता बैठी नहीं रहती। उनका दृढ़ विश्वास था कि बैठने से काम नहीं चलेगा। उनका मानना था कि फल खाने और भोगने को ही नहीं मिलता, इसको बांटना और बढ़ाना चाहिए। उनकी इच्छा पेड़ से पेड़ लगाने की थी, ताकि पेड़ों से कुंज और कुंजों से वन तैयार किये जायें—ऐसे वन जो औद्योगिक हरियाली को विस्तार दें, बेरोजगारी के रेगिस्तान को बढ़ने से रोक सकें। औद्योगिक कर्म में लगे लोगों को वह यही सलाह देते थे—रेंगो नहीं दौड़ो और दौड़ने वालों को सुझाते-प्रोत्साहित करते उड़ने के लिए। बीज को वृक्ष और वृक्ष को फल में बदलने की उनकी उत्कट अभिलाषा रहती थी तो इसीलिए कि फल से एक बार फिर बीज मिल सकेगा। औद्योगिक विस्तार और विकास के जिस व्याकरण की व्याख्या जी.डी. बाबू करते थे, उसके मूल में निरन्तर श्रम-संवर्धना की यही प्रेरणा थी, जो ऐतरेय उपनिषद् के इस वाक्य में है :

> **"कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः ।**
> **उत्तिष्ठस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरन् ।।"**

सोने वाला कलि है, जगने वाला द्वापर है, उठ खड़ा होने वाला त्रेता है, किन्तु श्रम करने वाला तो सतयुग है, इसलिए अधिकाधिक श्रम करते रहो।

नये प्रयोग ही विस्तार और विकास की भूमिका हैं

जी.डी. वावू इतने दूरदर्शी थे कि उद्योग की स्थापना के समय ही यह योजना वना लेते थे कि अनुमानित लाभ अंर्जित करने के वाद उत्पादन क्षमता का विस्तार किस प्रकार होगा। यदि किसी कारणवश विस्तार रोका तो निश्चय ही राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए यह लक्षण हानिप्रद सिद्ध होगा। इसका अच्छा उदाहरण ग्वालियर रेयन के प्रसंग से प्रकट होता है। टैक्सटाइल मिल के वार्षिक उत्सव में सभापति पद से वोलते हुए रामनाथजी पोद्दार ने यह विचार अभिव्यक्त किया, "रेयन-वेयन सव फालतू चीज हैं, नकली रेशा भारत में चलेगा नहीं। यहां तो कपास ही चलेगा"। उस समय अनेक अन्य विशेषज्ञों की राय भी यह थी कि विड़ला प्रतिष्ठान वेवकूफी कर रहे हैं। पर आज स्थिति यह है कि इस रेशे की खपत जो ग्वालियर रेयन की स्थापना के समय केवल 4 टन प्रति दिन थी, अव 400 टन प्रति दिन हो चुकी है। इस तरह का रेशा वनाने वाली एकमात्र कम्पनी 'ग्वालियर रेयन' 250 से 300 टन प्रति दिन ही वना पाती है और शेष का आयात करना पड़ता है।

इसी तरह की वात तव भी सामने आयी जव हिण्डाल्को ने अल्युमिनियम के वर्तन वनाने की वात सोची। वहुतों का कहना था कि यह घाटे का सौदा रहेगा, क्योंकि भारत में लोग अल्युमिनियम को अपवित्र मानते हैं और कुछ को यह डर लगा रहता है कि इसमें रखा खाना जहरीला हो जाता है। पर जी.डी. वावू इन उद्योगों के विकास के लिए कृत-संकल्प थे और अन्ततः उन्हीं की दूरदृष्टि लाभप्रद सिद्ध हुई। आज हिन्डेलियम के वर्तन खूव प्रचलित हैं ।

'ग्वालियर रेयन' में नकली रेशे के सूत से कपड़ा तैयार करने का अभिनव प्रयोग भी इसी वात का एक और उदाहरण प्रस्तुत करता है। अन्य लोग अधिक से अधिक नकली रेशे से फिलामेण्ट भर वनाने की वात तक सोच सके थे। उनकी सीमित दृष्टि से नकली रेशे की कोई और चीज इस देश में नहीं चल सकती थी। किन्तु ग्वालियर सूटिंग के सर्वोच्च स्थान से आज कौन अपरिचित है?

इसी प्रकार 1942 में एकाएक उनके दिमाग में एक वात आई कि हम लोग भी एक वैंक स्थापित करें। अव जो यह वात मन में आयी तो उन्होंने एक मित्र से

शाम की चाय पर यों ही आए-गए ढंग से पूछा कि क्या इस समय देश के विकास के लिए बैंकों की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, तो हम बैंक खोलें तो कैसा रहे? मित्र ने कहा कि विचार तो अच्छा है। बस जी.डी. बाबू ने तुरन्त बम्बई में अपने विश्वस्त मित्र को पत्र डाला कि हम नया बैंक खोलना चाहते हैं, उसे चलाने के लिए कोई भरोसे का आदमी सुझाओ। मित्र ने स्वर्गीय बी.टी. ठाकुर का नाम सुझाया। वह तब सैण्ट्रल बैंक कराची के जनरल मैनेजर थे। जी.डी. बाबू ने हफ्ते भर में ठाकुर साहब को बुलाकर इंटरव्यू कर डाला और जनवरी 1943 में बैंक की स्थापना का काम शुरू हो गया। तो अक्तूबर 1942 में जिस बैंक की बात एक धुंधली सी कल्पना थी वह 'यूनाइटेड कमर्शियल बैंक' के नाम से 11 मई 1943 को काम भी करने लगा। इस बैंक के कारण बिड़ला ब्रदर्स के औद्योगिक विकास को सुदृढ़ आधार मिला और सारे विस्तार की रफ्तार ही तेज हो गयी।

अंग्रेजों की तरफ से एक प्रस्ताव यह भी था कि भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के बारे में कोई व्यवस्था की जाये। कांग्रेस वाले इसके विरोध में थे, क्योंकि वह तुरन्त स्वाधीनता चाहते थे और यह कल्पना करने को तैयार नहीं थे कि अभी कई वर्षों तक भारत की अर्थव्यवस्था ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था से जुड़ी रहेगी, उसकी ही छत्रछाया में फलेफूलेगी। जी.डी. बाबू अलबत्ता यह समझते थे कि इस तरह की व्यवस्था से भारत का और भारतीय उद्यम का लाभ ही होगा। इसलिए बातचीत करने में कोई हर्ज नहीं है। उन्होंने आर्थिक विकास सम्बन्धी इस बात में कांग्रेस के विरोध के बावजूद हिस्सा लिया।

औद्योगिक जगत में बिड़ला बन्धु अब तक पटसन, सूत और चीनी तक ही सीमित रहे थे। अब उनका ध्यान अपेक्षाकृत भारी उद्योगों की तरफ गया। सूती कपड़े की मिलों के मालिक जी.डी. बाबू ने यह भी सोचा कि अगर हम स्वयं सूती कपड़ा बनाने वाली मशीनें भी बनायें तो कितना अच्छा हो। इसलिए कलकत्ता में 'टैक्समैको' की नींव 1939 में रखी गयी। भारी मशीनें बनाने की दिशा में एक और कदम जी.डी. बाबू ने 1945 में 'सिमको' की स्थापना करके उठाया।

एक बार बहुत पहले 1926 में जी.डी. बाबू ने भारत वर्ष में मोटरगाड़ी बनाने की बात सोची थी और 1928 में बतौर नमूना एक गाड़ी हाथ से बनवायी भी थी। राधाकृष्णजी कानोडिया बताते हैं, "मोटर गाड़ी से वह पिलानी के आसपास के गांवों में भी गये। लोगों ने उनसे कहा कि गाड़ी रेत में धंस जायेगी। मगर वह माने नहीं। गाड़ी धंसी तो उन्होंने किसी तरह चक्कों को बाहर निकाला और यात्रा पूरी करके रहे"। जो हो, तब जी.डी. बाबू ने मोटर बनाने की योजना छोड़ दी थी।

अब इस योजना को उनके छोटे भाई ब्रजमोहन ने आगे बढ़ाया। पहले 1942 में ओखा में एक छोटा-सा कारखाना लगाया गया और फिर 1946 में उत्तरपाड़ा कलकत्ता में एक विराट फैक्टरी का निर्माण शुरू किया गया, जो 1950 में बनकर तैयार हुई । इस हिन्दुस्तान मोटर्स कम्पनी से बिड़ला बन्धु देश के प्रमुख मोटर-कार निर्माता बने।

नये काम की पहल ही कमाई की पहल है

जी.डी. बाबू को हमेशा यह आग्रह रहता था, "अछूते क्षेत्र में पहल करो, फायदे में रहोगे"। इन नये उद्योगों से निकली चीज़ों से सदा भरपूर कमाई की गयी। और ऐसा करना पक्का व्यावसायिक कर्म माना गया। ऊनी कालीनों के दाम जिस तरह आसमान को छूने लगे तो इससे वह समझ गये कि लोग शीघ्र ही किसी सस्ती कालीन की तलाश में निकलेंगे। जूट के कारपेट बनाने की बात सबसे पहले उनके दिमाग में आयी थी। बिड़ला जूट मिल ने अपने कारपेट से बाजार में तहलका मचा दिया। बाद में अन्य जूट मिलों ने बिड़ला जूट मिल की भांति ही जूट कारपेट बनाने शुरू कर दिये।

इसी तरह लिनोलियम का उत्पादन भारत में पहले-पहल कलकत्ते में उन्होंने ही शुरू किया और इसके लिए जरूरी मशीनें स्काटलैंड से मंगवायीं। घर-घर में लिनोलियम चल गया। हर आंगन चमक उठा।

स्थापित और सफल उद्योगों के वृक्ष से, उनकी शाखाओं की कलम से, नये उद्योगों की पौध पैदा करना उनकी अद्भुत प्रतिभा का प्रमाण है। जी.डी. बाबू द्वारा नये-नये क्षेत्रों में जाने की ऐसी ही एक कोशिश 1945 में 'सौराष्ट्र कैमिकल' की स्थापना से की गयी। बिड़लाओं ने अब रसायन भी बनाने शुरू कर दिये। कोयला खान उद्योगों में भी उन्होंने कदम रखा। 'वैस्टर्न बंगाल कोलफील्ड लिमिटेड' और 'सैण्ट्रल कोलफील्ड लिमिटेड' इन दो कम्पनियों की स्थापना 1944 में हुई। इसी प्रकार 'हिन्द साइकिल्स लिमिटेड' की स्थापना की गयी। विभिन्न उद्यमों के लिए पूंजी की व्यवस्था करने के वास्ते जी.डी. बाबू ने 'पिलानी इन्वेस्टमेंट लिमिटेड' नामक संस्था बनायी। चाय बागान उद्योग की ओर भी बिड़लाओं का ध्यान गया और 1945 में 'जयश्री टी गार्डन इंडस्ट्रीज लिमिटेड' की स्थापना की गयी। देश-विदेश की वायु-यात्रा के क्षेत्र में चरण बढ़ाते हुए 'भारत एयरवेज लिमिटेड' की स्थापना की गयी। इस दौर में स्थापित कुछ अन्य कम्पनियां थीं—तुंगभद्रा इंडस्ट्रीज लिमिटेड (1946), इन्डियन प्लास्टिक लिमिटेड

(1945), दि इन्डियन स्मैल्टिंग एण्ड रिफायनरी कम्पनी लिमिटेड (1947), इन्डियन टूल्स मैन्युफैक्चरिंग लिमिटेड (1947), हैदराबाद असबास्टोस लिमिटेड (1946), नेशनल इंजीनियरिंग इंडस्ट्रीज (1946)।

जी.डी. बाबू इस बात को समझते थे कि औद्योगिकी के क्षेत्र में विस्तार की एक भौतिक सीमा होती है। हर उद्योग में एक सीमा तक पहुंचने के बाद नये उद्योग स्थापित करना आवश्यक बन जाता है। वस्त्र-उत्पादन के क्षेत्र में एक सीमा तक पहुंचने पर फिलामेण्ट या पल्प के उत्पादन की बात वह सोचते थे। जब वह काम भी सम्पन्न हो जाये तो इस कच्चे माल को बनाने वाली मशीनों के निर्माण की योजना वह अपने हाथ में लेते थे। ग्वालियर रेयन एवं सैन्चुरी उद्योग समूह इस आर्थिक दर्शन के जीवन्त उदाहरण हैं। इसी तरह अल्युमिनियम इन्गोट उद्योग का विस्तार स्वाभाविक रूप से प्रोपजीराड, तरह-तरह के चैनल, ऐंगल, सैक्शन के उत्पादन तक उनके द्वारा किया गया।

उद्योग के क्षेत्र में कोई पहल करने के लिए जी.डी बाबू बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को तैयार रहते थे। जब केरल राज्य में, मवूर में ग्वालियर रेयन की ओर से कार्य शुरू करने का प्रस्ताव आया, तब सभी लोगों ने उनको यह सलाह दी कि केरल में कम्युनिस्टों का राज है, वहां कोई कारखाना लगाना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। जी.डी. बाबू ने कहा कि ऐसे मामलों में हर पहलू पर ध्यान दिया जाना चाहिये और दूर तक देखने की कोशिश की जानी चाहिये। जो उद्योग हम लगाने जा रहे हैं वह तो केरल राज्य के और देश के हित में है, हमारे भी हित में है। दूसरी बात, केरल में आज कम्युनिस्टों का राज है तो इसका मतलब यह नहीं कि हमेशा ही रहेगा। और अन्त में यह कि अगर केरल की कम्युनिस्ट सरकार को बिड़लाओं से परहेज़ नहीं है तो बिड़लाओं को उससे परहेज़ क्यों?

जी.डी. बाबू 'शुभस्य शीघ्रम्' में आस्था रखते थे। विलम्ब उनको सहन नहीं होता था। जिन्दगी का क्या ठिकाना? मैं चाहता हूं कि यह काम अपने जीते जी देख लूं ऐसा वह अक्सर कह दिया करते थे। अमरीकी उद्योगपति अपनी जल्दबाजी के लिए मशहूर हैं। उन्हें 'हसलर्स' कहा जाता है। लेकिन जब एक प्रमुख अमरीकी उद्योगपति के सहयोग से उन्होंने हिण्डाल्को योजना का कार्य आरम्भ किया तब अमेरिका वाले उनकी जल्दबाजी देखकर दंग रह गये। अमरीकी लोग तो 'काल करे सो आज कर' तक ही पहुंचे थे—जी.डी. बाबू तो 'आज करे सो अब' वाली मनोदशा में पहुंच चुके थे।

औद्योगिक विकास बनाम विकसित कार्य-पद्धति :

जी.डी. वावू विकास और विस्तार के व्याकरण के पण्डित ही नहीं थे, इसे अद्भुत कार्य-पद्धति से व्यवहार में लाना भी जानते थे। कुछ चुने हुए उदाहरण यह वात भली-भांति स्पष्ट कर देंगे कि इस 'भाषा' पर उनका कितना अधिकार था।

वह अपने निजी सचिवों से उन विदेशी लोगों के विषय में नोट बनाकर रखने को कहते थे, जिनसे सार्वजनिक जीवन में उनका काम पड़ सकता था। इस तरह के नोट में यह भी दर्ज रहता था कि आप इस व्यक्ति से पहले कव-कब और कहां-कहां मिले हैं। जव भी ऐसे व्यक्ति को वह आमंत्रित करते या उसके आमन्त्रण पर स्वयं जाते, निजी सचिव उन्हें वह संक्षिप्त नोट एक बार दिखा देते। उसके आधार पर जी.डी. बावू सम्बद्ध व्यक्ति को अपनी स्मरण शक्ति से अभिभूत कर देते थे। आचार्य कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इस नीति का विस्तार से उल्लेख किया है और इसे 'सर्वज्ञख्यापन' का नाम दिया है।

जिस समय अमरीका में काइजर से हिण्डाल्को के बारे में वातचीत चल रही थी, कुछ ऐसे कागजात की जरूरत पड़ी, जो लगभग ढाई वर्ष पहले काइजर के कार्पोरेशन ने जी.डी. वावू को भेजे थे। काइजर महोदय ने अमरीका में अपने कार्यालय में इन्हें ढुंढवाया, मगर वहां उनको पता नहीं चल सका। तव जी.डी. वावू के निजी सचिव ने फाइलों के सम्बन्ध में वह नोट बुक देखी, जो हमेशा साथ ले जायी जाती थी। इसमें यह लिखा रहता था कि कौन सी फाइल किस नम्बर की अलमारी के किस नम्बर के खाने में है। इसके आधार पर दिल्ली तार भेजा गया और आवश्यक कागजात वहां से तुरन्त आ गये,पर काइजर महोदय के कार्यालय में उन कागजों की प्रतिलिपि तव तक नहीं मिल सकी।

जी.डी. वावू का मानना था कि उद्योग के विस्तार और विकास के दौर में खर्चो का कम और कमाई का ज्यादा हिसाव रखना चाहिये। पर धन के प्रति आम पूंजीपति के मन में रहने वाला आकर्षण उनमें नहीं था। दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया ने इस वात की पुष्टि की कि उत्पादन के काम में आवश्यक होने पर वे छोटे से छोटे या वड़े से वड़े खर्च को समभाव से लेते थे। 1959-60 से जव दुर्गाप्रसादजी जियाजी राव और ग्वालियर रेयन के साथ-साथ हिण्डाल्को आदि का काम देखने लगे थे, तव उन्हें अक्सर इधर-उधर जाना होता था, जिससे वहुत समय वर्वाद होता था। जी.डी. वावू ने एक हवाई जहाज़ ले लिया, जिसका स्वयं प्रयोग वह कभी-कभी ही करते थे और शेष समय वह उनके दुर्गा के लिए सुलभ रहता था। इस प्रकार व्यर्थ जाने वाला समय वचा जो विकास की गतिविधि के काम आया।

कार्य सम्बन्धी क्रोध और डांट-फटकार

व्यावसायिक व्यवहार में जोरशोर के साथ क्रुद्ध होना, चीखना-चिल्लाना जी.डी. बाबू को पसन्द नहीं था। वह अपने प्रबन्धकों से कहा करते थे कि "लोहे में बहुत शक्ति होती है। यह बात जितनी सही है उतनी ही सही वह भी है कि वह शक्ति तभी तक होती है, जब तक कि वह ठण्डा रहे। अगर लोहा गर्म हो जाये तो उसकी दृढ़ता समाप्त हो जाती है"। यह बात उन्होंने सबसे पहले 1930 में दुर्गाप्रसादजी मण्डेलिया से कही थी, जो बिड़ला जूट मिल के एक अंग्रेज प्रबन्धक से लड़कर आये थे। वह प्रबन्ध-क्षेत्र में कभी किसी पर क्रुद्ध नहीं हुए। फटकार वह जरूर सुनाते थे और फटकार सुनाने के मामले में कोई लिहाज़ या मोरव्वत नहीं बरतते थे, लेकिन फटकारा और बात आयी-गयी कर देते, मन में कुछ नहीं रखते। उनके डांटते-फटकारते रहने का अर्थ मात्र यही लगाया जाता था कि वह उस व्यक्ति-विशेष के काम-काज में पूरी दिलचस्पी रखे हुए हैं और उसका हित-चिन्तन करते हैं। जिसने ऐसी गलती की हो कि वास्तव में उस पर क्रोध आ सकता हो, उससे जी.डी. बाबू सीधे कभी कुछ नहीं कहते। वह या तो उसे समय देते कि वह अपनी गलती खुद ही समझ ले और आकर माफी मांग ले। या फिर वह उससे तुरन्त ही मुंह मोड़ लेते थे। उनके प्रतिष्ठानों में यह कहा जाता रहा कि मालिक की कड़वी डांट नौकरी बनी रहने की गारण्टी है और मालिक का मीठा मौन नौकरी जाने का इंगित है।

वह कहा करते थे कि जो आदमी काम करेगा उससे गलती भी होगी। भला आदमी होगा तो उस गलती से सीखेगा और आइन्दा सावधान रहेगा। कितनी ही बड़ी गलती हो वह उसे नजर-अन्दाज कर सकते थे, बशर्ते कि करने वाला भूल स्वीकार कर रहा हो और आगे भूल न करने का वचन दे रहा हो। सन् 30 के जमाने में जबकि वह इतने बड़े उद्योगपति नहीं हुए थे, उन्होंने अपने एक विश्वस्त व्यक्ति भागीरथजी कनोडिया द्वारा कलकत्ते में हैसियन के सौदे में करा दिया गया 75 लाख रुपये का नुक्सान चुपचाप झेल लिया। यद्यपि इससे बिड़ला ब्रदर्स का सारा संस्थान ही विनाश के कगार पर आ खड़ा हुआ था पर गलती करने वाले के प्रति जी.डी. बाबू के लगाव और विश्वास में कोई अन्तर नहीं आया। इस तरह के प्रसंगों में वह कहा करते थे कि "पश्चात्ताप में समय बर्बाद मत करो, गतस्य शोचन नास्ति, जाओ और गलती सुधारने में जुटो"। विकास का सुलेख भूल-सुधार की स्याही से लिखना होता है।

प्रबन्धको! पते की बात सूक्ष्मता से कहना सीखो

जी.डी. बाबू की निगाह में झूठ से वड़ा कोई पाप नहीं था। बड़े से वड़ा

गुनाह करके कबूल लेने वाला उनकी निगाह में छोटे से छोटा झूठ बोलने वाले से कहीं श्रेष्ठ था। इसका एक कारण तो यह था कि प्रबन्ध कार्य के लिए उन्होंने अपने मस्तिष्क को एक कम्प्यूटर की तरह 'प्रोग्राम' कर रखा था। सही सूचनाएं मिलीं कि तुरन्त उनके आधार पर सही निष्कर्ष पर पहुंचते हुए सही निर्णय ले लिया। आवश्यक था कि इस कम्प्यूटरनुमा मस्तिष्क में जो सूचना 'फीड' की जा रही है, वह सही हो। अगर सूचना के बारे में ही सन्देह हो, पहले उसके सच-झूठ का निर्णय करना हो तो उनको बहुत झुंझलाहट होती। वह अपने प्रबन्धकों से बार-बार कहा करते थे कि मतलब भर की बात सुनाओ और बगैर कुछ छिपाये सुनाओ। 'नेट' बात क्या है बता दो। अंग्रेजी मुहावरा "टेल मी द वर्स्ट" हमेशा उनकी जबान पर रहा था। जो कड़वा से कड़वा हो वह सत्य मुझे सुनाओ। मीठी-मीठी बातों से बहलाओ मत। हितकारी बात अप्रिय हो तब भी कहो—'अप्रियं वा हितं ब्रूयाच्छृण्वतोनुमतो मिथ:'—कौटिलीय अर्थशास्त्र का यह नीतिवाक्य उन्हें सदैव स्मरण रहता था।

जिस प्रबन्धक को उन्होंने तमाम अधिकार दे रखे हों वह छोटी-मोटी बातें सुना कर उनका वक्त बर्बाद करे और उनके कम्प्यूटर दिमाग में 'कूड़ा-करकट' भरे यह उन्हें मंजूर नहीं था। एक बार किसी ने उन्हें मिल के एक हिस्से में आग लग जाने की घटना का विस्तृत विवरण दिया कि आग क्यों लगी, उससे कितना नुक्सान हुआ, इंश्योरेंस वाले क्या कह रहे हैं इत्यादि। आखिर में उसने बताया कि अग्निकांड में एक व्यक्ति मारा गया। उन्होंने बताने वाले को फटकार सुनाई, "भाई, इसमें नेट बात तो यह थी कि हमारा एक आदमी मर गया। तुम क्यों इतनी देर से बेकार की बातें कर रहे थे"। उसके बाद उन्होंने मृतक के परिवार को सहायता के बारे में निर्देश दिये। जी.डी. बाबू अपने प्रबन्धकों को दिन में दो-तीन बार फोन करते और उनका एक ही सवाल होता, कोई खास बात तो नहीं है? खास बात होती तो उन्हें सूत्र रूप में उसका सार बताना होता। वैसे ही सूत्र रूप में वह उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय भी दे डालते। जो लोग सूत्र रूप से बात कहना न जानते, उन्हें जी.डी. बाबू आदेश देते कि जाओ अमुक को समझाओ या अमुक को साथ लाओ। 'अमुक' उन की शैली जानने वाला कोई पुराना प्रबन्धक होता। उनकी विधि समझ लेने वाला विकास की लिपि स्वत: पढ़ सकता था और दूसरों को पढ़ा सकता था ।

जैसा कि उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला बताते हैं कि बाबू 'प्रेसिजन' के पुजारी थे और गागर में सागर अनायास भर सकते थे। उनका मानना था कि किताब नपी-तुली हो, कम हो पर सार वाली हो, सही हो। एक बार लन्दन में जी.डी. बाबू ने लार्ड बाल्डविन से मिलने का समय मांगा। बाल्ड़विन ने कहा कि

मेरे पास कुल छः मिनट हैं, यदि सम्भव हो तो आपको जो समझाना है इसी में समझाने की कृपा करें। जी.डी. बाबू ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पूरा पक्ष इस छः मिनट के काल-खण्ड में ही बाल्डविन कोसाफ-साफ समझा दिया। वस्तुतः वे सही अर्थों में वाग्मी-बातचीत की कला में माहिर- थे:'अल्पाक्षर रमणीयं यः कथयति निश्चितं स खलु वाग्मी' कम शब्दों में रमणीय और नपी-तुली बात करने वाला ही वाग्मी होता है।

फिजूलखर्ची के सख्त विरोधी होते हुए भी वह व्यावसायिक प्रगति के लिए बड़े से बड़ा खर्च करने को तैयार रहते थे। रेनुकूट में हिण्डाल्को कारखाना बैठाने के लिए अमरीका के काइजर प्रतिष्ठान ने परामर्श देने की जो फीस मांगी थी वह जी.डी. बाबू के विश्वस्त प्रबन्धकों द्वारा बहुत ही ज्यादा ठहरायी गयी। किन्तु जी.डी. बाबू ने कहा कि जब हमें बगैर काइजर के अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों से ऋण मिल नहीं सकता, तब फीस की रकम क्या जांचनी? इन थोड़े शब्दों में पूरा उत्तर दे दिया। विकास का व्याकरण वह इसी प्रकार गढ़ते और पढ़ाते रहे।

न बड़ा न छोटा

जिस तरह अपने औद्योगिक प्रतिष्ठान के विकास के लिए बड़ा से बड़ा खर्च उन्हें बड़ा नहीं मालूम होता था, उसी प्रकार ऐसी कोई छोटी से छोटी चीज उन्हें छोटी नहीं मालूम होती थी, जिससे समूचे प्रतिष्ठान का अहित हो सकता हो, उसकी साख को बट्टा लग सकता हो। उनका आग्रह था कि अपना काम करवाने के लिए कोई गैर-कानूनी तरीका न अपनाया जाये। किसी को अनुचित रूप से प्रसन्न न किया जाये। जब तक वह सार्वजनिक जीवन में सक्रिय रहे,प्रबन्धकों को उनकी ओर से यह निर्देश था कि अगर सचिवालयों में कहीं कोई काम अटक गया हो और कुछ ले-देकर ही किया जायेगा ऐसा प्रतीत हो तो मुझे बताओ। मैं अपने स्तर पर सम्बद्ध मन्त्री से मिलकर करवा लूंगा। वह जब अधिक सक्रिय न रह गये तब एक प्रबन्धक ने उनसे कहा कि किसी को भी अनुचित रूप से प्रसन्न न करने का आपका आदेश निभा पाना मुश्किल है, क्योंकि आज तो यह स्थिति है कि चारों तरफ अधिकारियों को प्रसन्न न किया जाये तो काम ही ठप्प हो जाये। इतना ही किया जा सकता है कि अपनी तरफ से हम लोग इस प्रकार का कम से कम सहारा लें। इस पर जी.डी. बाबू ने कोई टिप्पणी नहीं की। प्रबन्धक ने मौन को सम्मति का लक्षण मान लिया।

व्यवसाय का कोई भी मसला जी.डी. बाबू के लिए छोटा या बड़ा नहीं होता था। इस प्रकार के विभाजन से परे वह उसे बस एक मसला मानते थे, जिसे तुरन्त

निपटा देना उनके लिए जरूरी हो जाता। अरबों की लागत के फैसले भी उन्होंने उसी फुर्ती से किये, जिससे सैकड़ों के खर्च के मसले निपटाये। पहले वह बैंकिंग के विषय में कभी उत्साही नहीं रहे थे और अनेक बार बैंक खोलने का प्रस्ताव ठुकरा चुके थे। पर जैसा कि लिखा जा चुका है, बैंक खोलने का निर्णय जब कर लिया तो शीघ्रातिशीघ्र उसे खोल दिया और उसे इस प्रकार से बढ़ाते ही गए। विकास विवेक से अधिक काम की गति पर निर्भर करता है।

विकास करो, नाटक नहीं

अपने प्रतिष्ठान के भीतर किसी भी प्रकार की बेईमानी उन्हें बर्दाश्त नहीं थी, जिसकी ईमानदारी पर उन्हें सन्देह हो जाये उसे हटाने में वह एक क्षण की भी देरी नहीं करते थे। जिस व्यक्ति को हटाना हो उसे तुरन्त बगैर किसी हो-हल्ले के हटाने के लिए जो कुछ भी आर्थिक व्यवस्था करनी हो उसे करते उन्हें कोई हिचक नहीं होती थी। किसी को आजीवन पेंशन देकर हटा दिया, किसी को उसके सेवाकाल के बाकी वर्षों का वेतन देकर विदा किया, किसी से सिर्फ काम छीन लिया और वेतन देते रहे। उनका कहना था कि मुख्य निर्णय तो यह है कि अब अमुक व्यक्ति को यह काम सौंप दिया जाये। यह तो गौण बात है कि जिसे इस काम से हटा रहे हैं उसका क्या करना है।

प्रशासन के हर क्षेत्र में उनका यह सिद्धान्त लागू होता था, चाहे उद्योग का क्षेत्र हो या शिक्षा का। पिलानी बी.आई.टी.एस. में पुराने डायरेक्टर लक्ष्मीनारायणन के स्थान पर नये डायरेक्टर डा. सी.आर. मित्रा को लाने की बात थी या वहां की विख्यात महिला शिक्षाशास्त्री के स्थानान्तरण का प्रश्न था, खून की एक बूंद गिराये बिना ही सारी सर्जरी कर देते थे। ऐसे विलक्षण सर्जन थे वे प्रबन्धकों के रद्दोबदल के मामलों में। उनका आग्रह था कि नये व्यक्ति को लाने और पुराने को हटाने के इस सारे व्यायाम में सद्भाव बराबर बना रहे और किसी प्रकार की कटुता न आये। जिस तरह जी.डी. बाबू बड़ी से बड़ी गलती पर भी क्रुद्ध होना नहीं जानते थे उसी तरह बड़ी से बड़ी उपलब्धि पर भी बहुत ज्यादा खुश होना उनके स्वभाव में नहीं था। इसलिए शायद ही कभी ऐसा अवसर आया हो कि उन्होंने कभी किसी प्रबन्धक को बहुत ज्यादा शाबाशी दी हो या उसकी बहुत पीठ थपथपायी हो। काम तो बस काम है। अच्छा किया तो कह देंगे कि भाई अच्छा किया, वेल डन। इससे ज्यादा नाटक उन्हें पसन्द नहीं था। सच तो यह है कि व्यावसायिक और प्रशासकीय विकास के मामलों में किसी भी प्रकार की नाटकीयता उन्हें रुचिकर न थी।

औद्योगिक विकास की दिशा में

संविधान और कानून का समुचित व्यावहारिक ज्ञान उतना ही आवश्यक माना जाता रहा, जितना वित्तीय अनुशासन। जैसे कानून को बिना समझे औद्योगिक विस्तार करना अहित कर सकता है, वैसे ही कानून की उलझनों से अधिक घबड़ाना और दूर रहना कोई अतिरिक्त सुरक्षा नहीं, साहस और क्षमता का अभाव माना गया । गिरने के डर से चलना ही नहीं किसी सावधानी का नहीं अकर्मण्यता का प्रतीक माना गया। जी.डी. बाबू अपनी राय पर जितना कायम रहना जानते थे उतना ही दूसरों की राय की कद्र करना भी। कानून के दायरे में जिस लाभ की उपलब्धि हो सकती थी उसे नैतिकता के स्वांग में उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। भगवतीप्रसादजी खेतान बड़े संकोच के साथ उन्हें उनके कई निर्णयों की अति आशावादिता से अवगत कराते और अन्त में जी.डी. बाबू यह कहकर अपना कानूनी निर्णय बदल लेते कि भगवती की राय ज्यादा सही है ।

यह सही है कि उनकी कानूनी पकड़ किसी बैरिस्टर से कम नहीं थी। यदि वह किसी भी चीज़ में यह देखते कि कानून के सहारे रास्ता निकल सकता है तो वे इसका समुचित लाभ उठाने से नहीं चूकते थे। अपने प्रबन्धकों को वे समझाते "जस्ट टेक ए स्टे एण्ड यू अन्जॉय दी मनी आफ दी गवर्नमेंट"। कई कम्पनियों में उन्होंने ऐसा किया, मिसाल के तौर पर हिण्डाल्को में अनेक धुरंधर लोग इस बात की पुष्टि करते हैं कि कानूनी मसौदे तैयार करने-करवाने, जांचने और बदलवाने में जी.डी. बाबू कितने पारंगत थे। अपने कानूनी सलाहकारों में कानूनी लड़ाई जीतने का मन्त्र वही फूंकते थे। कानूनी सिद्धान्त के साथ-साथ उनकी प्रशासनिक प्रावधानों की जानकारी और भाषा की पकड़ इस मामले में सोने के साथ सुहागे का संयोग पैदा करती थी । अपने औद्योगिक कौशल के अलावा कानून की सहायता से भी जी.डी. बाबू ने बिड़ला औद्योगिक साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया।

यह नहीं भुलाया जा सकता कि उद्योग में, व्यापार में, नैतिक आचरण के महत्त्व को वह समझते थे। यथासम्भव आदर्श नैतिक आचरण ही अपने प्रतिष्ठानों में चाहते थे, पर व्यवहार में विकास-जन्य विवेक से विरत नहीं होते थे। रामलालजी राजगढ़िया के अनुभव से यह बात भली-भाँति उजागर होती है। "द्वितीय महायुद्ध के बाद उस समय जब कपड़े पर सरकारी कन्ट्रोल था, जो कोई मिल मैनेजर ज्यादा डाइंग, ब्लीचिंग करता था, या कोई धागा ज्यादा इस्तेमाल करता था, रेशम का, कृत्रिम रेशे का या मोटे रेशे का तो उस कपड़े का दाम ज्यादा हो जाता था। उन दिनों बिड़लाओं की मिलों में कपड़े में कुल प्रीमियम यही कोई

10-15-20 रुपये सैकड़ा का था। तो हमारे यहां समस्या थी कि 'हायर रिअलाइजेशन' की खातिर हम कुछ उखाड़-पछाड़ क्यों नहीं करते थे। मैंने कहा कि हमारे यहां भी कपड़े को रंग दो, पोत दो। कई मिलें ऐसा कपड़ा बनाती थीं जिस पर 100 प्रतिशत का प्रीमियम रहता था। हम जियाजी राव काटन मिल, ग्वालियर में 20 प्रतिशत पायें और दूसरे 100 प्रतिशत? मैंने अपनी बुद्धि से ज्यादा कमाई का रास्ता निकाला। तो जब जी.डी. बाबू विलायत से वापस आये, किसी अखबार में यह आलोचना छपी कि जिस तरह का कपड़ा बिड़ला-मिलों ने बेचा है उस तरह का किसी समाजवादी देश में बेचने की कोशिश की जाती तो सम्बद्ध मिल के प्रबन्धक को गधे पर चढ़ा कर घुमाया जाता और उसे कोड़े लगाये जाते। शायद रामकृष्णजी डालमिया का अखबार था।

"मैं जी.डी. बाबू से मिलने गया तो उनके सैक्रेटरी राजकुमार ने कहा कि बाबू ने तुम्हारे नाम बहुत सख्त पत्र लिखा है सो पढ़ लो। इसमें लिखा था कि तुमने ऐसे घटिया काम किये कि बिड़लाओं का नाम बदनाम हो गया। जब मैं जी.डी. बाबू के सामने हाजिर हुआ तो उन्होंने पहला ही प्रश्न किया कि तुमने चिट्ठी पढ़ ली। मैंने कहा—'हां, पढ़ ली'। फिर मैंने उन्हें बताया कि ऐसा-ऐसा हुआ। प्रतियोगिता का मामला था। मैंने बसंतकुमारजी को बता भी दिया था कि हम ऐसा-ऐसा करें तो फायदा होगा। वह मेरी बात को काट नहीं सके। मैंने यह भी कहा कि बाबू यहां तो सवाल प्रतिद्वन्द्विता में पैसे कमाने का था, पैसे मैंने कमा कर दिखा दिये। ऐसी कोई बात नहीं थी, जो गैर-कानूनी हो। अब आप बताइए मेरा क्या कसूर है। जी.डी. बाबू ने सुना। मेरे हाथ से चिट्ठी ली और वहीं अपने सचिव राजकुमार की उपस्थिति में फाड़ दी। बोले, यह लड़का भी अपनी जगह सही है। मैंने इसे ट्रेनिंग यह दी है कि पहला उद्देश्य पैसा कमाना है। मगर हां, इस बात का ध्यान रखना है कि गैर-वाजिब या गैर-कानूनी ढंग से नहीं। यह सही है कि इसने जो काम किया वह नैतिक दृष्टि से उचित नहीं था। लेकिन अगर सभी मिलें ऐसा कर रही थीं तो व्यवसाय में अपनी जगह बनाये रखने के लिए इसके सामने अनीति को ही नीति मानने की विवशता थी।"

'घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले, क्वचिद् बुधैरप्यपथेन गम्यते'

जब भारी बरसात के नाते राजमार्ग पर कीचड़ हो गया हो तो बुद्धिमानों को भी कहीं-कहीं पगडंडियों पर चलना पड़ता है।

मन्दी में मिलें बन्द करना विस्तार का व्याकरण नहीं

इस शताब्दी के चौथे दशक में भारतीय कपड़ा उद्योग भयंकर संकट से ग्रस्त था। मिलें अपना उत्पादन घटाने लगीं। जी.डी. बाबू ने अपने मैनेजरों को बुलाया और कहा, "मेरी मिलों में न कोई पाली बन्द की जायेगी और न उत्पादन घटाया जायेगा। हम उतना ही कपड़ा बनायेंगे और जिस भाव हो बेचेंगे। मेरी एक ही शर्त है कि तैयार माल गोदामों में सड़ना नहीं चाहिये। घाटे में बेचो मगर बेचो जरूर। बाजार ऊंचा होता है तब तो कोई भी मिल, कैसा भी प्रबन्धक पैसा बना लेता है। अक्लमन्दी की परीक्षा तो तब होती है जब बाजार में मन्दी छायी हो। कुशल उत्पादन से लागत कम कीजिये, ताकि भाव घटने के बावजूद आपको थोड़ा मुनाफा मिल सके।" जी.डी. बाबू अक्सर अपने पुत्रों से कहा करते थे कि तुम लोग तो संरक्षण में फल-फूल रहे हो। इन परिस्थितियों में तो बज्र-मूर्ख तक पैसा बना ले। मैं तो कहता हूं कि देश में इतना अधिक उत्पादन हो जाए, बाजार में इतना माल आ जाए कि भाव टूट कर जमीन पर आ गिरें और तब मालूम होगा, किसे आता है उद्योग चलाना। जब कठिन प्रतियोगिता होती है, तब ही उद्योग संचालक कुशलता और मितव्ययिता का पाठ पढ़ पाते हैं। जो यह पाठ सही-सही पढ़ लेंगे, विस्तार करने का सहज ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। 'मन्दी में बन्दी' करना उनके व्याकरण का अध्याय नहीं रहा और इस व्याकरण ने उद्योग की भाषा का जो स्वरूप निखारा, उस भाषा में रचना की जो अपार सम्भावनायें उत्पन्न कीं वे सर्वविदित हैं। कथा सरित्सागरकार के शब्दों का प्रयोग करते हुए, जिसकी बुद्धि संकटकाल में क्षीण नहीं होती, वह क्या नहीं कर सकता—

'न स शक्नोति किं यस्य प्रज्ञा नापदि हीयते' ।

सम्पूर्णता के बाद विविधता ही विकास है

एक उद्योग कम्पनी में जब एक प्रोडक्ट का सम्पूर्णतम विकास हो जाता तो उसी के अन्तर्गत बिल्कुल भिन्न प्रोडक्ट के विशालकाय कारखाने लगाने की परिपाटी उन्होंने प्रारम्भ करा दी। बिड़ला जूट, केशो राम, सेन्चुरी आदि उद्योग समूहों में सीमेन्ट के अनेक विशाल कारखानों के बन जाने का मूल कारण उनकी यही विकास-नीति रही है। उद्योगों में हानि उठाने को वे जाति और समाज की हेठी समझते थे। कारखानों में नुक्सान करते रहना अकर्मण्यता और प्रबन्ध-हीनता का लक्षण मानते थे। इस बारे में वह कोई तर्क नहीं सुनना चाहते थे। न अपने प्रबन्धकों और प्रशासकों से और न ही अपने पुत्रों, भतीजों और पौत्रों से। उद्योगों में लाभ करना उद्योगपतियों का अनिवार्य कर्त्तव्य है, अन्यथा पूंजी-नियोजन होगा कैसे? और पूंजी नियोजन के बिना उद्योगों का विकास ही रुक जाएगा यानी राष्ट्रीय

समृद्धि और सामाजिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा। जीवन-स्तर को बढ़ाने की बात हास्यास्पद लगेगी। अतएव हर उद्योगपति के लिए उद्योग से धन कमाना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और कमाई से औद्योगिक विकास करते रहना एक अनिवार्य आधुनिक कर्त्तव्य।

उद्योगपति को औद्योगिक विकास की अपनी प्राथमिकता समझनी और निभानी चाहिये अन्यथा अन्य रसों में डूबे रहने से भी एक उद्योगपति को उन सब की वह रसानुभूति नहीं होगी जो होनी चाहिये। उनका यह सुनिश्चित मत था। राजनीति आज की सामाजिक व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है। उनकी मान्यता किन्तु यह थी कि अपने अंग की रक्षा करते हुए, उसका समुचित विकास करते हुए ही और उस विकास से समाज और देश को पर्याप्त और अपेक्षित लाभ पहुंचाते हुए ही एक उद्योगपति को अन्य अंगों की रसानुभूतियों का आनन्द मुफीद पड़ेगा।

यदि किसी एक प्रोडक्ट में विस्तार और विकास दोनों की प्रक्रियायें पूरी हो गई हैं तब भी बिड़लाजी ऐसा नहीं मानते थे कि विकास की सम्भावनाएं ही समाप्त हो गई हैं। जी.डी. बाबू का मानना था कि निजी औद्योगिक क्षेत्र में समृद्धि और राष्ट्र का आर्थिक विकास तभी अनवरत रह सकते हैं जब रोजगार में निरन्तर वृद्धि हो, पूंजी निवेश होता रहे और सरकारी राजस्व में कोई कमी न आये। ऐसा न होने पर औद्योगिक हरियाली को सूखे का सामना करना पड़ सकता है। लाभ कमा लेना भर पूंजीपति के लिए सफलता का प्रमाण नहीं माना जा सकता। लाभ नयी पूंजी बनकर निरन्तर बढ़ता रहे, देश की समृद्धि बढ़ाता रहे, यही उद्यमी उद्योगपति के पुरुषार्थ की कसौटी है। तभी यह माना जा सकता है कि उसका ओज जीवित और जागृत है।

निर्यात की समूची सम्भावनाओं को विचाराधीन कर निर्यात का एक लक्ष्य बनाये बिना विस्तार और विकास के नाते को वह व्यर्थ मानते थे। 40 वर्ष पूर्व ईस्ट इण्डिया प्रोड्यूस कं. प्रा. लि. लन्दन, 20 वर्ष पूर्व बिड़ला ए.जी. जुग, अमरीकन ईस्ट इण्डिया कार्पोरेशन न्यूयॉर्क जैसी कई फर्मों की स्थापना उन्होंने की और करवायी। उन्होंने 'भारतवर्ष' के निर्यात व्यापार को कई नये कीर्तिमान दिये। सेन्चुरी मिल के कपड़ों का भारी मात्रा में निर्यात होते रहना अपने आप में एक ज्वलंत उदाहरण है। उनकी प्रेरणा से 25 वर्ष पूर्व उनके पुत्र बसन्तकुमारजी बिड़ला ने इथियोपिया में अपने प्रशासक श्रीनिवास हाडा की देखरेख में भारतवर्ष की सबसे सफल सूत की मिल लगायी जिसने उस समय सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा नाम कमाया और अपार विदेशी मुद्रा अर्जित की।

जी.डी. बाबू द्वारा लगायी गयी पिलानी इन्वेस्टमेंट्स लि., जे.सी. मिल्स लि., ग्वालियर रेयन आदि कम्पनियों के बलबूते पर उनके पौत्र आदित्य विक्रम बिड़ला ने अपने दादोजी के सपनों को साकार करते हुए थाईलैंड़, इंडोनेशिया और फिलीपाइंस में अनेक टैक्सटाईल और इंजीनियरिंग के सफल उद्योगों की स्थापना की है। जी.डी. बाबू के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया में निस्सन्देह आदित्य ने अच्छा काम किया और काफी नाम कमाया। आखिर, इन सब सम्भावनाओं और संकल्प को पूरा करने का आधार था पूंजी का नियोजन और प्रशासकों का निर्माण। पिछले 30 वर्ष से जी.डी. बाबू ने यह तैयारियां कर रखी थीं ताकि उनके पुत्र और पौत्र सही समय पर सही काम सफलता से सम्पन्न करने में सक्षम हो सकें। वास्तव में, उनकी हर सृष्टि में एक दूरदृष्टि थी।

वैश्यों के लिए महाजन शब्द का प्रयोग होता है। और किसी वैश्य पर यह पूरा उतरता हो या न उतरता हो, जी.डी. बाबू पर पूरी तरह सटीक बैठता था। अपने विचार और आचरण दोनों से ही वे सचमुच महाजन थे। उनका कहना था कि लाभ एक जल राशि है। विकास करना है तो उसे जलधारा बनाओ। यदि वह जल-भण्डार ही बना रहता है तो इससे क्या बढ़ेगा? जी.डी. बाबू ने यह तथ्य आत्मसात कर रखा था कि मुनाफे से धन संचय करना तो मात्र सेठाई का प्रतीक है। सच्ची कीर्ति तभी अर्जित की जा सकती है, जब अर्जित लाभ एक जन कल्याणकारी जलधारा बन सके। नये तट, नये घाटों का निर्माण करते हुए। जी.डी. बाबू स्वयं ऐसी जलधारा बहाते रहने वाले कालजयी भगीरथ थे।

स्वाधीनता-यज्ञ

अमेरिकी राष्ट्रपति आइज़नहॉवर के साथ

सेतु निर्माण की राजनीति

बचपन से ही जी.डी. बाबू की रुचि परम्परागत-पारिवारिक व्यवसाय की अपेक्षा सामाजिक गतिविधियों में अधिक रही। चूंकि सामाजिक कार्य-कलाप राजनीति से बिल्कुल अलग-थलग नहीं रह सकते, इसलिए उनका सम्बन्ध इस लिहाज से राजनीति से भी रहा। उनमें संगठन, प्रबन्ध और मेल-मिलाप के जो गुण थे, उनके कारण इन गतिविधियों में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। संयोग कुछ ऐसा बना कि राजनीति के क्षेत्र में विप्लवी व्यक्तियों के साथ आरम्भ करते हुए, स्वाधीनता संघर्ष के दौरान उन्होंने विरोधी पक्षों के बीच अनेक बार सेतु निर्माण का बड़ा काम किया।

1916-17 की बात है। जी.डी. बाबू के मारवाड़ी क्लब (कलकत्ता) में कुछ बंगाली भी व्यायाम के लिए आने लगे। उनमें एक विपिन गांगुली था, जो लाठी भांजने में बड़ा निपुण था। वह वास्तव में आतंकवादी था। जी.डी. बाबू और उनके मारवाड़ी मित्र आतंकवादी तो कभी न थे, पर गोरे-शाही के विरुद्ध अवश्य थे। इस तरह उनकी कुछ सहानुभूति विपिन गांगुली और उसके आतंकवादी साथियों से हो गयी और प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से थोड़ी बहुत सहायता आतंकवादियों को उनसे मिलने लगी।

इन्हीं दिनों में एक और घटना घटी, जिसकी चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। 'रोडा कम्पनी' में विपिन गागुली का एक आतंकवादी साथी काम करता था। वहां हथियारों की एक खेप आयी तो उसने पूर्व नियोजित योजना के अनुसार

दो पेटियां उनमें से खिसका लीं। एक पेटी में वन्दूकें थीं और दूसरी में कारतूस। ये पेटियां चोरी-छिपे विपिन गांगुली के पास पहुंची तो उसने वन्दूकें अपने सब साथियों में बांट दीं। लेकिन उसे कारतूस बांटने का समय न मिला। पुलिस को कहीं से सुराग लग गया था। विपिन गांगली को भी इसकी भनक लग गयी और वह जल्दी से पेटी को जी. डी. वावू के कमरे में छिपा आया। पुलिस बरावर पेटी की खोज में लगी थी। इसलिए आतंकवादियों को उसे कई स्थानों पर बदलना पड़ा। अन्त में जब उन्होंने देखा कि किसी तरह भी पीछा नहीं छूट रहा है तो उनके के एक दिलेर साथी ने कुली का भेष वनाकर पेटी सिर पर उठायी और उसे हुगली नदी में डाल आया।

कारतूस की पेटी तो नदी के पेट मे चली गयी लेकिन पुलिसवालों ने दौड-धप कम नहीं की। उन्होंने सारी वात मालूम कर ली और साथ में पेटी का पूरा ब्यौरा भी. जी. डी. वावू के अनेक साथी पकड़ लिये गये और उन्हें विभिन्न प्रकार की सजा दी गयी। वारण्ट तो जी. डी. वावू के नाम भी थे, लेकिन वह उस समय ऊटी में थे। कलकत्ते में जव उनकी खोज मची तो परिवार के लोगों ने चुपचाप ऊटी में एक आदमी भेज कर जी. डी. वावू को सावधान कर दिया। वह वहां से नाथद्वारा चले आये और फिर पुष्करजी में छिपे तौर पर रहने लगे। उन दिनों कलकत्ता में डाक्टर सर कैलाश चन्द्र वोस का वड़ा प्रभाव था। उन्होंने पुलिस अधिकारियों को आश्वासन दिया कि जहां तक घनश्यामदास विड़ला का प्रश्न है, वह क्रान्तिकारी नहीं है। काफी लिखा-पढ़ी के वाद उनके नाम का वारण्ट रद्द कर दिया गया और जी. डी. वावू वापस कलकत्ता आ गये।

इस घटना के वाद आतंकवादियों के साथ सम्पर्क तो लगभग समाप्त हो गया लेकिन अपने देश और समाज के लिए कुछ कर गुजरने की उनकी उत्कट इच्छा में कोई कमी नहीं देखी गयी। 1926 में कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगे हुए और जी. डी वावू अपने साथियों को लेकर साम्प्रदायिकता की उस धधकती आग में कूद पड़े ताकि दंगों के शिकार निरपराध लोगों को बचाया जा सके। उनके साहस का अनुमान इस वात से ही किया जा सकता है कि वह दंगाग्रस्त क्षेत्रों से जव लोगों को निकालने जाते तो स्वयं गाड़ी में न वैठकर उसके मडगार्ड पर पिस्तौल तानकर वैठे रहते। एक और विशेष वात यह थी कि जी. डी. वावू नें जहां मुसलमानों के मोहल्लों में वसने वाले हिन्दू-परिवारों की रक्षा के लिए उन्हें वहां से निकाल कर सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाया,वहां हिन्दुओं के मोहल्लों से इसी प्रकार मुसलमानों को निकालकर उनकी भी रक्षा की। यही वह भावना थी जिसने आगे चलकर साम्प्रदायिक सहिष्णुता और धर्मनिरपेक्षता का वह रूप ले लिया जो जी. डी. वावू के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग वना रहा।

जी. डी. बाबू पर महामना मदनमोहन मालवीय और पंजाब केसरी लाला लाजपतराय का बहुत प्रभाव रहा। अपने काशीवास के दौरान इनके पिता राजा बलदेवदास बिड़ला मालवीयजी के बहुत निकट आये और इस प्रकार जी. डी. बाबू का भी मालवीयजी से निकट का सम्पर्क बन गया। लाला लाजपतराय से उनका परिचय 1923 के आसपास हुआ और तब से दोनों एक दूसरे के प्रति ऐसे आकृष्ट हुए कि आजन्म स्नेह बना रहा। जी. डी. बाबू का विचार था कि मालवीयजी बड़े विद्वान हैं, देशभक्ति उनमें कूट-कूट कर भरी हुई है लेकिन सामाजिक विषयों में वह कट्टर सनातनी हैं। लाला लाजपतराय उन्हें रूढ़ियों से मुक्त नये विचारों के नेता प्रतीत हुए लेकिन उनके बारे में जी. डी. बाबू का खयाल था कि वह बहुत भावुक और किसी हद तक तुनकमिजाज भी हैं।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, लालाजी, मालवीयजी का समुचित आदर तो करते थे किन्तु उनकी कई बातों से सहमत न थे। 30 दिसम्बर 1923 को जी. डी. बाबू के नाम अपने एक पत्र में लालाजी ने लिखा कि कुछ हिन्दू नेता ऐसे हैं जो एक साथ बहुत सी योजनाएं बना लेते हैं और अपनी सारी योजनाओं को विशाल रूप भी दे देते हैं पर निश्चय-निर्णय करने में बहुत समय लेते हैं। इस श्रेणी के लोगों में हमारे पूज्य नेता पण्डित मदनमोहन मालवीय भी हैं। मेरा उनके प्रति स्नेह है और मैं उनकी श्रद्धा करता हूं किन्तु उनकी जिस बात से मुझे दुख होता है वह यह है कि वह निर्णय करने और उसे कार्यरूप में परिणत करने में देर लगा देते हैं। मैं समझता हूं कि यह जमाना झटपट निर्णय कर लेने और तत्परता से काम करने का है।

यह लाला लाजपतराय ही थे जिन्होंने हिन्दुओं में एकता के साथ-साथ अछूतोद्धार के लिए काम करने की प्रेरणा सबसे पहले जी. डी. बाबू को दी। उन्होंने जी. डी. बाबू को लिखा, "यदि हम अपने हिन्दू समाज की महत्त्वाकांक्षी और साहसिक शत्रुओं से रक्षा करना चाहते हैं तो हमारे आगे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि इनमें किस प्रकार से एका हो और हम दलित वर्गों की रक्षा किस प्रकार करें।"

1927 के आते-आते लाला लाजपतराय और जी. डी. बाबू की घनिष्ठता इतनी बढ़ गयी थी कि अब उनमें सैद्धान्तिक-वैचारिक आदान-प्रदान के साथ-साथ नितान्त निजी बातों पर भी चर्चा होने लगी। इसी दौरान लालाजी ने जी. डी. बाबू के कोमल मानस से उस भावना के रहे-सहे अंकुर भी निकाल फेंके जो उग्रवादियों के सम्पर्क में आने पर इनकी मनोभूमि में घर कर गये थे लेकिन जिनकी जड़ें बहुत अधिक पनपी न थीं। लालाजी ने जहां उन्हें उग्रता का मार्ग छोड़कर

लेने से इनकार कर दिया। इसी आग्रह के वशीभूत उन्होंने गाँधीजी की नीति के विरुद्ध चलते हुए 1927 में केन्द्रीय धारा-सभा का चुनाव लड़ा और जीता, यह मानते हुए कि संसदीय अनुभव भारतीय राजनीति के लिए हितकर है। लाहौर कांग्रेस में यह प्रस्ताव पास होने पर भी कि स्वराज पार्टी के सब सदस्य धारा-सभा से इस्तीफा दे दें,जी. डी. बाबू उसमें बने रहे। फिर अप्रैल 1930 में उन्होंने धारा सभा से त्याग-पत्र दिया तो इसलिए कि ब्रिटानिया सरकार भारतीय उद्यम के विरोध में अतिवादी दृष्टि अपना रही थी, अंग्रेज उद्यमियों को देशी उद्यमियों के मुकाबले में हर तरह से प्रश्रय दे रही थी।

अपनी मध्यमार्गी दृष्टि के कारण ही जी. डी. बाबू कभी किसी ऐसे आन्दोलन के समर्थक नहीं बने जिससे हिंसा फैलने और उत्पात मचने का खतरा हो। किन्तु साथ ही उन्होंने उस कांग्रेस पार्टी का बराबर समर्थन किया, जिसने कई बार इस तरह के आन्दोलन छेड़े। इस बारे में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्होंने तत्कालीन सैक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया सर सेमुअल होर को लिखा था, "मैं गाँधीजी का परम भक्त हूं इसलिए मैंने उनके खादी आन्दोलन और हरिजनोद्धार आन्दोलन के लिए बहुत पैसा दिया है। लेकिन मैंने सिविल नाफरमानी के आन्दोलन में न कभी हिस्सा लिया है और न कभी उसके लिए पैसा दिया है। भारत सरकार की वित्तीय नीतियों का मैं अलबत्ता कटु आलोचक हूं।"

जी. डी. बाबू अतिवादी न होने के कारण इस स्थिति में रहे कि अंग्रेजों की बात कांग्रेसियों और कांग्रेसियों की बात अंग्रेजों को समझा सकें। गाँधीजी और अंग्रेज वाइसराय तथा ब्रिटेन सरकार के सैक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया के बीच वह मध्यस्थ की भूमिका अपनाने लगे। जैसा कि जी. डी. बाबू ने उन दिनों राजगोपालाचारी के नाम एक पत्र में स्वयं लिखा, "मुझे अंग्रेजों के सामने बापू की पैरवी करनी पड़ती है और बापू के सामने अंग्रेजों की।"

जब 1930 के अन्त में ब्रिटेन सरकार की ओर से दूसरे गोलमेज सम्मेलन का प्रस्ताव आया तब कांग्रेसियों की आम राय यह रही कि गाँधीजी इसमें भाग न लें क्योंकि यह सम्मेलन पूर्ण-स्वराज्य का लक्ष्य सिद्ध करने में सहायक होने वाला है नहीं। उधर जी. डी. बाबू, जिन्हें भारतीय व्यापारियों के प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया गया था, यह मानते थे कि इस सम्मेलन से स्वराज्य की दिशा में अच्छी प्रगति हो सकती है। उन्होंने गाँधीजी के सामने भी यही राय रखी। अन्ततः गाँधीजी ने गोलमेज सम्मेलन में हिस्सा लेने का निर्णय कर लिया और अगस्त 1931 में गाँधीजी, मालवीयजी आदि नेताओं के साथ जी. डी. बाबू भी 'राजपूताना' नामक जहाज से लन्दन रवाना हुए।

बाहर रह कर अपना काम देखें। 21 जुलाई को लालाजी ने जी. डी. बाबू को चिट्ठी लिखकर उन्हें तत्काल स्वदेश लौटने की सलाह दी, "मैं इस समय तुम्हारे जैसे विचारों वाले देशभक्तों का भारत से बाहर रहना ठीक नहीं समझता। एक-एक दिन महत्त्वपूर्ण है। अब राजनीति के क्षेत्र में उतरने के बाद तुम्हारे लिए राजनीतिक समस्याओं की उपेक्षा करना सम्भव नहीं।"

उस समय देश में चल रहे राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन की मुख्य-धारा से जुड़े रहने के कारण जी.डी.बाबू की अपने मान्यताएं भी परिपक्व होती जा रही थीं और वह किसी भी समस्या पर अपने विचार या राय देश के शीर्षस्थ नेताओं पर प्रकट करने में हिचकिचाते नहीं थे। 30 सितम्बर 1927 को जी. डी. बाबू ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर एक पत्र में लालाजी को स्पष्ट लिखा कि मेरी अपनी राय तो यह है कि हमारे कट्टर हिन्दू भाई मानें या न मानें,हमें धार्मिक स्वतन्त्रता स्वीकार करनी ही होगी। यदि हमें गउओं की रक्षा करनी है तो हमें दूसरे धर्म वालों की सद्भावना पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। मुझे विश्वास है कि मुसलमानों को अनावश्यक रूप से अपना शत्रु बनाकर हम गौवध में कमी नहीं कर सकेंगे। वैसे यदि हमारा भला होता हो तो मैं मुसलमानों से मोर्चा लेने में भी आनाकानी नहीं करूंगा।

इसके बाद जी. डी. बाबू के जीवन का वह दौर आरम्भ होता है जब वह सबसे अधिक महात्मा गाँधी के निकट रहे और भारतीय राजनीति के तमाम घात-प्रतिघातों के बावजूद गाँधीवाद का रंग उन पर बराबर चढ़ता चला गया। बापू से जी. डी. बाबू के इस सम्बन्ध-सम्पर्क की चर्चा हमने इसीलिए अलग से विस्तारपूर्दक की है।

समाज सुधार और राजनीति में आरम्भ से ही सक्रिय रहे जी. डी. बाबू के मन में तीसरे दशक की शुरुआत में ही यह स्पष्ट हो गया कि 'मेरा मुख्य काम स्वदेशी उद्यम की सफलता के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना है। किसी भी प्रकार की अतिवादिता मेरे इस काम में बाधक होगी। इसलिए मेरा यत्न यह रहना चाहिए कि मैं अपने को किसी भी अतिवादी स्थिति से न जोड़ूं और अतिवादियों को एक-दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश करूं।' उनकी नीति कुल मिलाकर मध्यमार्गी, सिद्धिविश्वासी और लचीली थी। काम होना चाहिए, देश आगे बढ़ना चाहिए, बाल की खाल निकालना, मोती चुगने अथवा लंघन करने वाली सलाह देना ठीक नहीं—ऐसा उनका आग्रह था। इसी आग्रह के वशीभूत उन्होंने 1926 में अंग्रेजों में उठते-बैठते रहने के बावजूद इन अंग्रेजों की 'सर' की उपाधि

कारण उन्हें दोनों ही पक्षों द्वारा सेतु की संज्ञा दी गयी, दुचित्ते अथवा दोमुंहे व्यक्ति की नहीं।

पं. मोतीलालजी से तो जी. डी. बाबू का अच्छा परिचय था लेकिन जवाहरलालजी से उनका व्यक्तिगत परिचय 1924 में ही हुआ। इसी साल एक दिन जब जी. डी. बाबू बापू के स्वास्थ्य के बारे में पूछने जुहू (बम्बई) गये तो उन्होंने जवाहरलालजी से मिलने और दोस्ती करने की सलाह दी। पण्डितजी वहीं बरामदे में बैठे कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। अपने संस्मरण में जी. डी. बाबू लिखते हैं कि पहली मुलाकात में ही उनके व्यक्तित्व की तेजस्विता का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा लेकिन साथ ही ऐसा भी लगा कि उनके हृदय में शायद ही कभी प्रवेश पा सकूं। उन्हें पण्डितजी एक अगाध समुद्र से लगे जो विशाल है, बृहत है, अपनी ओर खींचता है, अपने लिए श्रद्धा पैदा करता है और प्रभावित करता है पर जिसका अवगाहन भयप्रद है।

इसके बाद मुलाकातें भी हुईं, पत्र-व्यवहार भी। जैसा कि जी. डी. बाबू का स्वभाव था, उन्होंने अन्य राष्ट्रीय नेताओं की भांति जवाहरलालजी को समझने, उनका अध्ययन करने और उनके बारे में अन्य लोगों की राय जानने का अपना सिलसिला जारी रखा। वह बताते हैं कि एक बार इसी सिलसिले में उन्होंने महादेव भाई से पूछा कि क्या जवाहरलालजी को जानते हो? जानते हो तो बताओ वह क्या हैं? उन्होंने जवाब दिया, "जवाहर ग्रीक फिलास्फर है। वह सौन्दर्य का उपासक है। वह कभी सौन्दर्यहीन काम नहीं कर सकता।" बाद में इस पर टिप्पणी करते हुए जी. डी. बाबू ने लिखा है कि मैंने समालोचक बनकर पण्डितजी का अध्ययन किया है और मुझे लगता है पण्डितजी के सम्बन्ध में महादेव भाई का चित्रण अक्षरशः सही है।

उन्हीं दिनों जी. डी. बाबू ने पण्डितजी को पत्र लिखकर उनका ध्यान बर्मा से एक करोड़ पौण्ड ऋण दिये जाने की ओर खींचा था। इस पर पण्डितजी ने तत्काल कार्यवाही करते हुए वित्त-मन्त्रालय से पूछताछ की क्योंकि स्वयं उनको भी इस ऋण के बारे में कोई खबर नहीं थी।

मार्च 1950 में ब्रिटेन के संसद सदस्य हेनरी अस्बोर्न, जो उन दिनों युद्ध-विरोधी अभियान चला रहे थे, भारत आये। पण्डितजी ने उन्हें विचार-विमर्श और भेंट के लिए जी. डी. बाबू के पास भेजा। इसी साल जून में पण्डितजी ने पिलानी आने का कार्यक्रम 11 फरवरी का तय किया।

अपने इस दूसरे इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान जी. डी. बाबू ने उस देश के वर्ग-चरित्र को समझा और उस पर रोचक टिप्पणियां कीं, "आमतौर पर सभी जगह निर्धन और साधारण लोगों में भारत के प्रति सहानुभूति है। इस वर्ग के लोगों ने गाँधीजी का स्वागत किया है। पर एक इंग्लैण्ड और भी है उन ठाकुरों का जिनके तेवर साम्राज्यवादी हैं और जो राज करते हैं।"

सन् 1935 में भारत और ब्रिटेन के बीच, गाँधीजी और सैक्रेटरी आफ स्टेट सर सेम्युअल होर के बीच कोई रचनात्मक बातचीत हो सके इस यत्न में जी. डी. बाबू इंग्लैण्ड पहुंचे। वहां व्हाइट हाल और इंडिया आफिस में महत्त्वपूर्ण लोगों से मिले। उन्होंने सबको यह समझाने की कोशिश की कि कांग्रेसी नेता अधिनियम का किस आधार पर विरोध कर रहे हैं। ब्रिटेन वालों को भारतीयों की प्रतिक्रिया समझाने और समझौते की गुंजाइश निकालने की कोशिश में वह लार्ड लोदियन, लार्ड जेटलैण्ड, रेम्जे मैकडोनल्ड, लार्ड लिनलिथगो, प्रधानमन्त्री बाल्डविन और न्यू स्टेटमेन्ट के प्रभावशाली सम्पादक किंग्स्ले मार्टिन जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मिले।

सितम्बर 1935 में भारत लौटने पर उन्होंने महात्मा गाँधी से सम्पर्क किया और उन्हें ब्रिटेन में नेताओं से अपनी बातचीत का ब्यौरा दिया। उन्होंने कहा कि वर्तमान अधिनियम से भी बहुत कुछ सिद्ध हो सकेगा और अगर गाँधीजी ब्रिटेन के नेताओं से बात करें तो आगे इससे भी ज्यादा उपलब्धि हो सकती है। महात्माजी को जी. डी. बाबू की यह आशावादिता बहुत जमी नहीं। जो हो, जी. डी. बाबू उन्हें इस बात के लिए राजी कर ही सके कि कांग्रेस की ओर से अथवा उनकी ओर से ऐसी कोई टिप्पणी न की जाये जो समझौते में बाधक हो। तो अंततः प्रान्तीय धारा-सभाओं के चुनावों में हिस्सा लेने के लिए कांग्रेस तैयार हो ही गयी। नौ में से सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारें बनीं। राजाजी, पन्तजी, सरदार पटेल और राजेन्द्र बाबू जैसे जी. डी. बाबू के मित्रगण इन प्रान्तों में स्वयं प्रधानमन्त्री बने अथवा प्रधानमन्त्री बनाने वाले बने। स्वदेशी उद्यम को प्रोत्साहन देने वाली स्वदेशी सरकारें स्थापित हो गयीं।

चौथे दशक की राजनीति में जी. डी. बाबू एक ओर अंग्रेजों के सामने गाँधी की और गाँधी के सामने अंग्रेजों की वकालत कर रहे थे और दूसरी ओर कांग्रेस के सामने उद्योगपतियों की और उद्योगपतियों के सामने कांग्रेस की। यह बहुत ही कठिन और नाजुक भूमिका थी जिसमें कोई भी साधारण व्यक्ति देर-सवेर दोनों ओर से अस्वीकृत हो जाता। इसे जी. डी. बाबू के राजनय, व्यवहार-कौशल और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का ही प्रमाण माना जायेगा कि इस प्रकार की कोशिशों के

अमरीकी राजदूत हे सवर्न वंकर से दोपहर के भोजन के अवसर पर काश्मीर और पाकिस्तान के मसले को लेकर लम्वी वातचीत हुई तो उन्होंने उसकी एक रिपोर्ट वनाकर पण्डितजी को भेजी। पण्डितजी ने उसे पढ़ने के वाद कुछ मसलों में जी. डी. वावू की भूल सुधारी और भविष्य के लिए कुछ नये तर्क उन्हें सुझाये।

अक्टूवर 1958 में नेहरूजी ने जी. डी. वावू को एक पत्र लिखकर वैंक सम्मेलन के लिये आये हुए प्रतिनिधियों के विचारों का सार भेजने को कहा जो तत्काल भेज दिया गया।

हालांकि जी. डी. वावू ने स्वयं कभी राजनीति में सक्रिय भाग लेने का उत्साह नहीं दिखाया लेकिन वह निरन्तर प्रमुख राष्ट्रीय धारा के साथ जुड़े रहे। देश की स्वाधीनता के वाद भी कांग्रेस के प्रति उनकी आस्था और निष्ठा अक्षुण्ण रूप से वनी रही यद्यपि राजाजी और अन्य अनेक विपक्षी नेताओं से उनके निकट के व्यक्तिगत सम्वन्ध थे। स्वयं उनके परिवार के सदस्यों ने चुनाव लड़ने का फैसला किया तो जी. डी. वावू उसके प्रति भी प्रायः उदासीन ही रहे। झुंझनू से श्री राधाकृष्ण विड़ला चुनाव जीत गये तो उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता न हुई और न ही अपने सुपुत्र श्रीकृष्णकुमार विड़ला के चुनाव हारने पर किसी प्रकार का खेद उन्होंने व्यक्त किया।

राष्ट्रीय नेताओं के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक नेताओं एवं प्रमुख राजनयिकों से जी. डी. वावू का अच्छा परिचय था। उन सारे सम्वन्धों की चर्चा करना इस छोटी सी पुस्तक में सम्भव नहीं होगा लेकिन कम से कम विश्व-राजनीति में विख्यात एक व्यक्ति से उनके सम्वन्धों की चर्चा करने का लोभ मैं यहां संवरण नहीं कर पा रहा हूं। यह थे व्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल। स्वयं जी. डी. वावू का कहना है कि मैं दो व्यक्तियों को कभी नहीं भूल सकता। दोनों महान थे—एक गाँधीजी और एक चर्चिल। अपने संस्मरण में वह लिखते हैं, "चर्चिल ने आजादी के समय 1947 में मुझे कहा, 'टेल दी ओल्ड मैन आई हेव नथिंग नाउ अगेन्स्ट हिम ऑर इण्डिया ईन माई हार्ट, इफ ही कम्स टु इग्लैण्ड आई शैल वेलकम हिम। एण्ड इफ ही इनवाइट्स मी टु इण्डिया आई शैल गो।" मैंने जी. डी. वावू से पूछा, "इस पर वापू की प्रतिक्रिया क्या थी?" उन्होंने हंस कर वताया, "वापू वोले, 'इफ ही कम्स आई शैल वेलकम हिम। वट आई व़ोन्ट इनवाइट हिम।'

व्यक्तिगत स्तर पर जी. डी. वावू का चर्चिल से कुछ इतना अपनापन था कि

परस्पर विचार-विमर्श और जानकारी के आदान-प्रदान का सिलसिला पण्डितजी और जी. डी. बाबू में बराबर चलता रहता था। 1950 में यू. को. बैंक के जनरल मैनेजर श्री ठाकुर इण्डोनेशिया यात्रा से लौटे तो जी. डी. बाबू ने उनकी रिपोर्ट की एक प्रति पण्डितजी को भेजी। इसी साल नवम्बर में पण्डितजी ने यह इच्छा प्रकट की कि बिड़ला बन्धु हाउसिंग फैक्टरी बनाने में सरकार की मदद करें और परामर्श दें।

उद्योग और वाणिज्य के मामले में जी. डी. बाबू और पण्डितजी का पत्र-व्यवहार और विचारों का आदान-प्रदान तो नितान्त सहज स्वाभाविक था। हालांकि पण्डितजी कुछ समाजवादी तेवर रखते थे लेकिन वह जी. डी. बाबू के अनुभव और क्षमताओं से भली-भांति परिचित थे और इनका उपयोग करने से भी उन्होंने कभी संकोच नहीं किया। इधर जी. डी. बाबू भी पण्डितजी की प्रतिभा और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर उनके अधिकार के बहुत कायल थे और इस बारे में उनसे मार्ग-दर्शन लेने में हिचकिचाते न थे। दोनों के पत्र-व्यवहार से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है। मसलन 19 सितम्बर 1951 को नेहरूजी ने एक गोपनीय पत्र लिखकर जी. डी. बाबू को संयुक्त राष्ट्र में काश्मीर के मसले की ताजा स्थिति विस्तार से समझायी।

सरदार पटेल से नेहरूजी और जी. डी. बाबू दोनों की बहुत घनिष्ठता थी। मई 1952 में वल्लभभाई पटेल स्मारक निधि के काम ने जोर पकड़ा तो नेहरूजी और जी. डी. बाबू दोनों बड़े उत्साह के साथ उसमें जुट गये। इसी साल जुलाई में पण्डितजी ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि जी. डी. बाबू जन-सहयोग सम्बन्धी राष्ट्रीय दायित्व परामर्श समिति के सदस्य बनने को राजी हो गये हैं।

देश में व्याप्त साम्प्रदायिक तनाव से जी. डी. बाबू प्रायः चिन्तित रहते थे। उन्होंने नेहरूजी को पत्र लिखकर अनुरोध किया कि वह उद्योगपतियों से मिलकर साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के बारे में विचार-विमर्श करें। पण्डितजी को यह बात बहुत जमी नहीं। 27 मार्च 1953 को पण्डितजी ने एक पत्र लिखकर जी. डी. बाबू को परामर्श दिया कि साम्प्रदायिकता पर काबू पाने के लिए संसद सदस्यों की एक समिति बनायी गयी है। आप चाहें तो उसकी सहायता कर सकते हैं।

जी. डी. बाबू की विदेशी राजनयिकों तथा अन्य लोगों से महत्त्वपूर्ण मसलों पर जो कुछ बातचीत होती थी वह उसकी सूचना नियमित रूप से पण्डितजी को भेजते रहते और उनका मार्ग-दर्शन ग्रहण करते। अप्रैल 1957 में जी. डी. बाबू की
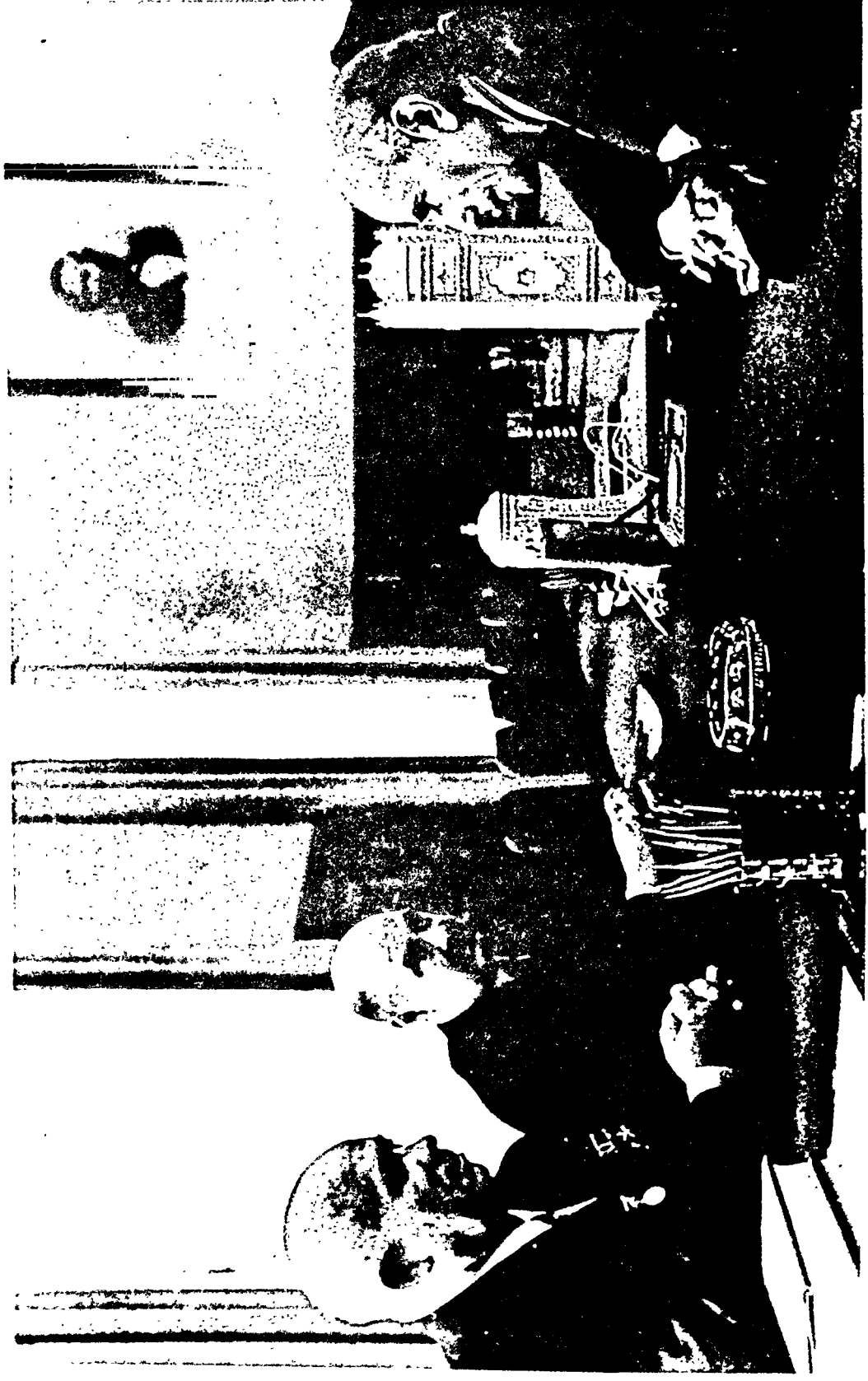
सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव के साथ

वह उनके घर खाने पर गये तो चर्चिल ने स्नेहवश उन्हें चम्मच से खाने के बारे में कुछ खास हिदायतें दीं। एक बार जब वह प्रधानमन्त्री चर्चिल की एक पार्टी में शामिल तो हुए पर उनके निकट जाकर उनसे मिले नहीं, तो बाद में अगले दिन चर्चिल ने बहुत गिला किया और कहा कि आप मेरे पास क्यों नहीं आए? मैं आपको कई लोगों से मिलाना चाहता था।

इसी प्रकार अमरीकी राष्ट्रपति आइजन हावर, सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव, युगोस्लाविया के राष्ट्राध्यक्ष मार्शल टीटो और फ्रांस के राष्ट्रपति दगाल से उनका अच्छा परिचय था और अनेक बार विभिन्न विषयों पर इन बड़ी हस्तियों से उनका लम्बा वार्तालाप हुआ।

भारत के राजनीतिक-सांस्कृतिक आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले जिन अन्य लोगों से जी. डी. बाबू की काफी घनिष्ठता रही उनमें महादेव भाई, आचार्य विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण और मोरारजी देसाई विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जयप्रकाश नारायण से जी.डी.बाबू की मुलाकात गाँधीजी के मार्फत हुई थी और शुरू में उन्होंने जे. पी. को काफी उत्साही पाया। लेकिन बाद के दिनों में, विशेष रूप से स्वाधीनता के बाद के उनके कार्य-कलापों ने, जी. डी. बाबू को उनके विषय में निरुत्साहित ही किया। जे. पी. से जी. डी. बाबू के पत्र-व्यवहार का अध्ययन करने से पता चलता है कि जयप्रकाश बाबू और प्रभावतीजी ने अनेक बार तो अपने सम्बन्धियों की सहायता के लिए भी जी. डी. बाबू को अनुरोध किया। व्यक्तिगत सहायता उन्होंने यथासम्भव की भी। लेकिन जे. पी. की राजनीतिक गतिविधियों और अन्य कार्यक्रमों से वह कभी सहमत नहीं हुए और अपनी यह असहमति उन्होंने स्पष्ट रूप से उन्हें बता भी दी। इस प्रकार के कामों में जयप्रकाश बाबू को किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देने का उत्साह भी जी. डी. बाबू ने कभी नहीं दिखाया। यहां हम मिसाल के तौर पर दो-एक उदाहरण देंगे जिससे जी. डी. बाबू और जयप्रकाशजी के सम्बन्धों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

सन् 48 में जे. पी. ने हितकारी धन्धों के लिए इण्डियन कोआपरेटिव नामक संस्था बनाने का और जी. डी. बाबू से उसका बोर्ड ऑफ डायरेक्टर का सदस्य बनने का प्रस्ताव किया। इसके उत्तर में 26 फरवरी को जी. डी. बाबू ने लिखा, "मैंने आपकी योजना का अध्ययन कर लिया है। एक ही संस्था के माध्यम से

अवगत कराया।

जी. डी. बाबू उस पीढ़ी के लोगों में से थे जो अपने सिद्धान्तों, आस्थाओं और मान्यताओं पर सदैव दृढ़ रहते हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वह इतना निकट रहे,लेकिन न कभी उसकी चकाचौंध से प्रभावित हुए और न ही कभी उसमें लिप्त होने का आकर्षण उनके मन में आया। सेतु-निर्माण की परम्परा में पदयात्रियों का आवागमन ही सेतु-निर्माता का सबसे बड़ा सन्तोष और योगदान होता है।

व्यवसाय करना और दान-पुण्य भी, यह सुनने में बहुत अच्छा लगता है, मगर है खासा अव्यावहारिक। अगर संस्था आर्थिक दृष्टि से विफल हो गयी तो उसके संस्थापक और डायरेक्टरों को दोष ही मिलेगा। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि इस तरह की योजना में विश्वास न करें और मुझसे ऐसी योजना से सम्बद्ध होने का आग्रह न करें।

इसी तरह फरवरी, 1960 में तिब्बत सम्बन्धी एशियन कान्फ्रेन्स के लिए जे. पी. ने जी. डी. बाबू से सहायता मांगी तो उन्होंने उत्तर में लिखा, "मैंने अपने कुछ मित्रों से बात की है और मुझे ऐसा पता चला है कि आप जो कुछ करने जा रहे हैं, कांग्रेस को वह नापसन्द है। इस मसले की अच्छाई-बुराई के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। बहरहाल, आजीवन मेरी वफादारी कांग्रेस से रही है तो स्पष्ट ही ऐसे राजनीतिक मामलों में कांग्रेस की नीति पर चलना ही मेरे लिए श्रेयस्कर होगा। इसलिए मुझे अफसोस है कि आपके अनुरोध की रक्षा करने की स्थिति में नहीं हूं। आपको ना करते हुए मुझे अजीब लगता है। मगर मानेंगे कि राजनीतिक मामलों में मेरी वफादारी बहुत स्पष्ट और सुनिश्चित होनी चाहिए।"

मोरारजी भाई से जी. डी. बाबू के सम्बन्धों का अध्ययन करने पर ऐसा भी प्रतीत होता है कि कदाचित आरम्भ में जी. डी. बाबू मोरारजी के गाँधीवादी विचारों और सिद्धान्तवादिता के कारण ही उनके निकट आये होंगे। लेकिन बाद में कुल मिलाकर उन्हें एक राजनेता और सिद्धान्तवादी राजनीतिज्ञ के रूप में मोरारजी भाई ने निराश ही किया, यद्यपि व्यक्तिगत स्तर पर दोनों का स्नेह सदा बना रहा।

जैसा कि जी. डी. बाबू का स्वभाव था, उन्होंने अपने मतभेद कभी मोरारजी भाई से छिपाये नहीं। मोरारजी भाई जब वित्त मन्त्री थे उस जमाने में सरकार की विभिन्न वित्तीय नीतियों पर भी लम्बा विचार-विमर्श और पत्राचार जी. डी. बाबू और मोरारजी भाई के बीच रहा। 2 मार्च, 1963 को मोरारजी भाई के बजट प्रस्तावों पर अपनी नापसन्दगी जाहिर करते हुए जी. डी. बाबू ने उन्हें लिखा, "आपका बजट लियाकत अली के बजट जैसा है। अन्तर इतना ही है कि आपकी कर दरें उससे ऊंची हैं। आप की औद्योगीकरण की आशा और कर दरों के प्रस्ताव एक दूसरे से बेमेल हैं।"

इसी प्रकार सरकार की न्यास सम्बन्धी नीतियों का अध्ययन करने के बाद जी. डी. बाबू ने एक लम्बा पत्र लिखकर मोरारजी भाई को उनकी खामियों से

गाँधीजी के साथ

बापू की छत्रछाया में

स्थान कलकत्ता। सन् 1915। हवा में सर्दी की खुनक है लेकिन नवयुवकों का जोश वातावरण में एक गरमाहट-सी पैदा किये हुए है। इतनी गहमा-गहमी, भाग-दौड़ और तैयारियां उस कर्मवीर के स्वागत के लिए हो रही हैं जिसने अफ्रीका में सत्य और अहिंसा जैसे निरापद दिखने वाले हथियारों की मदद से रंगभेदियों के छक्के छुड़ा दिये। (मोहनदास कर्मचन्द गाँधी तब बापू या महात्मा के दर्जे तक नहीं पहुंचे थे।)

गाँधी आये। एक सादा सफेद अंगरखा, धोती, सिर पर काठियावाड़ी फेंटा, नंगे पांव, न लीडरों जैसा भारी भरकम व्यक्तित्व न वैसा रौब-दाब। जिस गाड़ी में बैठकर उन्हें भूपेन्द्रनाथ बसु के घर जाना था, स्वाधीनता संग्राम के दीवाने नवयुवकों ने उसके घोड़े खोल डाले और स्वयं खींचकर उसे गंतव्य तक ले गये।

इन्हीं नवयुवकों में 20-21 वर्ष का एक मारवाड़ी नवयुवक भी था जो गाड़ी के पीछे साईस की जगह खड़ा होकर अपने गले के पूरे जोर से बराबर 'कर्मवीर गाँधी की जय' के नारे लगा रहा था। पर गाँधीजी उदासीन से चुप बैठे हुए थे, मानो सारे स्वागत और जयकार से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। गाँधीजी के बगल में बैठे उनके किसी साथी ने मारवाड़ी युवक से कहा, "उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वराण्यबोधत" ऐसा पुकारो, गाँधीजी इससे प्रसन्न होंगे। युवक ने तुरन्त अपना राग बदल लिया।

वहरहाल, यह तो आगे की बातें हैं। उस समय गाँधीजी का भारतीय राजनीति में पदार्पण ही हुआ था। वह जमाना था जबकि कोई उन्हें सन्त समझता था, कोई राजनीतिज्ञ। संकुचित विचार के अंग्रेज उन्हें छलिया, फरेबी, पेंचीदा कूट राजनीतिज्ञ समझते थे। कट्टरपंथी मुसलमानों की राय थी कि वह धूर्त और चालबाज हिन्दू है। और तो और,कई बार उनके साथी भी उनके किसी अनोखे आदेश या योजना पर अटक जाते।

स्वयं जी. डी. बाबू उन दिनों एक ओर आतंकवादियों और दूसरी ओर लाला लाजपतराय और पं. मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दूवादियों से प्रभावित थे। गाँधीजी से साक्षात्कार के बावजूद ये दोनों प्रभाव बने रहे। सन् 1916-17 में उन पर आतंकवादियों का साथ देने के आरोप में वारण्ट निकला। कहते हैं लालाजी के सुझाव पर ही उन्होंने आतंकवाद की हिमायत का रास्ता छोड़ा और अपना रुख कुछ नरम कर लिया। महामना और लालाजी के साथ वह आगे कई वर्ष तक रहे। 1924 के पत्रों तक में जी. डी. बाबू ने गाँधीजी को यह लिखा है कि मुस्लिम अत्याचार से रक्षा के लिए हिन्दुओं को हथियार उठाने चाहिए। उनका तर्क था कि जिन हिन्दुओं को आज से दो सौ साल पहले जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया था वे यद्यपि उस समय मुसलमानों से रुष्ट हुए होंगे लेकिन आज उतने ही कट्टर मुसलमान हैं जितने अरब, ईरान से आये हुए आदिम मुसलमान। तो क्या हिन्दुओं को अपनी रक्षा के लिए और जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं के उद्धार के लिए हथियार नहीं उठाने चाहिए?

11 जून 1924 को जी. डी. बाबू ने पिलानी से यह पत्र बापू को लिखा जिसमें बहुत विस्तार से उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया। 20 जून 1924 को जवाब में गाँधीजी ने यही कहा कि चाहे कार्य सिद्ध हो या न हो,हमें अहिंसक ही रहना चाहिए। अहिंसा का फल हमेशा शुभ होता है, भले ही देर में मिले। उनका तर्क था कि हम लोग सामान्यतः तात्कालिक फल देखकर धोखा खा जाते हैं। पशु-बल से न हिन्दू-धर्म का नाश हो सकता है न इस्लाम को लाभ। जहां तक 200 साल का सवाल है, यह अर्सा एक बड़े समाज के लिए बहुत लम्बी अवधि नहीं है।

धर्म ही क्यों,ऐसे और भी कई मसले थे जिन पर जी. डी. बाबू की बापू से तकरार हो जाती। पर यह मीठी तकरार थी। कटुता के लिए तो दोनों के व्यक्तित्व में कोई स्थान था ही नहीं। यहां बानगी के तौर पर एक छोटा सा उदाहरण देना उचित होगा:

यह था भारतीय स्वाधीनता संग्राम के भामाशाह घनश्यामदास बिड़ला और उस महा-संग्राम के प्रधान सेनापति मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का पहला परिचय।

गाँधीजी में उस समय के राष्ट्रीय नेताओं जैसा कोई आकर्षण, कोई चमक-दमक दूर-दूर तक दिखाई न पड़ती थी। उन्होंने कलकत्ते में जो व्याख्यान दिये उनमें भी एक तरह की नीरसता थी। न कोई जोश, न कोई विलक्षणता, न उपदेश देने की कोशिश, आवाज में न चढ़ाव था न उतार। बस एक सपाट-सी तर्ज थी। अपने इन व्याख्यानों में उन्होंने गोखले की जी भर कर प्रशंसा की जबकि जी. डी. बाबू और उनके दूसरे साथी लोकमान्य तिलक को अधिक मानते थे। गाँधीजी की यह बात भी जी. डी. बाबू को बहुत पसन्द नहीं आयी।

लेकिन गाँधी अपने ढंग के एक अनोखे नेता थे। उनके उठने-बैठने का ढंग, सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, आत्मीयता आदि कुछ ऐसी बातें थीं जो कलकत्ते के इन उत्साही युवक कार्यकर्ताओं के दिल में कहीं गहरे उतर गयीं। उन पर गाँधी का रौब तो नहीं पड़ा पर गाँधी का प्यार और अपनापन उन पर एक मोहिनी-सी डाल गया।

जी. डी. बाबू का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने गाँधीजी से पूछा कि अगर मैं किन्हीं सार्वजनिक समस्याओं पर आपसे पत्र-व्यवहार करूं तो क्या उत्तर मिल सकता है? "हां", बस गाँधीजी ने संक्षिप्त सा जवाब दिया। जी. डी. बाबू को सहसा विश्वास नहीं हुआ कि देश का इतना बड़ा नेता कच्ची उम्र के एक युवक कार्यकर्ता के पत्रों का उत्तर सचमुच देगा। कुछ दिनों के बाद उन्होंने इस बात की परीक्षा लेने के लिए अपनी कुछ शंकाएं गाँधीजी को लिख भेजीं। थोड़े दिनों के बाद उत्तर में एक पोस्ट कार्ड उन्हें मिला। इतना बड़ा नेता और जनसाधारण की तरह पोस्ट कार्ड भेजे! इसमें पैसे की किफायत तो थी ही, भाषा की भी किफायत थी। सब शंकाओं का समाधान मात्र सूत्र रूप में दिया गया था।

इसके बाद पत्राचार का जो सिलसिला शुरू हुआ वह आजन्म चलता रहा। इन पत्रों में शुष्क वैचारिक आदान-प्रदान ही नहीं,अपार स्नेह और अपनापन भी है। चिट्ठियां लिखने वालों ने किस तरह अपना दिल खोल कर कागज पर रख दिया है—इसका अनुमान 'बापू की प्रेम प्रसादी' नाम से जी. डी. बाबू और बापू के पत्रों का चार खण्डों में प्रकाशित संकलन देखकर सहज ही लगाया जा सकता है।

लालसा इस छोटे से उदाहरण में भी मुखर है। कदाचित यही दृष्टिकोण था जिसने उन्हें आजन्म राष्ट्र के औद्योगिक और आर्थिक विकास के लिए अथक परिश्रम करने की प्रेरणा दी। उनकी इसी अदम्य इच्छा ने देश में बृहत उद्योग लगाकर हमारे आर्थिक ढांचे को मजबूत करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रखा। वह वर्तमान की वास्तविकता को स्वीकारते हुए भी भविष्य के प्रति न केवल आस्थावान थे बल्कि भविष्य के निर्माण में भी उन्होंने अपने तरीके से अभूतपूर्व योगदान किया। दोनों की विचारधारा में यह एक मौलिक भेद है। शायद इसीलिए वह बापू के आर्थिक विचारों से कभी सहमत नहीं हुए और देश के आर्थिक आन्दोलन को उन्होंने अपने चिन्तन के अनुरूप रुख देने की कोशिश की।

जी. डी. बाबू और गाँधीजी का वैचारिक आदान-प्रदान निकट होने पर व्यक्तिगत रूप से अन्यथा पत्र-व्यवहार द्वारा बना रहता था। व्यक्तिगत और सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर उन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। एक ओर जहां गाँधीजी के अपार स्नेह से अभिभूत होकर जी. डी. बाबू ने उन्हें अपने पिता के समान माना वहां गाँधीजी ने 20 जुलाई 1924 के एक पत्र में जी. डी. बाबू को अपना नीति रक्षक घोषित कर दिया था, वह भी एक आलोचना भरे पत्र के उत्तर में।

यों तो जी. डी. बाबू का बापू से साम्प्रदायिक-सद्भाव, ब्रह्मचर्य, प्राकृतिक चिकित्सा, खादी ग्रामोद्योग, आहार आदि-आदि अनेक विषयों पर पत्र-व्यवहार चलता रहता था लेकिन वह कभी उनके उत्तर से पूरी तरह संतुष्ट न हुए, न ही अपना मतभेद छिपाने की कोई कोशिश की। पर विचारक गाँधी ने भले ही उन्हें थोड़ा निराशा किया हो, व्यक्ति गाँधी उन्हें बहुत प्रेरणादायक प्रतीत हुए।

1923 से इस बात को लेकर राष्ट्रीय नेताओं में तीव्र मतभेद था कि अंग्रेजों ने जो विधायिकाएं बनायी हैं, उनमें योगदान दिया जाए अथवा नहीं। क्या धारा-सभाओं में जाकर भीतर से विरोध करना बेहतर होगा या कि उनमें हिस्सा न लेना ही विरोध जताने का सही ढंग होगा। जिन लोगों ने चुनाव लड़ा था उन्हें भी 1926 तक अंग्रेजों की बनायी हुई विधायिकाओं से गहरी निराशा हो गयी थी। कांग्रेस, खिलाफत और स्वराज्य पार्टियों ने केन्द्रीय धारा-सभा का बहिष्कार कर दिया। गाँधीजी भी इसी पक्ष में थे। उधर जी. डी. अपने दो राजनीतिक गुरुओं मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय की प्रेरणा से सेन्ट्रल असेम्बली का चुनाव लड़ने की सोच रहे थे। स्वभावत: गाँधीजी से उनका मतभेद हुआ। अगर मालवीयजी गुरू की हैसियत रखते थे तो गाँधीजी गोविन्द की। इसलिए जी. डी.

उन्हीं दिनों की बात है—एक बार जी. डी. बाबू ने बापू से पूछा,आपकी राय में हर मनुष्य को खाने पहनने और सुख से रहने के लिए कितने व्यय में निर्वाह करना चाहिए? गाँधीजी का अनुमान था पच्चीस रुपये में जबकि ज़ी. डी. बाबू के विचार से 100 रुपये महीने से कम में कोई व्यक्ति अपने जीवन की सब आवश्यकताएं पूरी नहीं कर सकता था। दोनों के आवश्यकता के मापदण्ड अलग-अलग जो थे। बापू तो दन्त मंजन, साबुन, ब्रश और जूते तक को आवश्यकता की वस्तुओं में नहीं गिनते थे। उनके विचार में अगर किसी को ज्यादा पैसा मिलता हो तो उसका उपभोग करना फिजूलखर्ची ही माना जायेगा।

जी. डी. बाबू सहमत नहीं हुए। बोले, "महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय 200 रुपये औसत या इससे अधिक प्रतिमास हो जाये तो आपको क्या उज्र है?"

गाँधीजी कुछ आवेश में आ गये बोले, "जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूं। 50 रुपये से अधिक जो अपने लिये खर्च करते हैं वे लुटेरे हैं।"

जी. डी. बाबू, "यदि 500 या फिर 100 रुपये से अधिक खाने वाले को लुटेरा समझें तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी आदि सब लुटेरे हैं?"

गाँधीजी, "इसमें क्या शक है!"

यह एक हल्का-फुल्का सा उदाहरण है जिसमें एक संत राजनेता और एक आर्थिक-औद्योगिक नेता के वार्तालाप का कुछ अंश मैंने उद्धृत किया है। हालांकि यह रोजमर्रा की एक सामान्य बातचीत है। लेकिन इसमें दोनों के दृष्टिकोण और विचारधारा का अन्तर स्पष्ट झलकता है। बापू ने देशवासियों को कठिन परिस्थितियों में कम से कम साधनों के होते हुए भी सन्तोष के साथ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी। वह चाहते थे कि हम सब अपना सुख-दुख बांटकर रखें। उतना ही उपभोग करें जितने साधन हमारे देश में उपलब्ध हैं।

जी. डी. बाबू की यह जिज्ञासा और प्रश्न उनके अपने दृष्टिकोण की झलक देते हैं। इसमें वर्तमान के साथ-साथ भविष्य को और अधिक सुखकर बनाने की आकांक्षा भी छिपी है। यह स्पष्ट है कि उन्हें जितना उपलब्ध है, उसमें पेट काटकर जीने मात्र से सन्तोष न था। जनसाधारण के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की तीव्र

लिए उपयुक्त नहीं है? यदि आप इस वातावरण में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करें तो सफल मनोरथ होना कठिन नहीं है। मुझे तो कलकत्ते वाले प्रस्ताव अच्छे लगे, पर पं. मालवीयजी की राय भिन्न है। उनका कहना है कि वह दिल्ली की एकता परिषद् में पास हुए प्रस्तावों से आगे बढ़ने को तैयार नहीं हैं। मेरा अपना विचार तो यह है कि हिन्दू-मस्लिम ऐक्य का आधार धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता होना चाहिए।"

कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव लाहौर में पास कर दिया और सभी राष्ट्रवादियों से कहा कि वे असेम्बलियों से त्यागपत्र दे दें और सिविल नाफरमानी के आन्दोलन में हिस्सा बटायें। जी. डी. बाबू आरम्भ में इससे असहमत हुए क्योंकि उनका विचार था कि राष्ट्रीय नेताओं को संसदीय अनुभव प्राप्त करने का अवसर खोना नहीं चाहिए। बहरहाल अप्रैल 1930 में उन्होंने केन्द्रीय धारा-सभा से त्यागपत्र दे दिया। गाँधीजी को खबर मिली तो उन्होंने 10 अप्रैल 1930 को दांडी से लिखा :

"आप लोगों के इस्तीफा से मुझको बड़ा हर्ष हुआ है। यह पत्र रात्रि को दो बजे लिखवा रहा हूं क्योंकि साथी लोग खबर लाये हैं कि आज ही मुझको उठा ले जायेंगे...."

1928 से जी. डी. बाबू का स्वदेशी और खादी को लेकर गाँधीजी से कुछ मतभेद था। विदेशी कपड़े का बहिष्कार वह उचित समझते थे क्योंकि इससे देसी उद्योग पनप सकता था और लोगों को रोजगार मिल सकता था। लेकिन वह यह मानते थे कि इस बारे में मिल मालिकों से अनुरोध किया जा सकता है, कोई जबरदस्ती नहीं। मिल में बनी हुई खादी को खादी न मानना जी. डी. बाबू को दुराग्रह प्रतीत होता था। उनका तर्क था कि सस्ती चीज क्यों ठुकरायी जाये। 11 अप्रैल 1928 को विस्तार से इस विषय पर बापू को लिखे अपने पत्र में जी. डी. बाबू ने लिखा :

"...आपने 5 अप्रैल के यंग इण्डिया में कहा है कि लोगों ने मिलों द्वारा तैयार खादी अधिकतर इस भ्रम में खरीदी है कि वह असली खादी है और उस पर कांग्रेस की छाप लगी है। ऐसा आपने पहली बार नहीं कहा है, न यह बात कहने वाले आप पहले व्यक्ति थे। पर क्या आप खादी प्रचार कार्य के प्रभाव का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन नहीं कर रहे हैं? इसमें संदेह नहीं कि आपके प्रचार के फलस्वरूप निम्न और उच्चतर वर्गों के लोगों की रुचि में क्रान्ति-सी हो गई है और वह मोटे से मोटा

बाबू धर्म-संकट में पड़ गए। मगर गाँधीजी ने उन्हें यह लिखकर मुक्ति दी, "अगर तुम यह समझते हो कि तुम विधायिकाओं के लिए चुनाव न लड़ने के विषय में मुझसे वचनबद्ध हो तो तुम्हें अपने मस्तिष्क से यह गलतफहमी निकाल देनी चाहिए। काउंसिल के लिए चुनाव लड़ने या न लड़ने का फैसला तुम्हें मात्र इस आधार पर करना चाहिए कि जनता की सेवा किस तरह बेहतर हो सकेगी?"

यद्यपि इस चुनाव के दौरान जी. डी. बाबू की स्वराज्य पार्टी के नेता मोतीलालजी नेहरू से कटुता हो गई और उन्होंने गाँधीजी से शिकायत की कि घनश्यामदास बिड़ला अपने पैसे की ताकत से कांग्रेस को मालवीय और लाला लालपतराय की जेब में डाल देना चाहते हैं, तथापि जी. डी. बाबू के प्रति गाँधीजी के स्नेह में कोई अन्तर नहीं आया। गाँधीजी इस बात से सन्तुष्ट हुए कि जी. डी. बाबू ने अंग्रेजों द्वारा प्रस्तावित 'सर' का खिताब लेने से इनकार करके अपनी राष्ट्रवादिता का परिचय दिया।

जब 1927 में जी. डी. बाबू अपनी पहली विदेश-यात्रा पर निकले उस अवसर पर 16 मार्च 1927 को अपने एक पत्र में गाँधीजी ने उन्हें बड़ी विस्तृत सलाह दी। उन्होंने लिखा कि यूरोप में स्वस्थ रहने के लिए मैं कुछ नियमों का पालन आवश्यक समझता हूं जैसे अपरिचित खुराक न लेना, यूरोपियनों की तरह 6-7 बार खाने की अपेक्षा तीन बार ही खाना, रात को 8 बजे के बाद न खाना, अधिक चाय इत्यादि न पीना, कम से कम 6 मील रोज पैदल घूमना, अंग्रेजी कपड़े न पहनना, यूरोप में गरीब लोगों से परिचय करना, मानसिक व्यभिचार से बचना, गीता और रामायण का अभ्यास बनाये रखना आदि इस सलाह में शामिल थे।

मई में जी. डी. बाबू विदेश गये और अक्टूबर में लौट आये। लौटने पर उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और पिलानी से रुग्णावस्था में उन्होंने महात्माजी को असहयोग आन्दोलंन फिर शुरू करने के विषय में पत्र भेजा। पहले 11 अक्टूबर को काशी से लिखे पत्र में उन्होंने बापू से कहा कि जिस पुनीत काम में वह लगे हैं उसे जारी रखें। धन के अभाव में कहीं काम रुकता हो तो बिना संकोच के लिखें। वैसे भी कुछ-कुछ भेजता ही रहूंगा। इसके बाद 8 दिसम्बर 1927 को पिलानी लौट आने पर उन्होंने गाँधीजी से दुबारा अनुरोध किया कि स्वाधीनता आन्दोलन को तेज करने और हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने का समय आ गया है। अपने पत्र में वह लिखते हैं, "इस पत्र के लिखने का एकमात्र उद्देश्य शाही कमीशन की चर्चा करना है। आपको जनता के सभी वर्गों में एकता की नयी भावना दिखाई देने से अवश्य प्रसन्नता हुई होगी। क्या यह समय आपके मैदान में कूदने के

हुई। एक तो उन्होंने उन्हें पूर्ण विश्राम करने और दिल्ली न जाने का आग्रह किया। इसके अलावा 7 फरवरी 1928 के अपने पत्र में 10-15 दिन तक उपवास करने की भी राय आश्रम से लिख भेजी। गाँधीजी ने लिखा कि बेहतर तो यह होगा कि आश्रम में आकर 'उपवास शास्त्रज्ञ' की देखरेख में उपवास करो। पर अगर शास्त्रज्ञ को पिलानी में बुलाना चाहो तो वह प्रबन्ध भी हो सकता है। इसके अलावा उन्होंने मालवीयजी और लाला लाजपतराय को भी लिख भेजा कि घनश्यामदासजी को दिल्ली न बुलाया जाये, क्योंकि यह उनके स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होगा।

स्वास्थ्य हो या आचार-व्यवहार, धर्म-नीति हो या राजनीति जी. डी. बाबू और महात्मा गाँधी में विचारों का आदान-प्रदान बराबर देखने को मिलता है। स्वाधीनता-संग्राम की कई कठिन परिस्थितियों में जी. डी. बाबू ने बहुत व्यावहारिक सलाह गाँधीजी को दी और बापू ने उस पर अमल किया। नवम्बर 1929 की बात है–जी. डी. बाबू पिलानी में थे। उस समय देश को पूर्ण औपनिवेशिक दर्जा मिलेगा कि नहीं और गाँधीजी को ब्रिटिश कैबिनेट से भेंट करने के लिए जाना है अथवा नहीं, इस बात को लेकर राष्ट्रीय नेताओं में बहुत मतभेद था और कोई निर्णय होता दिखाई नहीं देता था। जी. डी. बाबू ने इस पर बड़े मनोयोग से विचार किया और 11 नवम्बर 1929 के अपने पत्र में गाँधीजी को लिखा, "मेरी राय का निचोड़ यह है कि आपका ब्रिटिश कैबिनेट से मिल लेना हमारे लिए बहुत हितकर है और इस मौके को हमें छोड़ना नहीं चाहिए। यदि कान्फ्रेन्स असफल भी हो जाए तो भी हमारा लाभ ही है...।"

जी. डी. बाबू गाँधीजी को पहली परिषद् में भाग लेने के लिए राजी करने में तो असफल रहे, पर अंग्रेजों और गाँधीजी के बीच कड़ी का काम करने का अपना कर्तव्य वह बराबर निभाते रहे। उनका विचार था कि अंग्रेजों से संवाद बनाये रखने पर स्वराज्य प्राप्ति के काम में तीव्रता लायी जा सकती है। जुलाई 1932 में वे इसी उद्देश्य से सर जौन एंडरसन से मिले। सर एंडरसन तो गाँधीजी से मिल कर कई पेचीदा मसलों पर बातचीत करना चाहते थे पर दुविधा यह थी कि वायसराय लार्ड विलिंग्डन को प्रान्तीय गवर्नरों के गाँधीजी से मिलने पर आपत्ति थी। इसलिए जी. डी. बाबू को दोनों की मुलाकात कराने में काफी कठिनाई हुई। लेकिन अन्ततः वह सफल रहे।

1932 में गाँधीजी ने जेल में आमरण अनशन आरम्भ किया तो जी. डी. बाबू स्वभावतः बहुत विचलित हो गये। उन्होंने तुरन्त गाँधीजी की रिहाई के लिए सर

कपड़ा पहनने में भी लज्जा या हीनता का अनुभव नहीं करते हैं। पर मेरी धारणा है कि लोग मिलों द्वारा तैयार खादी को इस भ्रम के वशीभूत होकर कभी नहीं खरीदते हैं कि वह शुद्ध खादी है। यदि आप फेरी लगाने वाले वस्त्र-विक्रेताओं को मिलों की खादी और शुद्ध खादी लेकर गांव में भेजें और वे ग्रामीणों को दोनों की क्वालिटी और दोनों की कीमतों का अन्तर समझा कर बतायें तो मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उनमें से 80 प्रतिशत अपेक्षाकृत अधिक सस्ता और अधिक टिकाऊ कपड़ा ही पसन्द करेंगे। लोगबाग मिलों द्वारा तैयार खादी उसके अधिक सस्ते और टिकाऊ होने के कारण ही खरीदते हैं और यह समझ कर खरीदते हैं कि यह कपड़ा स्वदेश में तैयार हुआ है।

"मैं स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव को तथा उसके द्वारा मिलों की समृद्धि को घटाकर बताना नहीं चाहता हूं। पर मेरा अनुरोध है कि आप उसके प्रभाव की बात कृपया इतनी बढ़ा-चढ़ा कर न कहें। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मिल मालिकों ने अपने उद्योग को सफल बनाने के मामले में ठोस काम किया है। यदि वे सस्ता कपड़ा तैयार करने में सफल नहीं होते तो स्वदेशी सम्बन्धी सारे उपदेश-उद्बोधन व्यर्थ सिद्ध होते।"

यह उन दिनों की बात है जब जी. डी. बाबू मात्र चार मिलों के मालिक थे। तब भी उन पर समाजवादी तत्वों की ओर से यह आरोप लगते थे कि वह अपने श्रमिकों का शोषण कर रहे हैं। ऐसे व्यक्ति के साथ गाँधीजी का नाम जुड़ना उन्हें पसन्द नहीं था। गाँधीजी ने इस सम्बन्ध में जी. डी. बाबू को लिखा और जी. डी. बाबू ने उसका समुचित उत्तर दिया। गाँधीजी ने चाहा कि बिड़ला बन्धु वाणिज्य व्यापार जगत से नाता ही तोड़ लें। लेकिन साथ ही यह भी माना कि ऐसी आशा करना ज्यादती होगी।

एक ओर जहां जी. डी. बाबू गाँधीजी के ग्रामोद्योग वाले विचार से बहुत सहमत न थे वहां व्यक्तिगत रूप से वे गाँधीजी के ऐसे पक्के अनुयायी भी निकले कि खादी पहनने और सूत कातने को उन दिनों में अपने जीवन का एक अभिन्न अंग बना लिया। उनका यह उत्साह देखकर गाँधीजी ने मार्च 1925 में उन्हें एक चरखा उपहार में दिया। जी. डी. बाबू ने उस चरखे पर सूत काता तो गाँधीजी को भेंट स्वरूप भेज दिया। बापू बहुत प्रसन्न हुए। तत्काल जवाब लिखा, "आपका सूत अच्छा है। जिस पवित्र कार्य को आपने आरम्भ किया है उसको हरगिज न छोड़ें।"

फरवरी 1928 में जी. डी. बाबू अस्वस्थ हो गये तो गाँधीजी को काफी चिन्ता

की मर्जी पर नहीं।

विल पेश करने की अनुमति सरकार से मिलने के बारे में तुम्हें जो आशा है वह ठीक ही निकलेगी।"

1933 में जब फिर जी. डी. बाबू का स्वास्थ्य कुछ गड़बड़ रहने लगा तो बापू चिन्ता में पड़ गए। इस बार तो उन्होंने उपवास इत्यादि का उपदेश भी नहीं दिया। 21 जनवरी 1933 को पूना के यरवदा केन्द्रीय जेल से जी. डी. बाबू के नाम अपने पत्र में बापू ने लिखा, "तुम्हारे स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचार चिन्ता उत्पन्न करते हैं। यदि कोई विश्वसनीय डाक्टर ऑपरेशन की सलाह देता है तो क्यों नहीं करा डालते? मुझे अनुभवों ने सिखाया है कि नपी-तुली खुराक और उपवास की उपयोगिता भी सीमित ही है। उनसे सदैव ही इच्छित फल प्राप्त नहीं होता और जितने आराम की जरूरत हो लो। ऐसे मामलों में टाल-मटोल करना पाप है।"

जी. डी. बाबू को बापू की सलाह अच्छी तो लगी पर उस पर अमल नहीं कर पाये। अपना व्यवसाय, स्वाधीनता-संग्राम के काम, हरिजन-सेवा, हिन्दी और अंग्रेजी 'हरिजन' के लिए आर्थिक सहायता के अलावा उसके प्रबन्ध और सामग्री की देखरेख, उसके लिए स्वयं भी लिखना इत्यादि-इत्यादि इतने काम थे कि उन्हें आपरेशन कराने के लिए समय ही नहीं मिल पाता था। गाँधीजी को पता चला तो वह थोड़े नाराज हुए। यरवदा जेल से ही 23 मार्च 1933 को उन्होंने लिखा कि "जब तक ऑपरेशन के लिए समय नहीं निकालोगे तुम्हें समय नहीं मिलेगा। कार्य-व्यस्त आदमियों का ऐसा ही होता है...। मुझे आशा है कि तुम इलाज के लिए एक महीना अलग निकाल लोगे और डाक्टर के साथ पहले ही तय कर लोगे और यह भी संकल्प कर लोगे कि डाक्टर को दिया हुआ वक्त टल न जाए।"

स्वराज्य पार्टी ने कुछ साल पहले केन्द्रीय धारा सभा का परित्याग कर दिया था। 1934 में वह फिर बनी। उन दिनों कांग्रेस के साथ उसके सम्बन्धों को लेकर बड़ी उद्विग्नता थी। जी. डी. बाबू भी इससे काफी चिन्तित थे। 14 अप्रैल 1934 को अपने पत्र में उन्होंने सारी समस्या पर अपने विचार विस्तार से व्यक्त करते हुए बापू को लिखा। इसमें उन्होंने अनुपाती प्रतिनिधित्व और स्वराज्य पार्टी के नियन्त्रण के मुद्दों को विशेष रूप से उठाया। उनका ख्याल था कि या तो कांग्रेस को स्वराज्य पार्टी को पूरी तौर से अपने काबू में रखना चाहिए या फिर उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए।

तेज बहादुर सप्रू, सर सेम्युअल होर और लार्ड लोदियन को तार भेज कर अनुरोध किया कि बापू को तुरन्त रिहा करा दिया जाए, "क्योंकि उनकी मृत्यु भारत के लिए ही नहीं, समूचे साम्राज्य के लिए दुर्भाग्य की बात होगी।"

गाँधीजी जेल में रहते तो भी उन्हें जी. डी. बाबू के कुशल-क्षेम की चिन्ता बनी रहती। 1932 में जी. डी. बाबू को नींद न आने की शिकायत बनी रहती थी। गाँधीजी ने यरवदा जेल से ही औषधियां न लेने, प्राकृतिक उपाय बरतने और भोजन में परिवर्तन करने की सलाह दी। साथ ही यह भी पूछा कि मैंने जिस ढंग से बताया उस ढंग से तुम प्राणायाम कर रहे हो कि नहीं? कुछ आसानी से किये जाने वाले आसनों से और गहरा सांस लेने से पाचन शक्ति को कुछ सहायता मिलती है और नींद भी आती है।

गाँधीजी और जी. डी. बाबू का जिन मामलों में पूरा-पूरा तालमेल बैठता था उनमें समाज सुधार मुख्य है। वह हरिजनों की सेवा के लिए खुशी-खुशी हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष बने और 1932 में हरिजन पत्र निकालने की जिम्मेदारी भी अपने ऊपर ले ली। लेकिन इसमें एक प्रमुख कठिनाई यह थी कि पत्र के सम्पादन के लिए कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिल रहा था। जी. डी. बाबू ने जब यह कठिनाई गाँधीजी के सामने रखी तो बापू ने सम्पादन का दायित्व स्वयं अपने ऊपर ले लिया और बहुत शीघ्र ही यह पत्र लोकप्रिय हो गया।

उस समय की धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हरिजनों का मन्दिर प्रवेश कितना टेढ़ा मसला होगा। निस्संदेह हिन्दू-धर्म और संस्कृति के अनन्य उपासक जी. डी. बाबू को भी इस मसले ने धर्म-संकट में डाल दिया होगा। इस विषय में एक बिल पास करने की बात उन दिनों चल रही थी। दिसम्बर 1932 में जी. डी. बाबू ने गाँधीजी को पत्र लिखकर सूचित किया कि सरकार इस बारे में स्वीकृति दे देगी इसमें संदेह नहीं। लेकिन यह घोषणा कब होगी, बताना कठिन है। मैंने अभी बिल को देखा नहीं है। यदि बिल में अनुमति मात्र देने की व्यवस्था होगी तो वह काफी नहीं होगा।

पहली जनवरी 1933 को बापू ने यरवदा केन्द्रीय जेल से जवाब में लिखा, "मैंने बिल देख लिया है, बिल मन्दिर प्रवेश की अनुमति देने वाला इन अर्थों में कहा जा सकता है कि वह सारे मन्दिरों को अस्पृश्यों के लिए खोलने की घोषणा नहीं करता है पर मन्दिर उपासकों के बहुमत से खोले जा सकते हैं, ट्रस्टियों

क्योंकि लिनलिथगो को आमतौर पर एक सदाशयी और ईमानदार व्यक्ति माना जाता था। जी. डी. बाबू की उनसे पहली मुलाकात 5 अगस्त 1936 को हुई। लगभग एक घण्टे की इस चर्चा में उन्होंने वाइसराय को स्वाधीनता संग्राम की वस्तुस्थिति से अवगत कराया और गाँधीजी के साथ उनके वैचारिक आदान-प्रदान का महत्त्व भी वाइसराय को समझाने में सफल रहे। वार्तालाप के अन्त में लिनलिथगो ने जी. डी. बाबू से कहा, "गाँधीजी से कह दीजिए कि मेरी राय में राष्ट्रीयता अपराध नहीं है और मैं सहज दृष्टिकोण अपनाने में समर्थ हूं।" इस एक वाक्य से ही अनुमान किया जा सकता है कि वाइसराय को पहली मुलाकात में ही प्रभावित करने और अपने अनुकूल बनाने में जी. डी. बाबू को किस हद तक सफलता मिली।

1937 की गर्मियों में जी. डी. बाबू एक बार फिर लन्दन गये और वहां उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के विषय में व्यक्तिगत प्रचार और वरिष्ठ अंग्रेज राजनेताओं से चर्चा का दौर चलाया। यह वह दौर था जब राष्ट्रीय नेताओं और अंग्रेजों के बीच परस्पर सन्देह और अविश्वास की खाई कुछ और भी गहरी हो गयी थी। महादेव भाई ने जी. डी. बाबू को लन्दन में पत्र लिखकर सावधान किया कि लार्ड हैलीफैक्स हमारे साथ दुरंगी चाल चल रहे हैं। वह भारत के मित्र नहीं हैं। लेकिन वस्तुस्थिति का जायजा लेने और वास्तविकता को परखने में कुशल जी. डी. बाबू इससे सहमत नहीं हुए। लन्दन में अपनी बातचीत और व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर 16 जून 1937 को उन्होंने महादेव भाई को लिखा कि मेरी राय में तो वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। यदि दोनों पक्षों के विचारों को इस प्रकार से सजाया जा सके कि वह दोनों के लिए ग्राह्य हों तो बात बन सकती है।

समय के साथ गतिरोध कम हुए। कांग्रेसी नेताओं ने दुविधा छोड़ दी और बापू के कहने से कार्यकारिणी ने 7 प्रान्तों में पद ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। जी. डी. बाबू ने महसूस किया कि हमारी मांगें कम से कम आंशिक रूप से मान ली गयी हैं। वह नये उत्साह से अपने काम में डट गये। काम बड़ा टेढ़ा था। अपने संस्मरणों में वह एक जगह लिखते हैं, "कभी-कभी हताश हो जाता हूं। पर साथ ही मुझे इस विचार से सांत्वना मिलती है कि मेरा यही पुरस्कार क्या कम है कि मैंने बापू के आगे अंग्रेजों का पक्ष लिया और अंग्रेजों के आगे बापू का। यह काम भी बड़ा रोचक है। मेरा ख्याल है कि जब इन दोनों शक्तियों में मेल हो जायेगा तो संसार का बड़ा उपकार होगा। अपने इस विश्वास से मुझे प्रोत्साहन मिलता है।"

एक ओर जी. डी. बाबू हरिजन-उद्धार और कांग्रेस की गतिविधियों में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे तो दूसरी ओर राष्ट्रीय नेताओं और अंग्रेजों के बीच कड़ी का काम करते हुए एक दूसरे के विचारों को समझने-समझाने के उनके प्रयत्न भी निरन्तर जारी थे। 23 अप्रैल 1934 को उन्होंने लार्ड हैलीफैक्स को एक विस्तृत पत्र लिखकर इस बात पर गहरा क्षोभ व्यक्त किया कि अंग्रेजों की प्रतिक्रियाओं के प्रति इस समय जितना अविश्वास दिखाई देता है और वातावरण में जितनी कड़वाहट दृष्टिगोचर होती है उतनी पहले कभी नहीं थी। उन्होंने इस बात पर भी बहुत दुख प्रकट किया कि गाँधीजी को ठीक से न समझते हुए कुछ अंग्रेज कभी उन्हें अव्यावहारिक, अरचनात्मक, कल्पनावादी बताते हैं, तो कभी बेईमान, चालाक और कपटी राजनीतिज्ञ। उन्होंने लार्ड हैलीफैक्स को स्पष्ट लिखा, "मेरी राय में तो इस समय सबसे अधिक आवश्यक वस्तु अपेक्षाकृत अच्छे विधान की नहीं, अपेक्षाकृत अधिक पारस्परिक अवबोध की है।"

पत्र का वांछित प्रभाव हुआ—11 मई 1934 को हैलीफैक्स ने लन्दन से जी. डी. बाबू को लिखा कि विश्वास रखिये आजकल की कठिन परिस्थिति में भी भारत को सन्तोष और शान्ति देने वाले हर मामले में सद्भावना पैदा कराने के काम में जितनी भी सहायता मैं दे सकता हूं,अवश्य दूंगा।

जी. डी. बाबू देश के स्वाधीन होने तक भारतीय स्वाधीनता संग्राम के राजदूत की भूमिका बराबर निभाते रहे। इसमें न केवल पत्राचार और भारत में अंग्रेजों से मिलकर गाँधीजी तथा अन्य नेताओं के विचार उनके सामने रखना और अंग्रेजों की विचारधारा को राष्ट्रीय नेताओं तक पहुंचना शामिल था बल्कि वह इसके लिए इंग्लैण्ड भी गये। 1935 की गर्मियों में वह एक बार फिर इंग्लैण्ड गये और वहां ब्रिटेन के अर्थमन्त्री श्री बटलर, सर जार्ज सुष्टर, सर बेसिल ब्लेकेट, सर हेनरी पेजक्राफ्ट इत्यादि अनेक प्रमुख अंग्रेज नेताओं से उन्होंनें भारतीय स्वाधीनता संग्राम के बारे में विस्तार से चर्चा की और उसकी विस्तृत रिपोर्ट गाँधीजी को भेजी। उनके इस लन्दन प्रवास के दौरान, जो सितम्बर 1935 तक चला, जी. डी. बाबू का शीर्षस्थ अंग्रेज नेताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क और भारत सम्बन्धी प्रचार का आदेश बराबर जारी रहा। सितम्बर में भारत लौटने पर उन्होंने सबसे पहला काम यह किया कि सीधे वर्धा जाकर गाँधीजी को अपने लन्दन प्रवास की विस्तृत रिपोर्ट दी।

लार्ड लिनलिथगो वाइसराय बनकर भारत आये तो देश की स्वाधीनता के लिए अंग्रेजों के साथ बातचीत चलाने वालों को एक नया उत्साह महसूस हुआ

पूछा, "एक दिन ठहर कर नहीं जा सकते?" बापू बोले, "नहीं, जाना जरूरी है।" फिर उन्हें कुछ ख्याल आया और दुबारा पूछा, "क्यों?" इस पर जी. डी. बाबू ने बताया कि घर में कोई बीमार है, मृत्यु शैय्या पर है, आपके दर्शन करना चाहती हैं। वह तुरन्त बोले "मैं अभी चलूंगा।" जी. डी. बाबू ने बहुत मना किया कि इस जाड़े में आपको कष्ट नहीं दे सकता। उन दिनों मोटरें भी खुली होती थीं, और ऊपर से जोर की हवा। पर वह नहीं माने। वहां से कोई 15 मील की दूरी पर खुली गाड़ी में गये। रोगिणी के पास बैठकर उसे सांत्वना दी। फिर वापस दिल्ली कण्टोनमेण्ट आकर गाड़ी पकड़ी। यह रोगिणी और कोई नहीं, जी. डी. बाबू की धर्मपत्नी थीं, स्वर्गीय महादेवीजी जो अपनी अन्तिम यात्रा के पहले बापू के दर्शन करने को लालायित थीं।

इस प्रकार 42 के शुरू में जी. डी. बाबू एक बार वर्धा गये तो बापू ने उन्हें देखते ही कहा, "तुम्हारा स्वास्थ्य गिरा हुआ लगता है। मेरे पास सेवाग्राम आ जाओ और वहां कुछ दिन रहो। मैं तुम्हारा उपचार करना चाहता हूं।" उनके बहुत मना करने पर भी बापू नहीं माने और उन्हें सेवाग्राम ले गये। अपनी अत्यन्त व्यस्त दिनचर्या में से पर्याप्त समय निकाल कर उनका उपचार किया।

जी. डी. बाबू ने राजनीतिक अभियानों में हमेशा गाँधीजी का साथ दिया। आर्थिक आजादी की लड़ाई के लिऐ गाँधीजी के पास समय नहीं था इसलिए जी. डी. बाबू ने अपना सारा ध्यान उसी में केन्द्रित किया। यह सही है कि उनके ऐसे सम्पर्क थे, इतना प्रभाव था कि वह चाहते तो राजनीति में आगे बढ़ सकते थे लेकिन उनकी इस ओर प्रवृत्ति थी ही नहीं। धारा-सभा से इस्तीफा देते समय उन्हें मालूम हो चुका था कि आर्थिक-शोषण सबसे भयंकर है और उससे लड़ने की ओर मुझे ध्यान देना चाहिए। यों भी उस जमाने में विधान-सभाओं का मंच बहुत ही सीमित महत्त्व और प्रभाव का था। वहां रहना एक प्रकार से समय नष्ट करना था।

गाँधीजी से उनके अनेक मुद्दों पर मतभेद थे, किन्तु इसके बावजूद व्यक्तिगत रूप से जी. डी. बाबू सदा उनके प्रति श्रद्धालु रहे। उदाहरण के लिए जी. डी. बाबू एक उद्योगपति के रूप में महात्माजी की खादी और ग्रामोद्योग नीति से सहमत न थे। लेकिन बापू के आदेश मिलने पर उन्होंने 1924-25 से लेकर देश के स्वाधीन होने तक बराबर खादी पहनी और अपने परिवार को पहनायी।

जी. डी. बाबू ने देश के हित के लिए बहुत काम किये किन्तु उनके क्रियाकलापों का रंग राजनीतिक न था। उनके कुछ प्रशंसक तो यहां तक कहते हैं

दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ तो लार्ड लिनलिथगो ने अपने उतावलेपन में विधान मंडल से परामर्श किये बिना ही भारत को युद्ध में घसीटने की भूल कर डाली। इससे अंग्रेजों और राष्ट्रीय नेताओं के सम्बन्धों में एक और कड़वी गांठ पड़ गयी। कांग्रेसी मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिये। पर वाइसराय ने गाँधीजी से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखा और इस भूल को परिमार्जित करने एवं राष्ट्रीय नेताओं के साथ सम्बन्ध सुधारने की कोशिश उसने जारी रखीं।

1942 में स्वाधीनता आन्दोलन ने तेजी पकड़ी लेकिन साथ ही जिन्ना और उनके कुछ अनुयायियों की हठधर्मी के कारण कुछ समस्याएं भी पैदा हुईं। बापू और जिन्ना के बीच की खाई को पाटने के उद्देश्य से जी. डी. बाबू ने लियाकत अली खां को समझाने की बहुत चेष्टा की। लेकिन इसका कोई परिणाम न निकला तो उन्होंने गाँधीजी को भी इस बातचीत की सूचना देना व्यर्थ समझा। उनका कहना था कि बापू को कुछ बताने से भी क्या लाभ होता। दूध बिखर जाने के बाद रोना-धोना बेकार ही होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्र बड़ी तेजी से घूम रहा था। विश्व की घटनाओं पर नजर रखने के लिए यह बहुत जरूरी था कि विदेशी पत्र-पत्रिकाओं का नियमित रूप से अध्ययन किया जाए। बापू के लिए इन पत्र-पत्रिकाओं को जुटाने में प्यारेलालजी को कठिनाई हुई तो 31 जुलाई 1944 को उन्होंने पंचगनी से चिट्ठी लिखकर जी. डी. बाबू से मदद मांगी। पत्र मिलते ही जी. डी. बाबू ने अपने लन्दन और न्यूयार्क स्थित कार्यालयों को तार भेज दिये कि बापू को तुरन्त अमुक-अमुक पत्र-पत्रिकाएं भेजने की व्यवस्था की जाये।

जी. डी. बाबू का बापू के साथ इतने लम्बे अर्से तक सान्निध्य रहा। दोनों के बीच घनिष्ठता की इससे सहज ही कल्पना की जा सकती है। उनके पारस्परिक सान्निध्य में ऐसे अनेकानेक अवसर आये जब गाँधीजी ने अपने व्यस्त कार्यक्रम और शारीरिक-कष्ट की परवाह न करते हुए उनकी इच्छा, योगक्षेम को ही सर्वोपरि माना। इस प्रकार की आत्मीयता से भरी घटनाएं तो बहुत हैं किन्तु हम यहां विस्तारमय से एक-दो की ही चर्चा करेंगे।

बात बहुत पुरानी है,सन् 1926 की। जाड़े का मौसम था, कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। गाँधीजी दिल्ली आये थे। उनकी गाड़ी सुबह चार बजे स्टेशन पर पहुंची। पर इस सर्दी में भी जी. डी. बाबू उनसे मिलने स्टेशन पर मौजूद थे। पता चला कि एक घण्टे बाद ही जाने वाली गाड़ी से वह अहमदाबाद जा रहे हैं। जी. डी. बाबू ने

विश्वास रखते थे। सही कर्म करने और सत्कार्यों में उनकी गहरी आस्था थी। वह महा-मानव थे। मैं किसी भी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जिससे उनकी तुलना की जा सके।

इसे भी भाग्य की विडम्बना ही समझिए कि जिन जी. डी. बाबू का गाँधीजी के साथ ऐसा निकट सम्पर्क और गहन स्नेह था वह उनके अन्तिम समय उनके पास नहीं थे। सुबह जी. डी. बाबू की भेंट बापू से हुई। उन्होंने कहा कि मैं पिलानी जा रहा हूं, शाम को लौट आऊंगा। बापू बोले, "ठीक है।"

लेकिन 30 जनवरी की वह शाम सारे देश के लिए कुछ और ही दुर्भाग्य लेकर आयी थी। जिस बापू ने अपना सारा जीवन मानवता को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाने में लगाया, उनका भौतिक शरीर हिंसा की भेंट चढ़ चुका था। जब जी. डी. बाबू लौटे तो उन्हें केवल बापू के पार्थिव अवशेष के ही दर्शन हुए। आत्मा शरीर को त्याग कर जा चुकी थी कदाचित् बापू और जी. डी. बाबू की आस्था के अनुरूप नया जीवन धारण करके मानवता को फिर से प्रेम का पाठ सिखाने के लिए:

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृहणाति नरोपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

कोई कुरान पढ़ रहा था, कोई गीता, कोई ग्रन्थ साहब। लार्ड माउण्टबेटन, पं. जवाहरलाल नेहरू और अनेक शीर्षस्थ लोगों से जी. डी. बाबू का घर, जहां बापू ठहरे थे और जहां अब उनका पार्थिव-शरीर रखा हुआ था, ठसाठस भर गया था। एक तिल रखने को जगह न थी। बापू के शरीर को एक ट्रक में रखा गया और अन्तिम यात्रा आरम्भ हुई। बिड़लाजी अपने संस्मरण में लिखते हैं कि जवाहरलालजी और दूसरे लोग उस ट्रक पर बैठकर उनके देखते-देखते उनके प्रिय बापू को ले गये। "मुझे बैठने को कहां स्थान? मुझे तो धक्के-मुक्के देकर दूर कर दिया गया। थोड़ी देर तक मैं उस जलूस के पीछे-पीछे चला। फिर मैंने कहा कि बेकार है। मुझे याद आया कि कृष्ण जब मथुरा गये तो गोपी ने कहा था 'गयो सो तो फिर नहीं आवे री।' जो चला गया वह फिर नहीं आयेगा। तो दूसरी गोपी ने कहा, जब जानूंगी ढिठाई श्याम हृदय से जावे री।"

और सचमुच बापू इस संसार से भले ही चले गये जी. डी. बाबू के हृदय से

कि यदि उस समय जी. डी. बाबू ने इतना योगदान न दिया होता तो शायद स्वराज्य इतना शीघ्र न मिलता। इस बात में भले ही थोड़ी अतिशयोक्ति मालूम पड़ती हो, पर तथ्य भी है। उन्होंने आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने और जेल जाने की इच्छा भी प्रकट की थी। पर गाँधीजी ने मना कर दिया और कहा, "देश को धन की आवश्यकता है, धन कमाओ और देश हित में लगाओ।" जी. डी. बाबू ने स्वाधीनता संग्राम के लिए, भारतीय समाज के कल्याण के लिए चलाये गये गाँधीजी के कार्यक्रमों के लिए उन्हें बहुत धन दिया। गाँधीजी को जब भी धन की आवश्यकता महसूस हुई उन्होंने बिना संकोच जी. डी. बाबू के सामने वह रखी और उन्होंने बिना विलम्ब के उसकी पूर्ति की। धनिक होते हुए भी धन की माया से अलिप्त रहने की जी. डी. बाबू की आकांक्षा को गाँधीजी ने परख लिया था। उनकी व्यवहार-कुशलता को भी खूब समझ लिया था। जी. डी. बाबू ने भी गाँधीजी के कार्यक्रमों के मर्म और महत्त्व को पहचाना और उन्हें हृदय से अपनाया।

गाँधीजी के विचारों और चिन्तन को बड़ी सूक्ष्मता से समझने वालों में जी. डी. बाबू अग्रगण्य थे। पर उन्हें गाँधीजी का जो रूप सबसे अधिक भाया वह उनका सन्त का रूप ही था' वह तो उन्हें राजनीतिक मानते ही न थे। उन्होंने गाँधीजी को सदा एक पुण्यात्मा सन्त के रूप में देखा और चाहा। वह उनके इसी रूप पर मुग्ध थे।

एक बार एक भेंटवार्ता में महात्मा गाँधी के गुणों का स्मरण करते हुए जी. डी. बाबू ने कहा था कि बापू में सबसे बड़ी बात यह थी कि उनमें मानव-मात्र के लिए अपनत्व और सहानुभूति थी। उन्हें उस बात से सरोकार नहीं था कि कोई कांग्रेसी है या किसी और दल से सम्बन्ध रखता है। उन्हें मानव-मात्र से प्यार था चाहे उसकी विचारधारा या चरित्र कैसा भी हो। स्वयं अपने बारे में इसी भेंटवार्ता के दौरान उन्होंने बताया कि उन्होंने मुझे बहुत कुछ सिखाया, प्रशिक्षण दिया। मेरे प्रति उनकी देन बहुत है, मुझ पर उनका बहुत ऋण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मुझ पर केवल गाँधीजी का ही ऋण है। और उन्हें यह भी पता था कि मैं उनका अन्ध-अनुयायी नहीं हूं। लेकिन मैं निश्चय ही अनेक बातों में उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ, जैसे वह मुझसे कहा करते थे कि जहां तक हो सके अच्छे बनो, अच्छा करो। वह कहते थे कि अगर समुद्र में एक औंस चीनी डाल दी जाये तो बाद में उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। लेकिन सिद्धान्ततः इससे समुद्र में मिठास आ जाती है। इसी तरह अगर आप अच्छे हैं तो दुनिया का कुछ न कुछ हिस्सा अच्छा तो हो जाता है। बाकी क्या करते हैं इसकी चिन्ता मत करो। उनमें एक विशेष बात यह भी थी कि वह उपदेश करने में विश्वास नहीं रखते थे। कर्म में

मुझे क्यों हिसाब देते हो! मैं कोई खास चीज के लिए पैसा नहीं देता हूं। मैं तो आदमी को ढूंढता हूं। आपमें कोई चीज है वह चीज मुझे आकर्षित करती है।

"उनको मतभेद का बड़ा आदर था। मेरा उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ उससे आपको पता चलेगा कि मेरा मतभेद तो जारी रहा। किन्तु वह मतभेद का आदर करते थे। मुझको कहते थे कि अपना मतभेद सुनाते जाओ, कुछ तो असर जरूर होगा। किन्तु कभी उन्होंने मेरे मतभेद का इस तरह से विरोध नहीं किया कि जिससे मुझे लगे कि वह खफा हो गये हैं।"

जी. डी. बाबू का मत था कि जैसे ज्वालामुखी में से तरल पदार्थ निकलता है, फिर वह जमकर ठोस हो जाता है, हजारों साल के बाद वह पत्थर हो जाता है, उसी तरह गाँधीजी का जो यश है वह ठोस होगा। उन्होंने लन्दन में अंग्रेजों के सामने व्याख्यान देते हुए इसी गहरी आस्था के साथ कहा था कि गाँधी का पुनर्जन्म होगा।

शायद एक पल को भी विदा नहीं हुए। 1982 में संगीत कला मन्दिर में हुई एक सभा में जब जी. डी. बाबू ने गाँधीजी पर व्याख्यान दिया तो मुझे लगा कि आज भी बापू उनके हृदय तो क्या रोम-रोम में समाये हुए हैं। उस दिन की उनकी बातें मैं कभी भूल नहीं सकता। जी. डी. बाबू ने बड़े स्नेह से मुझे कहा, ''तुम मेरे सामने बैठना तभी मैं बोलूंगा।'' विश्वमित्र के सम्पादक श्री कृष्णचन्द अग्रवाल सभा के अध्यक्ष थे। जी. डी. बाबू के हृदय से बापू के प्रति उनका असीम प्रेम उमड़ कर प्रवाहित हो रहा था और सारा सभागार लगता था जैसे उसमें डूब गया हो।

उन्होंने बताया कि जिस समय गाँधीजी स्वाधीनता संग्राम में कूदे लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। चारों ओर एक विचित्र प्रकार का भय व्याप्त था। नेता लोग चाहते थे कि स्वराज्य मिले किन्तु हाल यह था कि ''कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ, रंज लीडर को बहुत हैं मगर आराम के साथ।'' किसी ने खाना नहीं छोड़ा, कौम के गम में। और जो डिनर खाते थे तो हाकिमों के साथ बैठकर खाते थे। लीडरों को रंज बहुत था मगर आराम के साथ। किसी तरह से आराम छोड़ना नहीं था। जो प्लीडर थे उस जमाने के नेता थे। प्लीडर साहब की भूख तो वैसी की वैसी रही। किन्तु थोड़ा स्वार्थ छोड़ा तो इतना ही छोड़ा कि प्लीडर का जो पहला अक्षर 'पी' था उसे छोड़ दिया और प्लीडर के बजाए लीडर बन गये। यह उस जमाने का हाल था।

ऐसे समय में गाँधी एक प्रतिक्रिया हुई। गाँधी ने सबसे बड़ा संदेश यह दिया कि निर्भय बनो। जेल का डर लगता था–'जेल जाने को तैयार हो जाओ लेकिन सत्य मत छोड़ो, अहिंसा मत छोड़ो।' आपको यह ख्याल रखना चाहिए कि अहिंसा का अर्थ ज्ञानेश्वर ने बहुत व्यापक किया है। ज्ञानेश्वर कहते हैं कि अहिंसा के मायने यह नहीं हैं कि केवल किसी को मारो मत या दुख मत पहुंचाओ। अहिंसा के मायने हैं कि तुम भूत प्राणी मात्र को सुख दो। तो गाँधीजी ने यह संदेश दिया। वह तो साधु थे।

इस व्याख्यान में जी. डी. बाबू ने अपने दिल की एक बात यह भी बड़ी बेबाकी से श्रोताओं के सामने रखी: ''गाँधीजी ने नेता होकर जो हलचल की उस पर मैं लट्टू नहीं हुआ। मैं लट्टू हुआ इनसान पर। वह इनसान थे। नेतागिरी उनकी बड़ी चीज नहीं थी लेकिन जो इनसानियत थी वह बड़ी जबरदस्त चीज थी उनमें। मैं तो कांग्रेसी भी नहीं था। वह तो राजनीतिक नेता थे तो मैं उनका अनुयायी कैसे बना? कांग्रेसी नहीं था। मैं उनको काफी सहायता देता था रुपये-पैसों की। लेकिन जब वह मुझे हिसाब देते थे तो मैं उनसे कहता था कि आप

सारस्वत पुरुष

परिचय, अनुराग और स्वायत्त चिन्तन झलकता है। राजा साहब का प्रिय कथन था, "मैं वैश्य समाज से अलग हो चुका हूं, अब इन विद्वानों के समाज में हूं।"

जी. डी. बाबू ने इन्हीं 'पुरुषों' के संस्कार पाये थे। 'वैश्य समाज से अलग' तो नहीं हुए लेकिन विद्वानों के समाज में शामिल वह शुरू से ही रहे। यह उन्होंने स्वाध्याय से किया था।

कला प्रेमी

वह संगीत के रसिक थे। बचपन में पितामह ने हारमोनियम लाकर दिया था जिस पर राग-रागिनियां निकालते थे। कण्ठ अच्छा था। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का विशद ज्ञान अर्जित किया और संगीत के विशेषज्ञों को सदा सम्मान और प्रोत्साहन दिया। इसी क्रम में संगीत के द्वारा संस्कार की सरिता बहाने पं. विष्णु दिगम्बर को जी. डी. बाबू पिलानी ले गये। अपने संगीत-प्रेमी पुत्र बसन्तकुमारजी के माध्यम से बड़े गुलाम अली खां को कई बार अपने कलकत्ता निवास पर बुलाया और उनका गायन सुना। वृद्धावस्था में भी श्रीमती शुभलक्ष्मी को घर पर आमन्त्रित करके उनके भजन बराबर सुना करते थे। इन गोष्ठियों में घर-परिवार के लोग, और इष्ट मित्र रहा करते थे। स्वयं भी कुछ बजाने और गाने की रुचि उनमें बराबर बनी रही। जी. डी. बाबू को राग-रागिनियों का पूरा ज्ञान था और वह संगीत-शास्त्र में प्रवीण थे। उनके बम्बई वाले फ्लैट में 'एक जमुनोत्री यात्रा' कैसेट की शास्त्रीय संगीतबद्ध पहली कविता बजायी गयी तब तुरन्त उन्होंने बता दिया कि इसमें शंकरा राग का अच्छा निर्वाह किया गया है। उनके कहने पर एक बार भरत व्यास ने पटमंजरी का ध्रुपद गाया। गायन सुनकर फौरन उन्होंने कहा कि यह तो मियों (मुसलमानों) की पटमंजरी है। वह ऐसे गुणी ग्राहक थे। जीवन के अन्तिम वर्षो में एक बी एल टोन खरीद कर लाये थे और उस पर भजन गाते थे।

थियेटर जाते थे, खासतौर पर अंग्रेजी थियेटर को बहुत पसन्द करते थे। किन्तु अपने बड़े भाई जुगलकिशोरजी बिड़ला के निधन के बाद से उन्होंने थियेटर जाना छोड़ दिया था। चित्रकला के भी पारखी थे। बहुत से कलाकारों की कृतियां उनके संग्रह में थीं। मुख्य रूप से उन्हें 'शबीह' और 'सैरे' पसन्द थे। स्वयं भी सुघड़ चित्रांकन कर लेते थे। स्वान्तः सुखाय। इसी प्रसंग में मैं यह भी याद करना चाहता हूं कि प्राचीन शैली के मन्दिर-स्थापत्य ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था और बिड़ला परिवार के सभी लोगों की तरह ही वह भी प्राचीन शैली के मन्दिर-स्थापत्य को प्रोत्साहन देने के पक्ष में थे। उनके बनवाये हुए पिलानी स्थित

सृजन के सोपान

'काव्यशास्त्र-विनोदेन, कालो गच्छति धीमताम्' (बुद्धिमानों का समय काव्यशास्त्रविनोद के द्वारा बीतता है।) जी. डी. बाबू ने अपने उस समय को काव्य-विनोद और शास्त्र-विनोद में ही बिताया जिसका बिताना पूर्णतः उनकी अपनी इच्छा पर और उनकी अपनी रुचि पर था।

संस्कृति एवं साहित्य की पारिवारिक परम्परा

यह दिलचस्पी कई रूपों में प्रकट हुई। इनके परिवार में पहले से ही साहित्य और संस्कृति की एक समृद्ध परम्परा चली आती थी। पितामह श्री शिवनारायणजी बिड़ला विद्वानों का सत्संग बराबर किया करते थे। पिता थे राजा बलदेवदास बिड़ला। राजा साहब 45 वर्ष की अवस्था में जो काशी गये तो फिर वस्तुतः काशीवास किया। काशी सांसारिक-व्यवस्था से कुछ अलग है, भगवान शंकर के त्रिशूल पर बसी है, तभी तो सारा राज्य स्वप्न में महर्षि विश्वांमित्रको दान कर देने के बाद भी महाराज हरिश्चन्द्र काशी जाकर दक्षिणा का धन जुटाने के लिए श्रम करने के लिए स्वतन्त्र थे। तो काशी जाकर राजा साहब ने फिर संसार की ओर मुंह नहीं मोड़ा। जी. डी. बाबू के कहने पर भी पिलानी नहीं गये, यही कहा कि तुम लोग ठीक कर रहे हो, मैं तो इन सांसारिक कार्यों से अलग हो चुका हूं। उन्होंने 'छांदोग्योपनिषद् रहस्य', 'वेदान्त व आत्मविचार', 'दार्शनिक विचार', 'वेदशास्त्र विमर्श' जैसी पुस्तकें लिखीं जिसमें उनका गम्भीर तत्व-दर्शन से

जी. डी. बाबू का आलोचक पाठक कितना सजग रहता था, इसका एक उदाहरण मैं देता हूं। स्वामी चिन्मयानन्दजी की 'केनोपनिषद्' में जो प्राक्कथन है उसमें एक अंश है 'वाट इज रिलिजन'? जी. डी. बाबू ने इसका अनुवाद कराने और छपाने की इच्छा प्रकट की। डा. लक्ष्मीनारायण लाल से इसका अनुवाद मैंने करवाया था। जी. डी. बाबू ने यह अनुवाद पढ़ा और जैसा कि उन्होंने मुझे पत्र में लिखा 'स्थालीपुलाक न्याय' से उन्हें यह अनुवाद अच्छा भी लगा। किन्तु एक जगह उनको आपत्ति थी। मूल अंग्रेजी वाक्य का आशय यह था कि धर्म मनुष्यों की विशेष चीज है, यह पशुओं में नहीं होती है। अनुवादक ने इस भाव को व्यक्त करने के लिए जो वाक्य लिखा था वह था "धर्म मनुष्य का विशेष अधिकार है।" जी. डी. बाबू ने पढ़कर मुझे पत्र से सुझाया कि उसको बदल कर यों कर दिया जाये, "धर्म मनुष्य का विशेष वरदान है।" इस परिवर्तन के पीछे उनका कारण यह था कि अधिकार बपौती सम्पत्ति हो जाता है। इस परिवर्तन से एक साथ उनकी विनम्रता का भी पता लगता है और भाषा के प्रति उनकी सतर्कता का भी। वह पत्र 17 नवंबर 1982 का है, वृद्धावस्था में भी उनकी कितनी पैनी नजर थी, आश्चर्य होता है।

इसी प्रकार जब डा. हरिवंशराय बच्चन ने भगवद्गीता के अपने दो अनुवाद-'जनगीता' अवधी में, और 'नागरगीता' खड़ी बोली में—उन्हें भेंट किये तो जी. डी. बाबू ने उन्हें 10 सितम्बर, 1978 को लिखा:

"कुछ विद्वानों ने अपर्याप्त का परस्पर विरोधी अर्थ भी किया है। परिमित भी और अपरिमित भी। भीष्म के संरक्षण में हमारी सेना अल्प है या तो असीम है। भीम की अध्यक्षता में पाण्डव सेना पर्याप्त प्रचुर है या तो सीमित है। आपने 'सुरक्षित सबल हमारी सेना दुर्जय सब प्रकार है' कह कर दुर्योधन के अनुरूप वाक्यों का ही उपयोग किया है।"

जी. डी. बाबू ने इस पत्र में गीता के इस श्लोक के अनुवाद को लेकर बात चलायी है:

"अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।"

जिसके अन्तर्गत 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' इन शब्दों को लेकर विद्वानों में मतभेद का उल्लेख किया है। शब्दों के प्रति यह सावधानी, यह पकड़ जी. डी. बाबू का प्राकृतिक गुण था। मैं इस ओर भी ध्यान दिलाना चाहता हूं कि बच्चनजी ने

शारदा-मन्दिर, नागदा स्थित शेषशायी-मन्दिर और रेनुकूट स्थित शिव-मन्दिर इसके साक्षी हैं।

कला के सर्वांगीण स्वरूप को जी. डी. बाबू ने अपनाया। सामरिक कलाओं में भी उनकी रुचि थी। घुड़सवारी, पिस्तौलबाजी इत्यादि में दक्षता प्राप्त की थी। जी. डी. बाबू में एक समग्र कला रसिक का मूर्तन हुआ था। मुझे कभी लगता है कि कठोर और अनुशासित संयम से भरे हुए जीवन में भोगों के प्रति जो तिरस्कार उनकी मानसिकता में रच गया था उसने उनकी मानवीय प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करके उसे साहित्य-संगीत-कला की भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के प्रखरतम शिखरों पर पहुंचाने में अतिरिक्त सहयोग किया।

आलोचक

भावयित्री प्रतिभा। आस्वादन करने की शक्ति, पहचानने की शक्ति, सुकाव्य में अन्तर कर सकने की शक्ति। जी. डी. बाबू के भीतर समालोचना की बड़ी पैनी दृष्टि थी। वह बातचीत में प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं की खरी आलोचना करने से नहीं कतराते थे यदि उनकी दृष्टि में वे रचनाएं सही नहीं उतरती थीं। एक बड़े ही प्रसिद्ध कवि की रचनाओं के बारे में उन्होंने मुझसे कहा, "यद्यपि कवियों के सामने ऐसा कहना बद्तमीजी होगी फिर भी ये कविताएं सुरुचिपूर्ण नहीं हैं, शब्द-जाल हैं।" मैं तो कोई कवि विशेष नहीं हूं इसलिए जी. डी. बाबू की इस बात में मुझे अपने प्रति उनका स्नेह अधिक दिखाई देता है, लेकिन मैं जो कहना चाहता हूं वह यह है कि जहां उनमें विद्वानों और रचनाकारों के प्रति असीम सम्मान था, वहीं उस सम्मान से वह इतने अभिभूत नहीं होते थे कि सिर्फ महाकवि होने के नाते किसी की कविता को श्रेष्ठ कह दें। वियोगी हरिजी ने मुझे बताया कि जयशंकर प्रसाद की कामायनी के बारे में उनकी यह राय बराबर कायम रही कि यह इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है।समीक्षा के क्षेत्र में श्रद्धा के वह सख्त विरोधी थे। डा. कन्हैयालाल सहल ने एक पुस्तक लिखी, 'समीक्षायण'। इसमें कई देसी-विदेशी विचारकों की कृतियों पर उनकी समीक्षाएं थीं। किन्तु डा. सहल में विद्वानों के प्रति श्रद्धा अधिक थी अतः उन्होंने विद्वानों का विरोध नहीं किया। जी. डी. बाबू ने उन्हें इस पुस्तक को पढ़कर 26.10.1950 को एक पत्र में लिखा:

"मुझे लगता है कि तुम्हारी पुस्तक में समीक्षा कम है और अनुमोदन अधिक। हमारे देश के पण्डितों की शैली ही ऐसी बन गयी है कि पुरानी बातों का हम श्रद्धा से अनुमोदन ही करते हैं और समीक्षा करने से डरते हैं।"

चित्रकला में तल्लीन

अपनी पुस्तकें उन्हें 1 सितम्बर, 1978 को डाक से भेजी। और जी. डी. बाबू ने उन्हें यह पत्र 10 सितम्बर,1978 को भेजा। यानी जी. डी. बाबू के ये दो पुस्तकें पढ़ने का समय कुल चार-पांच दिन मिला होगा। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी इतने कम समय में जी. डी. बाबू ने न केवल पुस्तकें ही पढ़ीं बल्कि उनकी भाषा की बारीकियों का मूल संस्कृत से मिलान करके उस पर अपनी राय जाहिर की, यह उनकी अनोखी प्रतिभा का परिचायक हैं।

भाषा के सजग पारखी

शब्दों के प्रति जी. डी. बाबू सचमुच बहुत ही सावधान और सतर्क रहते थे। जब 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्' लिखा तो उसकी सामग्री को सम्पादित करके मुद्रण एवं प्रकाशन का उत्तरादायित्व मुझे सौंपा गया। मैंने अपने सम्पादकीय अधिकार का प्रयोग करते हुए उसमें कुछ काट-छांट की, कुछ पंक्तियां और शब्द बदल दिये। इस सम्बन्ध में मैंने उनसे परामर्श नहीं किया था। ऐसा न करने के पीछे मेरे मन में यह विश्वास था कि जब जी. डी. बाबू ने मुझे सम्पादन की जिम्मेदारी सौंपी है तब मेरी जितनी भी क्षमता है उसकी जांच-परख करके ही सौंपी है। पुस्तक छप जाने के बाद जी. डी. बाबू को पाण्डुलिपि से मिलाने पर उसमें किये गये संशोधनों, परिवर्तनों, और परिवर्धनों का पता लगा। जी. डी. बाबू ने मुझे अपने सेक्रेटरी श्यामलाल पारीक से पत्र लिखवाया जिसमें सारे के सारे परिवर्तन सूचीबद्ध रूप में दिये गये और यद्यपि उस पत्र में मेरे इस कार्य पर आपत्ति नहीं प्रकट की गयी फिर भी उसमें यह भावना जरूर थी कि वह काट-छांट के पक्ष में नहीं थे और ऐसा करने के पूर्व मुझे उनसे पूछ लेना चाहिए था। यह देखते हुए कि वह मुझसे हर क्षेत्र में बड़े थे—लेखन में भी निश्चय ही, उनसे पूर्व-अनुमति नहीं लेना मेरी भूल थी और उस भूल को मैंने स्वीकार भी किया। किन्तु मैं पाण्डुलिपि और मुद्रित स्वरूप के बीच के अन्तरों को अकारण ही तो नहीं लाया था। अतः मैंने एक-एक अन्तर पर, एक-एक परिवर्तन पर, परिवर्तन का कारण देते हुए विस्तारपूर्वक उन्हें पत्र लिखा। यह जी. डी. बाबू का बड़प्पन था कि मेरे दिये हुए कारणों को स्वीकार करते हुए उन्होंने मुझे लिखा, ''तुम्हारा पत्र मिला। कोई खास बात नहीं। प्रकाशन अच्छा हो गया। इसके लिए तुम्हें श्रेय है।''

यरवदा सेन्ट्रल जेल से 28 मार्च 1933 को गाँधीजी ने हिन्दी 'हरिजन' के सम्बन्ध में जी. डी. बाबू को लिखा था, ''इसमें यदि कोई लेख पढ़ने योग्य थे, तो तुम्हारे। तुम्हारी शैली मनोहर, सीधी-सादी और मुहावरेदार है। तुम विषय पर सीधे और बोधगम्य ढंग से पहुंचते हो।''

के माध्यम से उभारना। तुलना के लिए तीन प्रकार के व्यक्तित्व हम चुन सकते हैं—एक तो वे जो साधारण थे, दूसरे वे जो असाधारण थे, और तीसरे वे जो आराध्य थे। अन्तिम श्रेणी में मेरा तात्पर्य भगवान कृष्ण से है या भगवान राम से है। बीच की श्रेणी में मैं जी. डी. बाबू के मानदण्डों के अनुसार महात्मा गाँधी को रखता हूं। पहली श्रेणी वह है जिसमें पुनः जी. डी. बाबू के ही मानदण्ड के अनुसार वह खुद, उनके परिवार के लोग,उनके अध्यापक, उनके गांव के लोग; और उनके नौकर थे।

किसी भी चरित्र का वयान करते समय जी. डी. बाबू ने अपने लगाव के कारण उसे रंगीन झांकी नहीं बनाया और न ही बिलगाव के कारण उस चरित्र को अन्याय के खड्डे में उतारा। जनवरी 1941 में उन्होंने अपने पारिवारिक नौकर हीरा पर एक रेखाचित्र लिखा। यह रेखाचित्र बहुत ही मार्मिक है। एक आदमी की कमियां, एक आदमी का बड़प्पन एक साथ इस तरह गूंथे गये हैं कि उनमें सम्मिलित रूप से, कमियां भी बड़प्पन में बदल जाती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इन्हीं सूचनाओं को, यदि कोई ऐसा व्यक्ति एकत्र करता जिसके पास जी. डी. बाबू का संवेदनशील हृदय न होता तो यही रेखाचित्र एक अच्छे खासे इनसान का मजाक उड़ाते हुए तैयार किया जा सकता था। ऊंट पर चढ़ने में हीरा की जो शान थी, उसमें जो ऐंठ थी, उसका जो अपनी जात का छिपाना था, उसका जो अपने सारे धन को तीन-तीन बार दान में लुटाना था, यह सब का सब बहुत लोगों के लिए झूठ का परिचायक हो सकता था, लेकिन जी. डी. बाबू, जिनमें ऐंठ नहीं थी, जिनमें जाति प्रथा के भीतर किसी खास जगह पर रहने की तमन्ना नहीं थी, और जो कतई अन्धविश्वासी नहीं थे, उन्हें हीरा पर लिखते समय, अगर उस पर हंसी भी आयी हो तो उस हंसी में भी रुलाई के ही स्वर फूटते हैं।

गाँधीजी पर लिखते समय जी. डी. बाबू कहते हैं, "गाँधीजी निर्णय करने के लिए न विचारमग्न होते हैं, न अपने निर्णय को विचार की कसौटी पर पहले कसते हैं। निर्णय पहले होता है, तर्क-दलील पीछे पैदा होती हैं। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी दलीलें कच्ची मालूम देती हैं, तो कभी-कभी 'घृताधार पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की तरह अत्यन्त सूक्ष्म या तोड़ी-मरोड़ी हुई या खींचातानी की हुई मालूम देती हैं। कभी-कभी ऐसी दलीलों के मारे उनके विपक्षी परेशान हो जाते हैं। उन्हें चाणक्य बताते हैं। उन्हें उस मछली की उपमा दी जाती है, जो अपनी चिकनाहट के कारण हाथ की पकड़ में नहीं आती और फिसलकर कब्जे से निकल जाती है।

जी. डी. बाबू ने अपने जीवन में जो कुछ लिखा उसका उद्देश्य लेखक और कलाकार कहलाने का नहीं था। उन्होंने सिर्फ इसलिए लिखा कि वह अगर कुछ कहना चाहते थे तो मुद्रण की आधुनिक सुविधाओं के नाते उनकी बातें लोगों तक अधिक आसानी से पहुंच सकती थीं। ऐसे में यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि उनका लेखन चेष्टित न होता। उसमें मुहावरे हैं क्योंकि मुहावरे सीखने नहीं पड़ते, जुबान पर चढ़ जाते हैं। जैसे 'वे दिन' में 'जो कोई पिलानी में डुल कर आया' है, 'भटक कर आया' नहीं, जबकि जी. डी. बाबू भी इस बात से अपरिचित नहीं थे कि जिसे 'मानक' हिन्दी कहते हैं उसमें भटक कर आया लिखना ज्यादा सही होगा।

जी. डी. बाबू नेहरूजी से सहमत होते हुए कहते थे, "शब्द तो गांव वालों के बनाये ही चल जाते हैं, डिक्शनरी बनाने वालों के बनाये नहीं। 'हवाई अड्डा' खूब प्रचलित हो गया है, पर गांव वालों का बनाया हुआ है, शब्द-शास्त्रियों का नहीं।"

शब्द कौन-सा अशुद्ध है और कौन-सा शुद्ध और मानक हिन्दी क्या है और क्या नहीं, इस पर उनके विचार आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक साहित्यिक चिन्तन के निकट थे। मुझे स्मरण है कि मैंने 1982 में उनसे पूछा, "'जमुनोत्तरी' शब्द का आपने प्रयोग किया है, पर हम लोग तो 'जमुनोत्री' लिखते हैं, तो क्या हम लोग अशुद्ध लिखते हैं या आप शुद्ध लिखते हैं?" वह बोले, "मैं तो वैसे ही प्रयोग कर बैठता हूं, मैंने 'उत्तर' दिशा से इनका सम्बन्ध जोड़ा है।"

स्वान्तः सुखाय लेखक

जी. डी. बाबू ने योजनाबद्ध ढंग से 'लेखन' नहीं किया। जैसा 14 फरवरी 75 के एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा, "तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें लेख पसन्द आया इससे प्रसन्नता है। मैं कभी-कभी ही लिखता हूं। कुछ लिखने जैसा होता है तभी लिखता हूं। खैर, अच्छा हुआ कुछ लिख ही डाला। साधारणतया तो मुझे लिखने में आलस्य होता है।" इसलिए यदि हम उनके प्रकाशित ग्रन्थों में विधा का चयन करने चलें तो चयन जैसा कुछ नहीं है। उन्होंने यह सब कुछ नहीं लिखा लेकिन लोगों को जानने और जानकारी का प्रभावकारी ढंग से बयान करने के लिए उनके पास बहुत ही सशक्त शब्द और बहुत ही सही वाक्य-विन्यास था।

रेखाचित्र

मैं सबसे पहले उनके लेखन के एक पक्ष से प्रारम्भ करता हूं। वह है—किसी एक मनुष्य के चरित्र और व्यक्तित्व को सिर्फ घटनाओं और बहुत छोटी टिप्पणियों

भी इतना कहने की हिम्मत जुटा पाता हूं कि इस समय के बहुत से साहित्यिक लेखक जो कहना चाहते हैं वे बातें उनके वाक्यों से निकलती हैं या नहीं, यह बता सकना पाठकों के लिए तो अक्सर कठिन होता ही है स्वयं उन लेखकों को भी इस सवाल का जवाब नहीं मालूम होता। बल्कि शायद यह कहना चाहिए कि उनमें से बहुतों ने यह सवाल अपने आपसे पूछा ही नहीं होगा।

जमनालालजी पर जी. डी. बाबू ने जो लिखा है वह हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ संस्मरणों और रेखाचित्रों में से है। जमनालालजी पर जो जी. डी. बाबू ने लिखा और गाँधीजी पर जो जी. डी. बाबू ने लिखा उसको एक साथ रख कर देखने पर एक अन्तर का पता लगता है। जमनालालजी पर लिखते समय उनका भाव यह था कि 'हां, आदमी हो तो ऐसा हो', गाँधीजी पर लिखते समय यह कि, 'भला, इस तरह हो पाना कहीं आदमी के बस का है?' जमनालालजी के देहान्त के ठीक पहले की बातें लिखते समय जी. डी. बाबू की लेखनी में एक स्वजन के बिछुड़ने की पीड़ा कितनी प्रगाढ़ थी, यह उन संस्मरणों को पढ़ने से ही जाना जा सकता है।

आराध्य चरित्रों पर लिखते हुए जी. डी. बाबू सन्तुलन नहीं खोते थे। मुझसे एक बार उन्होंने कहा कि भक्ति का आधार वैज्ञानिक है। अगर वैज्ञानिक का मतलब यह लगाया जाये कि भौतिकी या गणित के सिद्धान्तों द्वारा भक्ति की व्याख्या हो सकती है, तो जी. डी. बाबू का यह कथन सही नहीं उतरेगा। किन्तु जब जी. डी. बाबू यह कहते थे कि भक्ति वैज्ञानिक है तो वह केवल यह कहते थे कि भक्ति केवल उन लोगों की चीज नहीं है जिनके पास केवल लीक पीटने वाली अन्धी श्रद्धा है। इसी नाते जहां एक ओर राम या कृष्ण पर लिखते समय जी. डी. बाबू की लेखनी लड़खड़ाती नहीं, कांपती नहीं, गद्‌गद्‌ढ होकर अव्यवस्थित भी नहीं लिखती वहीं दूसरी ओर उनमें यह कोशिश भी नहीं पायी जाती कि राम और कृष्ण को उतने ही दायरे में बाँध कर छोटा कर दें जितने में उनकी कलम चल सकती हो। इस अर्थ में जी. डी. बाबू आधुनिक होते हुए भी, नये से नये साहित्य से परिचित और प्रभावित होते हुए भी, 'मेघनाद' को राम-लक्ष्मण की तुलना में 'हीरो' ठहराने वाले अंग्रेजीदां बंगाली कवि माइकेल मधुसूदन दत्त की तरह अपने दिशा-ज्ञान को खो नहीं बैठे।

मैंने ऊपर यह कहा है कि जी. डी. बाबू के लेखन में 'विधा' का चयन कठिन है। वस्तुतः इस बात को सतही तौर पर ही स्वीकार किया जा सकता है। आधुनिक साहित्य में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास के अतिरिक्त भी बहुत कुछ शामिल है। हिन्दी में कई विधाओं को बहुत हाल में साहित्य का दर्जा प्राप्त हुआ जैसे

"पर, दरअसल बात यह है कि गाँधीजी की दलीलें सहज स्वाभाव की होती हैं। लेकिन चूंकि ये दलीलें निर्णय के बाद पैदा होती हैं, न कि निर्णय दलील और तर्क की भित्ति पर खड़ा किया जाता है, इसलिए उनका सारे-का-सारा निर्णय तक कभी अनावश्यक जटिलता लिये, कभी चाणक्यीय वाग्जाल से भरा हुआ और कभी थोथा प्रकट होता है। और हो भी क्या सकता है? सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों हो जाते हैं, तो क्या कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी उत्तरायण-दक्षिणायन के कारण होती है, न कि उत्तरायण-दक्षिणायन सर्दी-गर्मी के कारण।" **(मेरे जीवन में गाँधीजी)**

इस उद्धरण को मैंने इसलिए दिया कि इससे जी. डी. बाबू की सूक्ष्म विवेचना पद्धति और गहरी पकड़ का तो पता लगता ही है, साथ-ही साथ हम यह भी देखते हैं कि उनका नजरिया, उनका सोचने का तरीका सामान्यतः बुद्धिमान और शिक्षित लोगों के नजरिये से काफी भिन्न है। जी. डी. बाबू ने गाँधीजी के बारे मे यहां जो तर्क दिया वह लगभग वही तर्क है जो एक प्राचीन विचार के रूप में एक श्लोकार्थ में है:

उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा।
नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः।।

(जिस दिशा में सूर्य उदय होता है, वही पूर्व दिशा कहलाती है। दिशा के अधीन होकर सूर्य नहीं उगता।)

हीरा और गाँधीजी पर लेखन के इन दो उदाहरणों के आधार पर मैं यह दिखाना चाहता हूं कि जी. डी. बाबू चीजों के ऊपरी स्वरूप को ही नहीं देखते थे बल्कि उनके भीतर जाकर उनकी गहराई में जो सच्चाई छिपी हुई है, उसके खोजी थे। उन्होंने महात्मा गाँधी के बारे में लिखा है, "वह शब्दों के साहित्यिक अर्थ के कायल नहीं हैं। शब्दों में जो तत्व भरा रहता है, वह उसके पक्षपाती हैं।" मेरी विनम्र राय में यही वाक्य जी. डी. बाबू पर भी लागू होते हैं।

जब देखने का तरीका दूसरा होता है, पिटे हुए ढर्रे से अलग होता है, तब भाषा में एक पैनापन और एक साफगोई उभर कर आती है जिसको जी. डी. बाबू के गद्य में तुरन्त पहचाना जा सकता है। उनके लिखने में कोई शब्द फालतू नहीं है, कोई वाक्य ऐसा नहीं है जो कुछ कहने के लिए न बनाया गया हो। इसका विशेष उल्लेख करना जरूरी है क्योंकि यद्यपि मैं किसी भी तरह हिन्दी का पण्डित तो नहीं हूं फिर

लिखे हुए पत्र हैं जो इस देश के सबसे व्यस्त लोगों में से था। उन्हें यह शिकायत बनी रहती थी कि उन्हें पत्र विस्तार से क्यों नहीं लिखे जाते। सरलाजी को 5-4-1943 को लिखे एक पत्र में लिखा, "तुम्हारे पत्र अत्यन्त छोटे होते हैं। पढ़ी-लिखी लड़की को कुछ और भी लिखना चाहिए।" गंगाबाई को लिखे गये एक पत्र में कहते हैं, "ग्रेजुएट और अर्धग्रेजुएट लड़कियों के पत्र आते हैं और उसमें लिखा रहता है 'वर्षा, गर्मी-हम अच्छे हैं–आप अच्छे होंगे, आप अच्छे हैं' इत्यादि।" अपने पौत्र आदित्य विक्रम को उन्होंने एक पूरा पत्र ही 'जानबूझ कर' सिर्फ यह दिखाने के लिए लिखा था कि आसपास की छोटी-मोटी बातों से भी कैसे पत्र बनाया जा सकता है।

इन पत्रों में इतनी सुन्दर शैली, इतनी प्रवाहमयी भाषा, इतनी सम्पूर्ण मानवता, कैसे उतर आती थी यह रहस्य अनजाने ही स्वयं जी. डी. बाबू ने इन वाक्यों में खोल दिया है जो उन्होंने गंगाबाईजी को भेजे गये एक पत्र में लिखे थे

"...असल में तो मेरे पत्र.....स्वान्तःसुखाय हैं। ....जो भीतर चलता रहता है वह कभी-कभी पत्रों में या लेखों में आ जाता है। ...मेरे पत्र एक तरह के सेफ्टी वाल्व हैं।"

डायरी

जी. डी. बाबू का तमाम बहुमूल्य साहित्य एक ही 'महत्त्वपूर्ण विषय' पर है-वह है महात्मा गाँधी। महात्मा गाँधी आधुनिक भारत के सही अर्थों में पिता थे, 'राष्ट्रपिता' के नाम से वह यदि जाने जाते हैं तो यह उन गिनी-चुनी उपाधियों में से हैं जिनका शाब्दिक अर्थ वस्तुतः पूरी तौर पर लागू होता है। इस तरह जी. डी. बाबू का अधिकांश लेखन भारत की आधुनिक सृष्टि का लेखन बन जाता है। 'गाँधीजी के साथ 15 दिन' और 'उत्कल में पांच दिन' डायरी शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं इनमें यद्यपि तारीखें डालकर अलग-अलग घटनाओं का बयान नहीं किया गया है फिर भी रोज-रोज होती हुई बातों में रोज-रोज कुछ महत्त्वपूर्ण और स्थाई देखना–जो डायरी शैली की विशिष्ट प्रकृति है–इन लेखों में अपने पूरे निखार पर है। 'डायरी के पन्ने' तो बाकायदा डायरी है ही और गोलमेज परिषद के दिनों के तमाम महत्त्वपूर्ण और अनछुए पहलुओं को उजागर करती है।

यात्रा-वृत्तान्त

जी. डी. बाबू के यात्रा-वृत्तान्तों में अगर भोजन के कष्ट का जिक्र है तो जी.

पत्र-लेखन, और डायरी। जी. डी. बाबू का साहित्यिक जीवन करीब सत्तर वर्षों का है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पत्र-लेखन जैसे कुछ क्षेत्रों में तो उन्होंने अगुआ होने का श्रेय प्राप्त किया है।

पत्र-लेखन

पहले पत्र-लेखन से प्रारम्भ करें।

जी. डी. बाबू का पत्र-व्यवहार बहुत विस्तृत था। पत्र-लेखन का उनके जीवन में क्या महत्त्व था इसको समझने के लिए कई चीजों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सबसे पहले तो पत्रों की सार - सँभाल। भारत में सामान्यतः पत्र पढ़ने फेंकने का चलन है। लेकिन जी. डी. बाबू ने अपने लिखे पत्र और अपने को मिले पत्र सँभाल कर रखे और उन्हें क्रम तथा इतिहास के रूप में बाँधा। वस्तुतः उन्हें यह भान था कि ये पत्र कोई सामान्य पत्र नहीं हैं अपितु इनमें समकालीन भारतीय इतिहास के तमाम परिवर्तनों के बीज छिपे हुए हैं और महत्त्वपूर्ण प्रसंग उल्लिखित हैं जिन तक सामान्यतः इतिहास लेखन की पहुंच नहीं होती। जिस सजगता और सुव्यवस्था से जी. डी. बाबू ने अपना व्यक्तिगत पत्र-संग्रह रखा, उसके नमूने विदेशों में तो प्रायः देखने को मिलते हैं लेकिन भारत में बहुत कम लोगों ने ऐसा किया है यद्यपि महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ अपवाद यहां भी रहे हैं। गालिब के पत्रों का एक अनोखा ही साहित्यिक महत्त्व है और जो उन्हें सिर्फ शायर मानते-जानते रहे हैं उनके लिए इन पत्रों का परिमार्जित गद्य और आत्मीय स्वरूप एक सुखद आश्चर्य है। जी. डी. बाबू के पत्र भी आधुनिक भारत के राजनीतिक और औद्योगिक इतिहास का स्वरूप झलकाने के अलावा अत्यन्त परिमार्जित गद्य और आत्मीय-लेखन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'गाँधीजी की छत्रछाया में' का ढांचा पत्रों से ही बना है और यह पुस्तक कितनी महत्त्वपूर्ण है इसका अनुमान उसके प्राक्कथन लेखक तत्कालीन राष्ट्रपति स्व. डा. राजेन्द्र प्रसाद के इन शब्दों से हो सकता है, "मुझे यह रचना भविष्य में एक महत्त्वपूर्ण विषय पर बहुमूल्य साहित्य सिद्ध होती जान पड़ी।"

जी. डी. बाबू के प्रकाशित पत्र-व्यवहार से भी अधिक उनका पारिवारिक पत्र-व्यवहार उनकी मार्मिक पहुंच और प्रभावकर भाषा का परिचायक है। ये पत्र एक साधारण भारतीय गृहस्थ की चिन्ताओं और पारिवारिक मुखिया के वात्सल्य से भरपूर हैं—बच्चों को बढ़ावा देते हुए, दिलासा देते हुए, चेतावनी देते हुए, उलाहना देते हुए। इन पत्रों को देख कर यह नहीं लगता कि ये एक ऐसे आदमी के

उद्‌भव है, सस्कृति और धर्म की, भारतीय इतिहास की, शुरुआत है। "गंगोत्तरी" या काशी किसी भी स्थान पर गंगा का सम्यक् दर्शन असंभव है। क्यों? "भौतिक चक्षुओं की तो आखिर मर्यादा है। ऐसे रूप को कोई भौतिक चक्षुओं से क्या देखे और क्या भौतिक वाणी से उसका वर्णन करें!" अनादि काल से गंगा में नहाते, गंगा में नहाने जाते साधारण हिन्दू के साथ जी. डी. बाबू का भी गंगोत्तरी यात्रा का सार सत्त्व है, "जय गंगा माई की।" जमुनोत्तरी यात्रा का सार तत्व है "उस पुरुषोत्तम भगवान को हमारे अनेक नमस्कार।" चाहे वेदान्त हो, चाहे साइंस, चाहे राजनीति हो, चाहे यात्रा हो, जी. डी. बाबू को हर रास्ते से पहुंच कर उस पुरुषोत्तम भगवान को अनेक नमस्कार करते हम पाते हैं

"रुचीनां वे चित्र्यावृ ऋजु कुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

—पुष्पदंत कृत शिवमहिम्नः स्तोत्र।

(अलग-अलम रुचियां होने के नाते सीधे टेढ़े तमाम रास्तों से चलने वाले मनुष्यों के गम्यस्थल तुम (भगवान) उसी प्रकार हो जैसे सारी नदियों का गम्यस्थल समुद्र है।)

श्रद्धा? हां श्रद्धा। श्रद्धा से साहित्य उपजता है।

वैचारिक निबन्ध

जी. डी. बाबू के यात्रा विवरणों में जो ललित निबन्धों का स्वरूप है उसकी चर्चा मैं कर चुका हूं। लेकिन उनके वैचारिक निबन्ध भी अनेक हैं और बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। "रूप और स्वरूप" में यह सावधानी बरतने का आग्रह है कि दरिद्रनारायण की आराधना में कहीं उतावली में 'कुरूपनारायण, रोगनारायण, मलिननारायण' की आराधना न प्रारम्भ हो जाये। 'लोक और परलोक' में इस गूढ़ विषय पर बहुत सा मौलिक और साफ सुथरा चिन्तन है लेकिन अन्त में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की तर्ज पर ही यह सवाल है "पर कौन कहे, असलियत क्या है?" 'स्थूल और सूक्ष्म'? (सूक्ष्म का जो वर्णन आज वैज्ञानिक लोग करते हैं, वह केवल उन आरण्यक सभ्यतावाले आर्यों का समर्थन-मात्र है।) 'गीत और प्रगति' जी. डी. बाबू की शैली का अप्रतिम उदाहरण है, मामूली बातों-ऊंट की सवारी और हवाई जहाज की सवारी के व्यक्तिगत अनुभवों से समय की सापेक्षता के उस सिद्धान्त तक

डी. बाबू के व्यक्तिगत कष्ट का नहीं, साधारण निरामिषहारी हिन्दू यात्री के कष्ट का है (स्टीमर में); इनमें चिन्ताएं हैं तो सारे देश की हैं (हम पराधीन क्यों?); मार्सेल्स के नातरे दाम के मन्दिर में शान्ति मिलती है तो 'मेरी की गोद में ईसा मसीह' को, 'यशोदा की गोद में कृष्ण' के रूप में परिणत करके। मार्सेल्स के सड़क मुहल्ले कलकत्ता के चितरंजन एवेन्यू जैसे हैं (मार्सेल्स से जिनेवा) और मन में सवाल उठता है कि 'लन्दन में हमारा भी एक विशाल मन्दिर 250 फुट ऊंचा क्यों न हो?' जी. डी. बाबू भारत के बाहर भारत की राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि जैसे थे, भारतीय होने के सम्पूर्ण गौरव के साथ। जिनेवा अत्यन्त सुन्दर है, "लेकिन काश्मीर से अधिक सुन्दर न होगा, यह मेरी धारणा है। हालांकि मैंने कभी काश्मीर देखा नहीं।" क्यों न हो, काश्मीर भारत में है न। लन्दन भीषण काय है, 'नब्बे लाख मनुष्यों से गुंजरित घोंसला है।' 'कुरूप महल' बर्लिन में भी है लेकिन वह 'शोभा है'। यह जमाना 1927 का है जब जर्मनी अंगरेजों से पराजित राष्ट्र के रूप में भारतीयों की अपनी बिरादरी का राष्ट्र था, हिटलर का जर्मनी यह अभी नहीं बन पाया था। अमरीका से 'मेरा मन पिलानी की ओर दौड़ता है'—यह कह रहे हैं सेठ घनश्यामदास बिड़ला 1931 में (पश्छिम-पूरब) और पिलानी को भारत के नक्शे में ही नहीं पूरी दुनिया के नक्शे में एक जगह दिलाने वाले बिड़ला परिवार के मुख्य स्तम्भ होते हुए भी उनका रोना है कि "बड़वाली पिलानी की जगह कालेज वाली पिलानी या बिड़लों की पिलानी बन गयी है।" 'वे दिन' में जो जी. डी. बाबू लड़की की विदाई के रोने-धोने को 'कुरीति' के दर्जे पर रखते हैं, वह ही अमरीका से अपने मित्र को लिखते हैं, "आपके भाग्य में बदा हो और देखने को मिले तो लड़की की विदाई का पुराना दृश्य देखियेगा। बचपन में मुझे यह दृश्य इतना मजेदार लगा कि बड़े चाव से मैं इसी में कई वर्ष मग्न रहा कि कभी मेरे ससुराल वाले भी मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी को इसी तरह विदा करेंगे। पर वह तो न हुआ।"

नास्टैल्जिया? हां नास्टैल्जिया। नास्टैल्जिया से साहित्य उपजता है। "भावुक तो मैं पक्का ही हूं," मुझसे जी. डी. बाबू कहा करते थे। भावुक न होते तो साहित्य कैसे रचते?

जी. डी. बाबू के कई यात्रा विवरण व्यक्तिव्यंजक या ललित निबन्धों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। गंगोत्तरी ('गंगोत्री' नहीं—जी. डी. बाबू 'गंगोत्तरी' और 'जमुनोत्तरी' सही मानते और लिखते थे) की यात्रा की, तो गंगा पर लिखा उसका पौराणिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ देते हुए, जमुनोत्तरी की यात्रा की तो, जमुना पर। जो लिखा उसमें 'यात्रा विवरण' नहीं है। गंगोत्री कोई जगह नहीं है कि लन्दन की तरह बता दिया कि यहां ऐसा ऐसा है और रास्ता ऐसा-ऐसा है। गंगोत्री गंगा का

'बूट डासन ने बनाया मैंने एक मजमूं लिखा।
मुल्क में नजमूं न फैला और जूता चल गया।'
खैर, मजमूं ही सही।"

कथाकार

उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला ने बतलाया कि जी.डी. बाबू ने 'खिचड़ीदास' नामक कहानी लिखने के पहले यह कहानी उन लोगों को मुंह-जुवानी सुनायी थी। इस बात का उल्लेख उन्होंने एक अपवाद के रूप में किया है। उन्होंने कहा कि जी. डी. वाबू लिखने के पहले प्रायः यह वताते नहीं थे कि वह क्या लिखने जा रहे हैं। एक लेखक के रूप में जी. डी. बाबू अपने आपको वहुप्रचारित नहीं करते थे, वह सही अर्थों में स्वान्तःसुखाय लिखते थे।

ऊपर खिचड़ीदास का उल्लेख मैंने किया। यह कहानी बावा खिचड़ीदास शीर्षक से 'विखरे विचारों की भरोटी' में संकलित है। जहां तक मैं जानता हूं जी. डी. वावू की यह अकेली कहानी है, यद्यपि वह कितने कुशल कथाशिल्पी थे यह उनके '**कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्**' को देखने से और भी ज्ञात होता है जिसमें महाभारत के सागर को गागर में इस निपुणता के साथ भरा गया है कि आश्चर्य होता है और अद्भुत प्रवाह के साथ कहानी कही गयी है। बहरहाल मैं 'खिचड़ीदास' की बात कर रहा था। इस कहानी में अन्धश्रद्धा, जिसे जी. डी. बाबू ने मूर्खता की श्रद्धा कहा है, का विरोध किया गया है। इस कहानी को देखने से यह ज्ञात होता है कि जी. डी. वावू में व्यंग्य लिखने की कितनी अच्छी प्रतिभा थी। मेरी अपनी राय में यह कहानी हिन्दी की श्रेष्ठव्यंग्यकहानियों में से एक है।व्यंग्य की झलक उनके संस्मरणों में भी उपलव्ध है। विशेष रूप से इस सन्दर्भ में मैं उनके निम्नलिखित संस्मरणों पर ध्यान दिलाना चाहता हूं, 'वे दिन', 'मेरा शिक्षण' 'हीरा और नाहरसिंह'। ये सब के सव'विखरे विचारों की भरोटी'में संकलित हैं। स्वयं इस संकलन का शीर्षक भी जी. डी. वावू की गम्भीर विनोदवृत्ति का परिचायक है। 'भरोटी' उस गांठ अथवा छावड़ी को कहते हैं जिसमें कई तरह का सामान एकसाथ बांध कर रखा जा सकता है।

विशिष्ट शैलीकार

कुल मिलाकर जी. डी. वावू के लेखन के वारे में उल्लेखनीय विशिष्टताये मुझे यह दीखती हैं। सवसे पहले, विपयवस्तु के प्रति आत्मीयता। वह लिखते थे तो

पहुंचना जो एक बिल्कुल दूसरे रास्ते—विज्ञान से बीसवीं शताब्दी के चिन्तन की देन है।

जी. डी. बाबू के ये वैचारिक निबन्ध द्विवेदी युगीन निबन्धकारों की टक्कर के हैं—मैं तो यह भी कहने की धृष्टता करूंगा कि कहीं कहीं आगे बढ़े हुए हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के विषय में यह प्रायः कहा जाता है कि राजनीति में शीर्ष स्थान प्राप्त करने के नाते उनका लेखक स्वरूप आंखों से ओझल रह जाता है। जी. डी. बाबू के लेखन के बारे में लिखते समय मुझे यह बराबर लगा रहा है कि यदि वह किसी छद्म नाम से लिखते रहते और बराबर लिखते, इतने बड़े उद्योगपति के रूप में सुपरिचित न होते तो हिन्दी के गण्यमान्य लेखकों की सूची में एक बहुत बड़े स्थान के अधिकारी के रूप में उनका नाम सबकी जुबान पर चढ़ा रहता। इस सीमित अर्थ में उनकी लक्ष्मी ने उनकी सरस्वती से अपना वैर जरूर साधा। 'राढ़ की जड़ हांसी' और 'बिखरे विचारों की भरोटी' जैसे निबन्ध जी. डी. बाबू की गहरी सूझबूझ और देश के समग्र उत्थान में उनके मार्मिक लगाव के परिचायक हैं और हिन्दी लेखन के मानदण्ड स्थापित करते हैं।

अर्थव्यवस्था पर लोकप्रिय लेखन

गाँधीजी के आदेश पर जी. डी. बाबू ने एक पुस्तक लिखी—'रुपये की कहानी'। यह इस उद्देश्य से लिखी गयी थी कि सिक्का, हुंडी वगैरा क्या चीजें हैं, उनके चलने का आधार क्या है इसका परिचय उन लोगों को भी मिल सके जो आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ नहीं हैं। इसका मीमांसा भाग जी. डी. बाबू ने लिखा है और इतिहास भाग पारसनाथजी ने। पारसनाथजी जी. डी. बाबू के निकट के लोगों में से रहे हैं और बाद में हिन्दुस्तान टाइम्स के जनरल मैनेजर भी रहे। इस पुस्तक में बड़ी ही सरल शैली में मुद्रा के चलन की सारी बारीकियों को समझाया गया है। इसके अतिरिक्त जी. डी. बाबू के कई अन्य लेख भी अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं से संबंधित हैं जैसे 'पानी में भी मीन पियासी', 'सट्टा, फाटका या फ्यूचर मार्केट', 'सात बोध सूत्र'। गम्भीर और शुष्क विषय पर लिखते समय भी जी. डी. बाबू किस प्रकार सहज और कुछ-कुछ विनोदी मुद्रा बनाये रखते थे और अपने व्यापक अध्ययन का उपयोग इस प्रकार के लेखन में भी कैसे करते थे इसके प्रमाण इन लेखों के शीर्षकों में भी हैं और भीतर के लेखन में भी। 'पानी में भी मीन पियासी' का अन्त इस तरह होता है—"असल में होगा वही, जो होर साहब या उनके जानशीन चाहेंगे।

कि उन्होंने फिर बाद में बहुत पढ़ा। अंग्रेजी साहित्य, हिन्दी साहित्य, रूसी साहित्य पढ़ते रहते थे। मुझे सरलाजी ने बताया कि उनका निजी पुस्तकालय कई जगहों पर था। किताबें पढ़-पढ़ कर पिलानी भेज देते थे।

जी. डी. बाबू किताबें पढ़ते भी थे, पढ़वाते भी थे। प्रायः ऐसा हुआ है कि उन्हें यदि कोई किताब पसन्द आयी तो वह उसे किसी को भेज देते थे जो उनकी दृष्टि में उस किताब को पढ़ने में रुचि रख सकता था। उन्होंने कुछ पुस्तकें श्री टी. टी. कृष्णमाचारी को विदेश से भिजवायी थीं। किसी पुस्तक के बारे में उनकी रुचि यदि जागृत होती थी तो उस पर वह सबसे चर्चा करते थे और लोगों को उस पुस्तक को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। डा अम्बेडकर की पाकिस्तान पर लिखी पुस्तक का उल्लेख उन्होंने बहुतों से किया, स्वयं इस पुस्तक के बारे में ही बात करने के लिए डा. अम्बेडकर से कई बार मिले और उसकी 1000 प्रतियां खरीदीं। ऐसी अनेक घटनायें हैं।

मुझ पर जो उनका वात्सल्य भाव था वह कभी-कभी मेरी कविताओं पर भी प्रकट हो जाता था। अप्रैल 1982 में मैंने एक बार उनसे चर्चा की कि पिछले महीने मैं प्रयाग में महादेवीजी के पास था। रात को उन्होंने मेरी 'एक जमुनोत्री यात्रा' देखी थी और सुबह एक ही बैठक में उसका संगीत आद्योपान्त सुना। उन्होंने कहा कि पहली कविता में दृश्य का अच्छा वर्णन है, दूसरी हर श्रेष्ठ पिता-पुत्र का रूपक है पर तीसरी काव्य की दृष्टि से अच्छी कविता है—'चरणों के चित्र नहीं, चरण तुम्हारे चित्र बन गये' अच्छा लिखा। इसी प्रकार 'पत्थर-पत्थर मित्र बन गये' प्रभावपूर्ण है। भाई साहब (जी. डी. बाबू को महादेवीजी इसी प्रकार सम्बोधन करती हैं) को भी यह काव्य-क्रम और संगीत काफी अच्छा लगा होगा क्योंकि वह इसमें अपना ही नहीं सबका स्वरूप देख लेते हैं—उनकी दृष्टि बड़ी सजग है। जी. डी. बाबू यह सब सुनकर सन्तुष्ट और प्रसन्न दिखाई पड़े। मैंने कहा, "शब्दों के प्रयोग में और अपनी चिन्तनधारा को बोलने में, समय-सीमा पूरी निभाते हुए भी आप आजकल खूब उन्मुक्त ढंग से बोलते हैं।" उन्होंने अपने सीने पर हाथ रखते हुए कहा, "मैं यहां से बोलता हूं, न कि बस यहां से," हाथ मस्तिष्क पर रखते हुए संकेत किया। हां, वह मस्तिष्क के अलावा हृदय से भी बोलते थे। कहते थे, "खूब पढ़ता रहता हूं और इसके माध्यम से बड़ों-बड़ों की कम्पनी कर लेता हूं।" बड़ों-बड़ों की कम्पनी करने के क्रम में उन्होंने जीवन के अन्तिम दशक में फ्रेंच का अध्ययन प्रारम्भ किया और उसमें अच्छी जानकारी प्राप्त कर ली थी।

मन से लिखते थे। इसी नाते उनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं है। '**कृष्णं वंदे जगद्गुरुम**' में भी वह 'लल्लो-चप्पो' और 'अमन-चैन' जैसे शब्दों का सहज प्रयोग करते हैं। तत्सम शब्दों का प्रयोग तो खैर वह स्वभावतः करते ही थे। कोई विशेष जिद नहीं थी कि शब्द संस्कृत से ही लेंगे या देशज ही लेंगे या उर्दू के नजदीक हिन्दी को ले जायेंगे। अंग्रेजी से गहरा परिचय होते हुए भी वाक्य-विन्यास ठेठ हिन्दी का है। ऐसा आग्रह भी नहीं है कि अंग्रेजी में इस तरह से लिखना प्रभावकारी माना जाता है, हमारा प्रिय लेखक इस तरह से लिखता है, तो हम भी इसी तरह लिखें। बहुत ही सहज और इसीलिए प्रभावकारी लेखन है। विश्लेषण इतना गहरा होता था लेकिन कहीं कोई पण्डिताई दिखाने की कोशिश नहीं थी। उद्धरण इतने देते थे लेकिन कहीं ऐसा नहीं लगता कि उचित उद्धरण की तलाश में ग्रन्थ पलट रहे हों, जो सहज भाव से बात याद आ जाती थी लिख देते थे और ज्यादातर तो इस विनम्रता के अधीन लिख देते थे कि यह मैं क्या कह रहा हूं, यह तो बड़े लोग जो कह गये हैं, वही दुहरा रहा हूं। ये ही दो-चार बातें हैं जो उनके लेखन को हिन्दी में एक अलग जगह देती हैं और जिनके नाते मैं हिन्दी के कृती रचनाकारों में उन्हें मानता हूं। उनके लेखन में गहन अध्ययन के नाते एक अनूठी गरिमा के दर्शन होते हैं। पर भाषा सरल, पिलानी के आदमी की। भाव गम्भीर, चुने हुए साहित्यकारों की टक्कर के। तर्क शैली सुघड़, आधुनिक विचारकों की प्रखरता का प्रभाव डालती हुई। उन्होंने साहित्यकार अपने को कभी नहीं कहा, किन्तु मैं समझता हूं कि उनका जैसा साफ-सुथरा गद्य हिन्दी साहित्य में कम लोगों ने लिखा है। जो भी पूर्वाग्रह से रहित होकर निष्पक्ष होकर जी. डी. बाबू को पढ़ेगा, उसे ऐसा ही लगेगा यद्यपि मैं खुद यह दावा तो नहीं कर सकता कि मैं 'निष्पक्ष' हूं क्योंकि मुझे उनका निकट स्नेह प्राप्त कर सकने का सौभाग्य प्राप्त था।

पुस्तक प्रेमी एवं सुरुचिपूर्ण पाठक

जी. डी. बाबू की शिक्षा कोई विधिवत् विद्यालयी शिक्षा नहीं थी। इस रूप में वह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समेत हिन्दी के उन तमाम कृती साहित्यकारों की तरह थे जिनकी शिक्षा स्वयं पढ़कर हुई। मुझे बताया गया है कि एक बार जी. डी. बाबू से उनकी पौत्री मंजूश्री ने पूछा, "दादोजी आप कहां तक पढ़े थे?" उत्तर मिला, "कहां तक का क्या मतलब, किसी क्लास तक नहीं, मैं तो पढ़ता जा रहा हूं, अभी पढ़ा कहां हूं। दुनिया एक टैक्स्ट-बुक ही तो है। मैंने तो अपने आपसे ही पढ़ा है। मैं तो खुद ही अपने आपको पढ़ाता रहता हूं।" उन्होंने 'मेरा शिक्षण' शीर्षक लेख में विस्तार से इस बारे में लिखा है। शायद यही कारण है कि बाद में ऊंचे से ऊंचे स्तर के शिक्षा संस्थान उन्होंने खुलवाये। लेकिन मैं जो बात कहना चाहता था वह यह है

और लेखकों ने अपनी शैली बिगाड़ रखी है, तुम्हें उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये। हजारी प्रसाद द्विवेदी और वासुदेव शरण अग्रवाल अच्छा लिखते हैं। मेरी पुस्तकें भी पढ़ जाना क्योंकि शैली बुरी नहीं है। गाँधीजी और अन्य लोगों को उनकी सादगी पसन्द आयी है। मैं तुमसे यही कहना चाहता हूं कि लिखने में प्रयास मत करो। जो मन में आये लिखे जाओ तभी भाषा अच्छी होगी। भाषा को समृद्ध बनाने के लिए भी भाषा में पहले अराजकता पैदा करनी चाहिये। फिर कहता हूं, प्रयास मत करो, सरल-सहज लिखो।

"कल मैंने तुमको लिखा था कि सीधी-सादी भाषा बहुत रोचक होती है। मेरी बात को समझने के लिए तुम अकबर की रचनायें पढ़ना, मैथिलीशरणजी की भी रचनायें मुझे अच्छी लगती हैं मगर कविता हो तो ऐसी हो जैसी तुलसीदासजी की, जो विशद भी है और लोकप्रिय भी। तुलसीदासजी की यह उक्ति लो 'साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस विशद गुणमय फल जासू।।' इसमें सारे विशेषण साधु और कपास दोनों पर लागू होते हैं। गुणमय का अर्थ गुण भी है और तार भी। ऐसे ही 'जड़ चेतन गुण दोष मय विश्व कीन्ह करतार। सन्त, हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार।।' इसमें भी सारे विशेषण सन्त और हंस दोनों को लगते हैं। या तो भाषा तुलसीदास की सी विशद हो या फिर सीधी-सादी होते हुए भी रोचक हो। जैसे किसी ने समस्या दी कि 'रात को सपने में एक उल्लू नजर आया।' तो पूर्ति में कहा कि 'आंख मेरी खुल गयी तो तू नजर आया।' इसमें कोई खास कविता नहीं, खास भाषा नहीं, पर अपना एक मजा तो है। मगर जब भूषण कहते हैं कि 'तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती हैं' तो न भाषा है, न मजा है। इसलिए भाषा सरल मजेदार और तथ्यवाली हो। इसका अभ्यास करना।"

यह लम्बा उद्धरण आदित्य विक्रम के नाम भेजे गये दो पत्रों में से संकलित है। इसमें जी. डी. बाबू ने खुल कर अपनी पसन्द बतायी है। यह उद्धरण कई अर्थों में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। एक तो शायद यह अकेला मौका है जब उन्होंने अपने लेखन के बारे में खुद कोई राय जाहिर की है और यह इसलिए हो सका है कि ये पत्र नितान्त व्यक्तिगत हैं, पितामह के पत्र, पौत्र के नाम भेजे गये जिनमें कोई छिपाव-दुराव नहीं है, कोई संकोच नहीं है, सिर्फ इस बात की चिन्ता है कि लड़का अच्छी भाषा सीखे, अच्छी किताबें पढ़े और अच्छा लिखे। जी. डी. बाबू ने अपने परिवार के बच्चों को हमेशा अच्छा लिखने के लिए, अच्छा पढ़ने के लिए प्रेरित किया था।

तो इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि जी. डी. बाबू के प्रिय लेखक हिन्दी में

लेकिन उनके प्रिय ग्रन्थ थे—सभी उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भागवत गीता, और इधर के वर्षों में रामचरित मानस भी। ये धर्मग्रन्थ हैं और उनसे धर्म उन्होंने सीखा। लेकिन संस्कृत और प्राचीन हिन्दी कविता के अध्ययन से उनकी भाषा में बड़ा निखार आया। यह नहीं कि वह कोई कठिन भाषा लिखते थे लेकिन वह बड़ी प्रौढ़ भाषा लिखते थे और इसका कारण उनका संस्कृत का गहरा अध्ययन था। संस्कृत से उनका बड़ा गहरा लगाव था। मुझ से एक बार बोले, "संस्कृत को अब तो स्कूलों से ही हटा दिया गया है, देखा क्या समय है! पर इस भाषा को कभी फिर लाना पड़ेगा स्कूलों में।" मैंने पूछा, "क्या आप सचमुच ऐसा सोचते हैं या श्रद्धावश कह रहे हैं?" उत्तर था, "नहीं-नहीं मैं ऐसा ही सोचता और समझता हूं। मैंने तो एक बार लिखा भी था कि मैं समझता हूँ कि भारतीय भाषा के विकास और संस्कार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि संस्कृत के पठन-पाठन को खूब प्रोत्साहन दिया जाये।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उनकी अपनी भाषा के विकास और संस्कार में संस्कृत के पठन-पाठन का पूरा योगदान था।

स्वयं अपने घर में लोगों को संस्कृत पढ़ने के लिए बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे। सरलाजी को 24 दिसम्बर 1942 को भेजे गये एक पत्र में लिखा, "अध्ययन में संस्कृत का स्थान होना चाहिए। मेरा ख्याल है तुम संस्कृत का ठीक अभ्यास कर लो।" आदित्य विक्रम को बेरूत से एक पत्र भेजा था जिसमें संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया था। उसका अर्थ नहीं लिखा, पर लिखा, "श्लोक सीधा-साधा है। तुम्हारा संस्कृत का ज्ञान ठीक है इसलिये मेहनत करोगे तो श्लोक का अर्थ समझ में आ जायेगा।"

संस्कृत में उन्हें कालिदास का रघुवंश बहुत पसन्द था। लेकिन वह लौकिक संस्कृत के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के साहित्यिक पक्ष को भी खूब पहचानते थे। मुझे स्मरण है कि सूरजमलजी मोहता के यह पूछने पर कि आपकी दृष्टि में तुलसी कृत रामायण तो जोरदार है ही पर वाल्मीकि के बारे में आपका क्या मत है, वह तो प्रथम कवि थे, जी. डी. बाबू ने कहा, "वाल्मीकि ही क्यों, वाल्मीकि से पहले भी तो साहित्य था, बहुत था और अनेक रूपों में था।"

हिन्दी के तो खैर वह लेखक भी थे। लेकिन एक पाठक के रूप में हिन्दी का उन्हें क्या पसन्द था? मैं यहां स्वयं जी. डी. बाबू के ही शब्द उद्धृत करना चाहूंगा:

"भाषा सरल और बोलचाल की होनी चाहिये। कुछ उर्दू के मुहावरों का भी ज्ञान होना चाहिये। लेख, लेख हो, शब्दों का जंजाल नहीं।... ... हिन्दी के कवि

स्वयं मुझसे जब कभी चर्चा होती थी तो वह अंग्रेजी साहित्य की बड़ी प्रशंसा करते थे। फरवरी 1982 में उन्होंने एक बार मुझसे कहा कि 'हिन्दी वाले तो आजकल बड़ा विचित्र लिखते हैं।' अब इस बात से हम हिन्दी वाले पूरी तौर पर सहमत हों या न हों, इसका उल्लेख करके जो मैं यहां कहना चाहता हूं वह यह है कि 1982 में भी वह हिन्दी का नया लेखन तो पढ़ते ही थे। उनकी इस टिप्पणी में मुझे जो कारण दीखता है वह यह है कि उन्होंने पाश्चात्य साहित्य बड़ी गहराई से पढ़ा और दुर्भाग्यवश हिन्दी का नया लेखन कई बार पश्चिम से सीधे-सीधे उठा लिया जाता है। अब जिसने अंग्रेजी का मूल पढ़ा हो उसे उसकी अधकचरी नकल क्यों अच्छी लगे? उन्हें विल ड्यूरांट की 'हिस्ट्री आफ फिलासफी' बहुत पसन्द थी। इधर में रस्किन की भी चर्चा करते थे। 'द फाल आफ डाइनेस्टीज', नामक पुस्तक बहुत पढ़ते थे और 'रोजर्स ऐंड द फ्रेंच रिवाल्यूशन' भी। वह वस्तुतः पाण्डित्यपूर्ण लेखन को अधिक पसन्द करते थे और इसीलिए हिन्दी के अन्य लेखकों की तुलना में वह डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अन्यतम प्रशंसक थे। हजारीप्रसादजी के भी लेखन को वह इसीलिए इतना महत्त्व देते थे कि उसमें पण्डितजी की विद्वत्ता पग-पग पर दीखती थी। संयोगवश, हजारीप्रसादजी भी जी. डी. बाबू के लेखन के प्रशंसक थे। उन्होंने 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्' पढ़ कर 23-6-78 को भेजे गये एक पत्र में जी. डी. बाबू को लिखा, "आपके भीतर एक प्रकार की अहिंसावृत्ति लिखने के समय भी काम करती रहती है....। सारी पुस्तक इतनी सहज शैली और तर्कसंगत भाषा में लिखी गयी है कि आश्चर्य होता है।"

लोकहितकारी लेखन के पक्षधर

उनका लेखन 'कला कला के लिए' वाली श्रेणी में तो नहीं ही था। 'हरिजन' में उन्होंने जो लेख लिखे या अन्य पत्र-पत्रिकाओं में जो भी उन्होंने कभी-कभार लिखा उससे उनके लेखन का पत्रकारिता पक्ष भी प्रकट होता है। वह हमेशा यह कोशिश करते थे कि किसी समस्या पर लिखा जाये, कोई कारण हो तब लिखा जाये और कोई उद्देश्य हो तब लिखा जाये। मुझे स्मरण है कि मैं जब अक्टूबर 82 में देहरादून एयरपोर्ट से उनके साथ गाड़ी में गंगालहरी जा रहा था तो जी. डी. बाबू ने मुझे कई बातें बतायीं। कहा, "ज्ञानी वह है जो केवल ज्ञान को ग्रहण करने में ही नहीं बल्कि बांटने में भी सक्षम है। धनी वह है जो केवल धन-संग्रह और संचय करने में ही नहीं बल्कि उसे दान देने में और सद्व्यय करने में भी स्वतन्त्र है। यदि ज्ञान को बांटने में ज्ञानी सक्षम नहीं है, दान और सद्व्यय करने में धनी स्वतन्त्र नहीं है तो ज्ञानी मात्र एक पुस्तक है और धनी केवल एक प्रहरी है।"

कौन थे। मैथिलीशरण गुप्त, हजारी प्रसाद द्विवेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल। वियोगी हरिजी से मेरी बातचीत के दौरान इन लेखकों के अतिरिक्त जी. डी. बाबू के कुछ अन्य प्रिय लेखकों का भी नाम आया—वृन्दावनलाल वर्मा और महावीर प्रसादजी पोद्दार। महादेवीजी के भी बहुत प्रशंसक थे। लेकिन निश्चित रूप से जी. डी. बाबू के सर्वाधिक प्रिय लेखक थे तुलसीदास। ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वह केवल भक्त तुलसी के नहीं, कवि तुलसी के भी कायल थे। मुझसे कहा करते थे, "रामनिवास, तुलसी को पढ़ो तो दौड़ता हुआ आकर लिपट जाता है। दूसरे को पढ़ो तो उसको खोजते ही रह जाओ।"

जब जी. डी. बाबू 'हिन्दी' कहते थे तो उसमें हिन्दी का वह स्वरूप भी शामिल था जो उर्दू के नाम से जाना जाता है। अकबर इलाहाबादी से भाषा सीखने के लिए उन्होंने ऊपर के उद्धरण में आदित्य विक्रम को प्रोत्साहित किया है। अकबर, जी. डी. बाबू के प्रिय शायर थे और उन्हें वह बराबर अपने लेखों और भाषणों में उद्धृत करते थे। उर्दू के भीतर उन्हें जिन गुणों के दर्शन होते थे वे थे मुहावरेदार और सीधी-सादी भाषा तथा चुस्त शैली। भारत के अन्य भाषा-भाषी रचनाकारों में वह रवीन्द्रनाथ टैगोर पर मुग्ध थे।

भारतीय साहित्य के प्रति व्यक्तिगत अनुराग के नाते मैंने जी. डी. बाबू की अध्ययन सामग्री में विशेष रूप से अभी भारतीय साहित्य का ही उल्लेख किया है, और वह भी विशेष रूप से इसलिए कि मेरा उनसे निकट का परिचय उनके जीवन के पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में ही अधिक हुआ जबकि भारतीय साहित्य की ओर उनका झुकाव अधिक बढ़ा था। किन्तु वह मुख्यतः पश्चिमी साहित्य के पाठक थे और यहां 'साहित्य' का प्रयोग मैं व्यापक अर्थ में कर रहा हूं। हर दो-चार महीनों में लन्दन आफिस के एस. जे. गब्बे चुनी हुई पचास-साठ पुस्तकें उन्हें भिजवाते रहते थे। इसमें तमाम तरह की पुस्तकें होती थीं, यात्रा पुस्तकें, जीवनियां आदि भी। चिकित्साशास्त्र में उनकी गहरी दिलचस्पी थी और इस विषय की नयी से नयी पुस्तक पढ़ते थे। उनके संग्रह में इस विषय पर बहुत सामग्री थी। विज्ञान की नयी उपलब्धियों पर जो भी महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय पुस्तक छपती थी मंगवा कर पढ़ते थे। ग्रीक मिथकों में बड़ी रुचि थी और उनके बारे में बहुत पढ़ा करते थे। भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र में नया क्या लिखा जा रहा है इसका पूरा परिचय रखने का प्रयास करते थे। जो चीजें साथ रखते थे उनमें आक्सफोर्ड प्रेस का नया से नया वर्ल्ड मैप भी था। सरलाजी से मुझे मालूम हुआ कि 'डिकेन्स' के उपन्यास पढ़ा करते थे। मुझे काशी मुनीम ने बताया कि उनको 'आस्कर वाइल्ड' की रचनाएं पसन्द थीं।

इन मनीषियों के ये उद्‌गार जी. डी. बाबू के लेखन की आन्तरिक शक्ति को उजागर करते हैं।

जब बात दिल से कही जाती है तो दिल पर असर करती है। जब जी. डी. बाबू लिखते हैं, "श्रीकृष्ण शब्द आत्मा का पर्यायवाची हैं" तो स्वाभाविक रूप से चैतन्य सम्प्रदाय में प्रचलित इस धारणा का स्मरण हो आता है कि कृष्ण अवतार नहीं हैं, कृष्ण तो स्वयं भगवान ही हैं– **'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्।'** जब वह लिखते हैं कि, "हम सब कृष्ण हैं" तो अचानक यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि हां, यह बात साफ-साफ तो इस पुस्तक में उन्होंने कही लेकिन यह तो उन्होंने जब भी जिसके बारे में भी लिखा वह मानते थे ही। उन्हें गाँधीजी में, हीरा में, नाहरसिंह में, जमनालालजी में, अलग-अलग तरीकों से मनुष्यता के विविध उदात्त लक्षण दीखते थे तो वह इन सब में कृष्ण ही को तो देखते थे, कभी सखा मानकर, कभी पूज्य मानकर, कभी हंस कर, कभी रोकर। उनके लेखन में कभी कटुता नहीं आयी, कभी बुराई करने के लिए नहीं लिखा, तो यह कोई साधारण बात नहीं है। जी. डी. बाबू ने इस पुस्तक में बड़ी ऊंचाई हासिल की है। यह महाभारत के कुछ प्रसंगों के आधार पर लिखी गयी पुस्तक है। किन्तु उस कथा का संक्षिप्तीकरण मात्र नहीं है, यह श्रीकृष्ण के जीवन के उस पक्ष की पुनर्व्याख्या है, उस इतिहास में बिल्कुल नये प्राण फूंकती है। आवरण के ये वाक्य शब्दशः सत्य हैं–"यह जीवनी नहीं संजीवनी है।"

वियोगी हरिजी ने मुझसे कहा कि यह पुस्तक जी. डी. बाबू ने तब लिखी थी जब उनकी इच्छा यह हुई कि वृद्धावस्था आ गयी है कुछ सार्थक दे जाऊं। भगवान श्रीकृष्ण के सिद्धान्तों को समझाने के लिए अनेक प्रयास आधुनिक भारत के तत्वचिन्तकों ने किये हैं। जी. डी. बाबू का नाम इन तत्वचिन्तकों की अगली पंक्ति में अपने आप बैठ जाता है। उनका तमाम लेखन इस बात को बार-बार प्रमाणित करता रहा है कि वह केवल एक कर्मयोगी ही नहीं थे, चिन्तनयोगी भी थे, मननयोगी भी थे, विचारयोगी भी थे। साहित्य और कला की सेवा उनके योग का ही एक अंग थी, आराधना का ही एक हिस्सा थी।

पत्रकार और पत्रकारिता के संरक्षक

जैसा कि पहले भी मैं कह चुका हूं, जी. डी. बाबू का 'लिखने का कारण' सदा ही किसी खास मुद्दे को लोगों के सामने ले आना होता था। इस सन्दर्भ में पत्रकारिता में उनकी रुचि स्वाभाविक रूप से थी। ऊपर मैं यह बतला चुका हूं कि किस प्रकार वह 'हरिजन' इत्यादि में लेख लिखा करते थे। उनकी दृष्टि में

फिर बोले, "मैं तो विद्वानों और पण्डितों को यही कहता हूं कि अपने ज्ञान को दूसरों पर छविमान और प्रकाशित करो, तब जाकर समाज का सही भला होगा।"

धर्मग्रन्थों को भी वह इसी नाते महत्त्वपूर्ण मानते थे कि उनसे लोकमंगल होता है। मुझसे उन्होंने कहा था, "रामचरित मानस एक सरोवर है। दूसरे जल की भांति इसके जल में भी चार लक्षण हैं—डुबोने के, बहाने के, स्नान कराने के तथा निर्मल करने के। कथा में डूबो, मानस के अध्ययन में बहो, भक्ति में स्नान करो और मानस के दर्शन तथा ज्ञान से सारे जीवन को निर्मल करो।"

ये ही शब्द मैं उनके लेखन के बारे में भी कह सकता हूं। यह मेरा उनके प्रति अतिरिक्त श्रद्धाभाव हो सकता है किन्तु जिसके इतने निकट रहा, ज़िससे इतना कुछ सीखा उसके लिए श्रद्धा न करूं तो क्या करूं? लेकिन इस बिरादरी में मैं अकेला नहीं हूं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो सहृदय पाठक जी. डी. बाबू के समग्र लेखन को पढ़ेगा उसमें उसे एक ऐसे व्यक्ति के दर्शन होंगे जो इस दुनिया के परे कुछ और खोजना चाहता था, जो लेखन से व्यक्तिगत यश की प्राप्ति का उतना इच्छुक नहीं था जितना कि लोकमंगल का और उस लोकमंगल की कल्पना में भी केवल सांसारिक मंगल नहीं था, अपितु सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मंगल की कामना थी। उनके लेखन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण निश्चय ही 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्' है। इसको पढ़ते समय हिन्दी के श्रेष्ठ और आदरणीय भक्त कवियों और सन्तों की रचनाओं की याद अपने आप आ जाती है।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने जी. डी. बाबू को 12 अगस्त 1978 को लिखे गये एक पत्र में इस पुस्तक को 'सोने के थाल में बढ़िया केसरिया खीर' की उपमा दी है। प्रख्यात आलोचक डा. नगेन्द्र ने 25 जुलाई, 1978 को एक पत्र में जी. डी. बाबू को लिखा, "मुझे विश्वास है कि प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति आपकी रचना में अन्तर्मुक्त विचार और अनुभूति के परिपाक केआविर्भूत जीवन-रस का आस्वादन करेगा।" महादेवीजी ने सरलाजी को 28 फरवरी, 1979 को लिखे हुए एक पत्र में लिखा, "उनके (जी. डी. बाबू के) विचार प्रभावित तो करते ही हैं, विचारोत्तेजक भी हैं।" वयोवृद्ध प्रखर हिन्दी सेवी पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने 27 दिसम्बर, 1978 को लिखे हुए एक पत्र में जी. डी. बाबू को लिखा, "यह संसार का अष्टम आश्चर्य है कि आपके समान अतिव्यस्त महान उद्योगपति को हिन्दू धर्म के महान ग्रन्थों को इतनी बारीकी और गहराई से पढ़ने और पढ़कर उन पर इतना गहन चिन्तन कर उनका नवनीत निकाल कर इतने रोचक और प्रभावशाली शैली में लिखने का समय मिल गया।"

उद्योगपति के हितों के अनुरूप नहीं भी हो सकती है। लेकिन मैं जानता हूं कि ऐसे कई अवसर हैं जब जी. डी. बाबू के पास राजनेताओं ने उनके सम्पादकों की शिकायत करते हुए पत्र लिखे और उन्होंने अपने सम्पादक की सम्पादकीय स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया, उल्टे उसकी निर्भीकता के लिए उसकी प्रशंसा की। नवलगढ़ के रावल मदनसिंहजी ने मुझे बताया कि 1940-41 में जयपुर राज्य के प्राइमर्मिनिस्टर ज्ञाननाथजी ने जी. डी. बाबू से कहा कि आपका अखबार हिन्दुस्तान टाइम्स, सरकार के खिलाफ लिखता रहता है यह अच्छी बात नहीं है, तो जी. डी. बाबू का यही कहना था कि प्रेस का काम है कि वह जनता तक सच्ची खबरें पहुंचाये और सरकार को निरंकुश होने से यथासम्भव रोके।

दूसरी ओर वह प्रेस की जिम्मेदारी के भी कायल थे और निराधार खबरें छपने पर अपने सम्पादकों को सचेत भी करते थे। उन्होंने 27.11.58 को श्री श्रेयांसप्रसाद जैन को लिखे हुए पत्र में इस बात पर खेद प्रकट किया है कि हिन्दुस्तान टाइम्स में श्री शान्तिप्रसाद जैन के बारे में कुछ निराधार छप गया है। यदि वह सम्पादकीय नीति में हस्तक्षेप करते रहते तो यह माना जा सकता था कि यह 'दबाव डालना' है कि किन्तु वस्तुतः यह उस जिम्मेदारी का निभाना माना जाना चाहिए जो उन्होंने पत्रकारिता के अपने व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त की थी। इस सन्दर्भ में यह स्वाभाविक ही है कि वह बाबूराव विष्णुराव पराड़कर और अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जैसे पत्रकारों का सम्मान करते थे। वियोगी हरिजी ने बताया कि वह माधव राव सप्रे के भी प्रशंसक थे।

जी. डी. बाबू को यह सख्त नापसन्द था कि उनके औद्योगिक व्यक्तित्व को उनके अखबारों की नीति निर्धारित करने के लिए इस्तेमाल किया जाये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जैसा मैं पहले संकेत कर चुका हूं, वह अपने साहित्यिक लेखन को भी बहुत बचा कर रखते थे, क्योंकि उन्हें कहीं न कहीं यह सन्देह भी बना रहता था कि यदि उन्होंने अपनी प्रतिभा को पूरी तरह प्रकट होने दिया तो उनके लिए निर्णय करना कठिन हो जायेगा कि उस प्रतिभा का जो मूल्यांकन किया जा रहा है वह उनकी लेखन-क्षमता की पहचान के रूप में है या केवल इसलिए है कि वह एक बहुत बड़े उद्योगपति हैं। इसीलिए वह प्रायः बहुत अन्तरंग लोगों से ही अपने लेखन पर कोई टिप्पणी स्वीकार करते थे और ऐसे ही लोगों को अपनी पुस्तकें भेंट करते थे जिनके बारे में उन्हें यह विश्वास था कि वे उनसे उनके धन के नाते नहीं आतंकित हैं। 'असमझवार सराहिवो, समझवार की चूप' में उन्हें 'असमझवार सराहिवो' ज्यादा बुरा लगता था।

पत्र-पत्रिकाएं और अखबार राष्ट्रीय चेतना को जगाने के बहुत ही समर्थ साधन थे। लक्ष्मीनिवासजी ने बतलाया कि 1920 के बाद कलकत्ते से उन्होंने 'बंगाली' और 'न्यू एम्पायर' निकाले थे। इन्हीं की प्रेरणा से 1921 में सामाजिक क्रान्तिकारी साप्ताहिक 'अग्रसर' भी कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। कलकत्ता पत्रकारिता का इस समय केन्द्र था। हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' 1826 में वहीं से प्रकाशित हुआ था। 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम के पहले कई पत्र-पत्रिकाएं निकल चुकी थीं जिसमें हिन्दी का प्रथम दैनिक समाचार पत्र 'सुधावर्षण' भी शामिल था। जिस समय जी. डी. बाबू ने कलकत्ते से पत्र निकाले उसी के इर्द-गिर्द कई महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएं निकलती थीं, जिनमें 'भारत-मित्र', 'विशाल-भारत', 'मतवाला' थे। जी. डी. बाबू ने पत्रकारिता में अपनी रुचि बराबर कायम रखी और इस रुचि के पीछे अपनी शक्तिभर राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में सहयोग देने की भावना शामिल थी।

यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि जी. डी. बाबू ने 'हरिजन' में न केवल लेख ही लिखे अपितु आर्थिक रूप से वह उसे सहायता देते रहे। इलाहाबाद का प्रमुख राष्ट्रीय पत्र 'लीडर' जी. डी. बाबू की प्रेरणा और उनके आर्थिक सहयोग से ही निकला था। साहित्य एवं अन्य विषयों की स्तरीय पुस्तकों के प्रसिद्ध प्रकाशन भारती भण्डार के भी पीछे जी. डी. बाबू थे। 1927 में उन्होंने हिन्दुस्तान टाइम्स खरीदा। हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन समूह इस समय भारत के प्रमुख प्रकाशन समूहों में से एक है। उल्लेखनीय है कि सर्चलाइट और आर्यावर्त अखबार भी पटना से जी. डी. बाबू ने निकलवाये।

अखबारों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के प्रसार एवं प्रचार में जी. डी. बाबू की जो रुचि थी वह व्यावसायिक दृष्टिकोण से नहीं थी। ऊपर के सारे प्रकाशनों को प्रारम्भ करने के पीछे भारतीय जनसाधारण के चिन्तन में परिष्कार लाना ही उनका प्रमुख आग्रह था। उदाहरण के लिए सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन संस्था की मूल प्रेरणा और आर्थिक शक्ति जी. डी. बाबू ही थे। सस्ता साहित्य मण्डल एक व्यावसायिक प्रकाशन है, यह किसी भी दृष्टि से नहीं कहा जा सकता।

अखबार के मालिक की हैसियत से जी. डी. बाबू समाचारपत्रों पर अपना क्या हक समझते थे? यह सन्देह स्वाभाविक है कि अपनी शक्ति का उन्होंने सम्पादकीय क्षेत्र में हस्तक्षेप करने के लिए उपयोग किया हो, विशेषतः इसलिए भी कि वह एक बहुत बड़े उद्योग-समूह के अधिपति थे और प्रेस की आजादी का एक मतलब यह भी होता है कि सरकार की आलोचना की जा सके जो कि एक

पिलानी का विड़ला विद्याविहार

उद्योग और स्वाधीनता आन्दोलन के जटिलतम हिस्सों से जूझते समय भी, भारतीय स्वातन्त्र्योत्तर अर्थव्यवस्था के निर्माण के शिखर शिल्पियों में से होते हुए भी, जी. डी. बाबू ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया। प्राचीन भारतीय इतिहास ऐसे श्रीमन्तों से अपरिचित नहीं है जो स्वयं भी विद्वान और रचनाकार थे, तथा विद्वत्ता और साहित्य-कर्म के आश्रयदाता भी। महाराज हर्ष, महाराज भोज, कुछ ऐसे ही प्रसिद्ध नाम हैं। मैं समझता हूं कि जी. डी. बाबू भी इन्हीं दुर्लभ व्यक्तियों की परम्परा में थे, जिन्हें सरस्वती और लक्ष्मी दोनों ने अपना परस्पर वैरभाव भुलाकर आशीर्वाद दिया था।

'विद्ययामृतमश्नुते'—विद्या की उपासना से मनुष्य अमर हो जाता है—ईशावास्योपनिषद् का यह वाक्य जी. डी. बाबू के प्रिय वाक्यों में से था। वह जिन्दगी भर विद्या की आराधना में, विद्या के प्रसार में, विद्या की सेवा में, लगे रहे। अमर हो जाने का क्या मतलब है, यह तो ठीक-ठीक नहीं बता सकता लेकिन जिस अर्थ में भी यह बात मृत्युलोक के नश्वर प्राणियों के लिए कही जाती रही है, उस अर्थ में निश्चय ही जी. डी. बाबू अमर हैं।

खींची थीं बन्दर बनाने को पर भगवान की कृपा से गणेश बन गया।" वह पिलानी को आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और मेसाचुसेट्स बनाना चाहते थे ताकि भारतवर्ष के विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा के लिए बाहर न जाना पड़े। आज बी. आई. टी. एस. तथा इलैक्ट्रोनिक्स रिसर्च सेन्टर उसी प्रकार के विख्यात संस्थान बन चुके हैं। बी. आई. टी. एस. के डायरेक्टर डा. चितरंजन मित्रा ने बताया है कि जी. डी. बाबू को पिलानी के कण-कण का ज्ञान था। उनकी तो बस एक ही उत्कट आकांक्षा थी कि पिलानी में शिक्षा की अधिक से अधिक और ऊंची से ऊंची उन्नति और अभिवृद्धि हो। पिलानी की उन्नति के लिए वह सब असुविधाएं झेलने को तैयार रहे। उद्योग-संचालन उनका कर्म था और पिलानी को शिखर पर चढ़ाना उनका धर्म था।

सरस्वती की क्रीड़ास्थली आधुनिक पिलानी की नींव रखने में सबसे बड़ी कठिनाई थी मरुभूमि। जहां रेत के ऐसे भयानक टीले और गार थे, जिनमें सैकड़ों हाथी डूब जायें और पता न चले, वहां इमारतें खड़ी करने और हरे भरे पेड़ लगाने की कल्पना क्या साधारण मनुष्य के बूते की बात है! चाहे परिश्रम की दृष्टि से सोचें या साधनों की दृष्टि से, यह काम सामान्य परिस्थितियों में किये जाने वाले ऐसे किसी भी काम से हजारों गुना दुष्कर था। एक-एक पेड़ लगाना एक-एक घर बनाने के समान श्रम-साध्य और साधन-साध्य था। पेड़ों की एक-एक कतार की उस मरुभूमि में जड़ें जमाना और उसे पनपते हुए देखना एक पूरे परिवार की देखरेख से कम न था। लेकिन फिर भी जी. डी. बाबू अपनी जन्मभूमि को विद्या का तीर्थ बनाने के संकल्प में जुटे रहे और आखिरकार उन्होंने वह कर दिखाया जिसे देखकर मानना ही पड़ता है कि मानव की कर्मठता नियति के विकराल चक्र को भी मोड़ सकती है।

कहते हैं पिलानी को उसका आधुनिक स्वरूप देने के पीछे जी. डी. बाबू के मन की दो प्रेरणाएं मुख्य रूप से सहायक बनीं। एक था उनका अपनी जन्मस्थली के प्रति अनन्य अनुराग। दूसरा, जैसा कि उनके निकट रहने वाले कुछ और लोगों का भी विचार है और मेरी भी व्यक्तिगत धारणा है, अपनी साध्वी पत्नी के देहावसान के बाद उनके मन में उपजे अपार विरह ने उन्हें इस भव्य और विशाल सपने को साकार करने की ओर मोड़ दिया। उनके मन के पारस का स्पर्श पाकर पिलानी के रूखे सिकताकण ज्ञान के स्वर्णिम आलोक से जगमगा उठे।

जब-जब पिलानी का जिक्र आयेगा जी. डी. बाबू का नाम स्वभावतः उसके साथ अपने आप ही आयेगा। वह और पिलानी मानो पर्याय थे। और इसके साथ ही

पिलानी : बड़ से बोधिपीठ

तपते-झुलसते रेगिस्तान में रहने वाला हरे-भरे नखलिस्तान के सपने नहीं देखेगा तो और कौन देखेगा? रेगिस्तान की सूखी, झुलसाती रेत में रहने वाले लाखों इनसानों ने शायद सदियों से अपनी पलकों पर हरियाली के यह सपने संजोये होंगे और फिर कालान्तर में मृगमारीचिका के समान वे सपने भी सूखे पत्तों की तरह झड़कर मरुभूमि की रेत में कब मिल गये, कौन कह सकता है! लेकिन हर युग में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो प्रकृति के अटल सत्य समझी जाने वाली कठोर और भयावह वास्तविकताओं से लोहा लेने का न सिर्फ हौसला रखते हैं बल्कि उसमें सफल होकर ही दम लेते हैं। पिलानी के सन्दर्भ में सोचें तो मानना पड़ेगा कि जी डी. बाबू ऐसे ही कर्मठ और जुझारू किस्म के लोगों में से थे।

पिलानी भयानक मरुस्थल था—केवल भौतिक ही नहीं मानसिक और आध्यात्मिक अर्थों में भी। जहां पीने को दो घूंट जल, खाने को दो मुट्ठी अन्न भी दुष्प्राप्य हो वहां साहित्य, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान की चर्चा अरण्यरोदन ही मानी जा सकती है। जिस पिलानी में शिक्षा के नाम पर चौपाल की एक छोटी सी पाठशाला से अधिक कुछ न था वहां उन्होंने सरस्वती के ऐसे गगन-चुम्बी मन्दिर बनाने का सपना देखा जिन्हें देख लें तो दुनिया के ऊंचे से ऊंचे शिक्षा केन्द्र भी लजाकर सिर झुका लें। 'बड़वाली पिलानी' ने इस प्रकार 'बोधिपीठ' का स्वरूप धारण किया।

जी. डी. बाबू की सांस को राष्ट्र की औद्योगिक समृद्धि कहा जाये तो पिलानी की बोधिपीठ इस सांस की धड़कन थी। एक बार उन्होंने कहा, "हमने तो लकीरें

आज की पिलानी शिक्षा की वह त्रिवेणी है जहां हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के ज्ञान की तेजस्विनी धारा के साथ-साथ पश्चिम की अधुनातन ज्ञान-विज्ञान की धारा भी प्रवाहित होती है।

23 जनवरी, 1929 को बिड़ला शिक्षा ट्रस्ट का पंजीकरण किया गया। तब सैंकड़ों प्राइमरी स्कूल इस ट्रस्ट द्वारा चलाये जाते थे। उसी वर्ष जुलाई में यह इन्टर कालेज और दो वर्ष बाद डिग्री कालेज बना दिया गया। नवलगढ़ के रावल मदनसिंहजी ने बताया कि पिलानी के शिक्षा-केन्द्रों के इतिहास के पन्ने पलटने पर इस बात का सहज ही अनुमान हो जाता है कि इसके बाद अनेक सरकारी मुश्किलों के रहते हुए भी उसकी उन्नति और विकास किस तीव्रता के साथ हुआ है। सन् 1941 में भारत सरकार की ओर से सुरक्षा सेवाओं के लिए यहां तकनीकी प्रशिक्षण का केन्द्र खोला गया और फिर इसका विकास करके इसे नौ-सेना प्रशिक्षण केन्द्र का रूप दे दिया गया। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति के बाद सन् 1946 में इसी ने इंजीनियरिंग कालेज की शक्ल अख्तियार कर ली।

1947 में स्नातकोत्तर महाविद्यालय की स्थापना से पिलानी का मस्तक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ और ऊंचा हो गया। लेकिन पिलानी के लिए जो सपना जी. डी. बाबू ने देखा था उसकी तो अभी रूपरेखा भी पूरी तरह से मानो तैयार नहीं हुई थी। 1950 में फार्मेसी विभाग के बाद उत्तरोत्तर कई नये विषय जोड़े गये। बाद में 1964 में यहां विश्वविद्यालय की विधिवत स्थापना ने एक स्वप्न पूरा कर दिया।

1930 से 1965 तक के इन 35 वर्षों में जी. डी. बाबू ने देश-विदेश से चुनकर विभिन्न विषयों के प्रकाण्ड विद्वान पिलानी में एकत्र किये। अंग्रेजी के विद्वान प्रोफेसर सत्यचरण पाल, राजनीति के प्रोफेसर बालकृष्ण, इंजीनियरी के प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण, इतिहास के प्रोफेसर भगवतशरण उपाध्याय, हिन्दी-संस्कृत के डाक्टर कन्हैयालाल सहल, दर्शन मनोविज्ञान के प्रोफेसर हंसराज भाटिया, अर्थशास्त्र के डा. भाटिया, डा. बागची, भौतिकी के डा. मुखर्जी, रसायनशास्त्र के डा. आर. डी. गुप्ता और डा. मित्रा, फार्मेसी के प्रोफेसर महादेवलाल सर्राफ, जीवविज्ञान के डा. बेणीचरण महेन्द्र, वनस्पतिशास्त्र के डा. बी. बी. रत्नम्, वाणिज्य के प्रोफेसर आर. एस. याजनिक आदि-आदि प्रतिभा-सम्पन्न लोगों को जी. डी. बाबू ने पिलानी में एकत्र किया।

हाई स्कूल स्तर की शिक्षा की जिम्मेदारी श्री टी. मट्टू के कन्धों पर थी, जो बिड़ला हाई स्कूल के विख्यात हैड मास्टर थे, जिन्होंने हजारों छात्रों में शिक्षा की

याद आयेगी शुकदेवजी पाण्डे की जिन्होंने अपना सारा जीवन जी. डी. बाबू के इस सपने को साकार करने के लिए होम कर दिया। जी. डी. बाबू ने पण्डित मदनमोहन मालवीय से अनुरोध किया था कि मुझे एक ऐसा सच्ची निष्ठा और लगन वाला व्यक्ति चाहिये जो पूरी श्रद्धा के साथ पिलानी में सरस्वती के इन मन्दिरों को मेरी कल्पना के अनुरूप स्वरूप दे सके। मालवीयजी ने अपने सम्पर्क के दिग्गज विद्वत जनों में से छांट कर शुकदेवजी पाण्डे को पिलानी भेजा। जी. डी. बाबू ने उन्हें अपने चौथे भाई की तरह स्नेह के आलिंगन में ऐसा जकड़ लिया कि फिर वह सब कुछ भूल कर पिलानी के हो रहे। 1946 तक वह वहां प्रिन्सिपल की हैसियत से सारा काम देखते थे। उसके बाद उन्हें बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट का सचिव नियुक्त किया गया। 1946 से लेकर 1964-65 तक, इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना से लेकर बिड़ला इंस्टीट्यूट आफ टैक्नालाजी एण्ड साइन्सेज़ तक पिलानी के शिक्षा-केन्द्रों का विकास जी. डी. बाबू की योजना और पाण्डेजी के अथक परिश्रम का फल है।

ऊपर मैंने निवेदन किया कि पिलानी भौतिक, भौगोलिक मरुभूमि ही न थी मानसिक, आध्यात्मिक मरुभूमि भी थी। सबसे पहले तो जी. डी. बाबू ने उसके भौतिक स्वरूप को निखारा संवारा और अपने मन के अपार स्नेह से सींच कर उसे हरा-भरा कर दिया। जहां दो मुट्ठी कदन्न के दर्शन दुर्लभ थे वहां उन्होंने सरस्वती के उपासकों के लिए उनकी आवश्यकता के अनुरूप खान-पान का ऐसा समुचित और व्यापक प्रबन्ध किया कि किसी चीज की कमी महसूस न हो। आज पिलानी की पाकशालाओं में वह सब कुछ सहज उपलब्ध है जिसकी आवश्यकता या आकांक्षा किसी विद्या-व्यसनी को हो सकती है। कहते हैं मनुष्य के सभी धर्म और कर्त्तव्य शरीर के माध्यम से होते हैं, **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'**। जी. डी. बाबू ने पिलानी में रह कर अध्ययन-अध्यापन करने वालों के शारीरिक स्वास्थ्य के सभी साधन प्रकृति की इस अभावस्थली में जुटा कर उसे शस्यश्यामला-अन्नपूर्णा बना दिया।

रही आध्यात्मिक, मानसिक अभाव की बात। जी. डी. बाबू ने अपने अदम्य अध्यवसाय और अपार साधनों का उदारतापूर्वक प्रयोग करते हुए विभिन्न विषयों के ऐसे प्रकाण्ड विद्वान पिलानी में एकत्र किये कि वह विद्या का एक आदर्श केन्द्र बन जाये। आज का पिलानी देखकर मेरा मन अतीत के उन भव्य विद्या केन्द्रों की ओर चला जाता है जिन्हें इतिहास तक्षशिला और नालन्दा के नाम से पुकारता है और जहां अपनी विद्या की प्यास बुझाने के लिए संसार के कोने-कोने से विद्यार्थी आते थे और बिना किसी धर्म, जाति, वर्ण के भेदभाव के उन्हें वहां आश्रय मिलता था। कदाचित जी. डी. बाबू ने भी कुछ ऐसा ही सपना देखा होगा।

गुलाल अपने माथे पर मलने का आनन्द लेने और वहां के विद्याविहार का चमत्कार देखने। वह जंगल में मंगल नहीं था, ऊसर में अमृत था। पिलानी किसी राजनीति, धर्मनीति या अर्थनीति का केन्द्र नहीं बना। सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का शिलालेख स्वयं चल कर पिलानी के चरण पखार आया। सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन अनेक बार वहां गये। प्रो. सी. वी. रमन भी पहुंचे। साहित्य और कला की सभी विभूतियां वहां गयीं।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू जब पिलानी आये तब उन्होंने उसकी बहुत प्रशंसा तो की ही साथ ही जी. डी. बाबू से यह भी कहा कि यदि आप दिल्ली या बम्बई जैसे किसी महानगर में शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करते तो उसकी उपयोगिता और लाभ सैकड़ों गुना अधिक होते। इस पर जी. डी. बाबू का सहज सौम्य उत्तर था, "आप ठीक कहते हैं, लेकिन उन महानगरों में सरस्वती का ऐसा मन्दिर बनाने के लिए मैं वह हृदय कहां से लाता जो जन्मभूमि के इस कण-कण पर न्यौछावर हो गया है।"

इसी प्रकार एक बार पिलानी में नेहरूजी का स्वागत करते हुए अपने भाषण में जी. डी. बाबू ने कहा, "राजस्थान में जमीन के नीचे पानी बह रहा है, ऊपर पानी बह रहा है, बहुत-सा पानी बह कर समुद्र में जा रहा है और नीचे पड़ा हुआ है। यह पानी काम नहीं आ रहा है तो सरकार ऐसी कोशिश करे कि राजस्थान में या तो नीचे से पानी ऊपर उठा दिया जाये या ऊपर से बरसने वाले पानी को लिफ्ट इरीगेशन में ला दें तो और कोई सहायता हमें राजस्थान सरकार से नहीं चाहिए। हम लोगों की यही प्रार्थना है।" थोड़ी सी बात में उन्होंने इतनी बड़ी बात कह दी।

जी. डी. बाबू पिलानी के शिक्षा-केन्द्रों को एक अलग ही रंग देना चाहते थे, जिसमें रंगे हुए शिक्षार्थी जहां कहीं भी जायें अपनी विशिष्टता के कारण अलग से पहचाने जा सकें। उन्हें अमेरिका के प्रसिद्ध मेसाचुसेट्स ऑफ टेक्नॉलोजी के उन्नत और विकसित स्वरूप ने प्रभावित किया तो पिलानी में भी उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का एक ऐसा ही शिक्षा केन्द्र बनाने का संकल्प कर डाला। इसके लिए उन्होंने मेसाचुसेट्स से तो सहयोग लिया ही उसके अतिरिक्त अपनी कल्पना के अनुरूप कुछ और संशोधन करके उसके कार्यकलाप और पाठ्यक्रम को भारत जैसे विकासशील देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल दिया। 1964 में स्थापित इसी संस्थान को आज हम 'बिड़ला इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलोजी एण्ड साइन्सेज़' के नाम से जानते हैं और आज देश का हर नागरिक इसकी चर्चा करते हुए गर्व का अनुभव करता है।

नींव डाली। बालिकाओं की शिक्षा की मुख्य जिम्मेदारी देवकी अम्मा उपाध्याय पर थी जो 1940 से ही इस काम में निरन्तर जुटी रहीं।

पिलानी के शिक्षाविदों के प्रति जी. डी. बाबू के मन में सदा प्रगाढ़ प्रेम रहा। एक बार जब वर्तमान डायरेक्टर मित्रा के निवास पर जी. डी. बाबू को एक स्वागत-समारोह में आने का अनुरोध किया गया तब उन्होंने सहज स्वीकृति दे दी। समारोह में उनके पहुंचने पर अनेक अतिथियों ने धीमे स्वरों में आपसी बातचीत में आश्चर्य व्यक्त किया कि आज तो चेयरमैन, डायरेक्टर के घर आ गये जबकि पहले वे इस घर या अन्य ऐसे किसी घर पर नहीं आये। जब चेयरमैन जी. डी. बाबू को यह बात बतायी गयी तो उन्होंने कहा, "मुझे क्यों बदनाम करते हो। मुझे तो बुलाया ही इसी बार गया है।" डाक्टर मित्रा के अनुसार जी. डी. बाबू वह दुर्लभ रसायन थे कि किसी भी धातु को छूते ही उसे स्वर्ण बना देते।

पिलानी में ऐसा प्रकाण्ड विद्वत समूह जुटाकर भी जी. डी. बाबू के हृदय को सन्तोष न था। वह इस मरुभूमि में ज्ञान-विज्ञान का ऐसा सागर लहरा देना चाहते थे जिसका अवगाहन करने वाले आकण्ठ तृप्त हो जायें। इसके लिए वह समय-समय पर विदेशों से अनेक प्रकार के विद्वानों को बुलाकर पिलानी में उनके विशेष व्याख्यानों की व्यवस्था करते ताकि आधुनिकतम शिक्षा का आलोक सुदूर पिलानी में अध्ययन करने आये हर विद्यार्थी तक पहुंच सके।

यहां मुझे एक छोटी-सी घटना याद हो आती है। 1949-50 की बात है। यूनेस्को के प्रख्यात शिक्षाशास्त्री डा. अलेक्जेन्डर वुलसकी को जी. डी. बाबू ने व्याख्यान देने के लिए पिलानी बुलाया। उनका भाषण समाप्त होने पर पिलानी बिड़ला कालेज के प्रधानाचार्य प्रो. सत्यचरण पाल ने खड़े हो कर अपने विचार व्यक्त करने आरम्भ किये तो उनकी विद्वत्ता और ज्ञान ने विदेशी विद्वान को ऐसा अभिभूत कर दिया कि सारी परम्पराएं तोड़कर वह दोबारा बोलने के लिए उठ खड़े हुए। उन्होंने प्रो. पाल की भूरि-भूरि प्रशंसा तो की साथ ही जी. डी. बाबू को यह उलाहना भी दे डाला कि अपने यहां ऐसे प्रकाण्ड विद्वानों के होते आपने व्यर्थ ही इतना बड़ा खर्चा करके इतनी दूर से मुझे बुलाया!

देश का कोई भी ऐसा महान नेता न होगा जिसका मन सरस्वती के इस वैभव को देखकर तृप्त न हुआ हो। राजेन्द्र बाबू अनेक बार वहां रहे और पिलानी की गायों का दूध सेवन करके तथा वहां की जलवायु से स्वास्थ्य लाभ किया। जवाहरलालजी नेहरू वहां तीन बार गये—मरुभूमि की उड़ती हुई आंधियों का

विद्वान कोई भी क्यों न हो, उनको अपना लगता। जी. डी. बाबू ने पिलानी के वर्तमान को तो अपने हाथों सजाया-संवारा ही, उसके भविष्य की भी सम्यक व्यवस्था वह स्वयं कर गये थे। बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट आज देश के सबसे बड़े गैर-सरकारी ट्रस्टों में से एक है। एक बार जब मैंने उनसे पूछा कि पिलानी के भविष्य के बारे में आपने क्या सोचा है? तो जी. डी. बाबू बोले कि इस संस्थान को मेरे अपने ही बच्चे तो देख रहे हैं। वह अच्छा काम कर रहे हैं और आगे भी अच्छा ही करेंगे। उन्होंने पिलानी के शिक्षा-संस्थानों की सारी वित्तीय-व्यवस्था माधवप्रसादजी बिड़ला को सौंपी। बालिका विद्यापीठ, संस्कृत विद्यालय, बिड़ला म्यूज़ियम आदि का सब काम लक्ष्मीनिवासजी बिड़ला को दिया। बिड़ला इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलाजी एण्ड साइन्सेज़ का उत्तरादायित्व कृष्णकुमारजी बिड़ला को और बिड़ला पब्लिक स्कूल तथा हाई स्कूलों का उत्तरदायित्व बसन्तकुमारजी को दिया।

जी. डी. बाबू के सपनों की मनोरमस्थली पिलानी का यह शिक्षा-केन्द्र पूर्व और पश्चिम के ज्ञान का एक अद्‌भुत संगम है। इसके परिवेश में प्राचीन भारतीय अध्यात्म और ज्ञान के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक व तकनीकी ज्ञान परस्पर आलिंगनबद्ध हैं। वह हमारी संस्कृति की प्राचीन थाती को अक्षुण्ण रखते हुए आधुनिक विज्ञान के आलोक में आगे बढ़ने में विश्वास रखते थे। पूर्व और पश्चिम में जो कुछ भी ग्रहणीय है उसे एक स्थान पर सहज-सुलभ करने की उनकी महती आकांक्षा पिलानी में अपने मूर्त रूप में प्रकट हुई है। अपने देश की संस्कृति और परम्पराओं में उनकी श्रद्धा का अनुमान पिलानी के सरस्वती मन्दिर को देखकर सहज ही लगाया जा सकता है। इस मन्दिर को देखकर भारत की प्राचीन वास्तुकला का वैभव आंखों के आगे नाच उठता है। सरस्वती का यह मन्दिर पिलानी के सारे वातावरण को एक विचित्र पवित्रता से ओत-प्रोत किये हुए है। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि जी. डी. बाबू के नाम को किसी स्मारक की औपचारिकता की आवश्यकता नहीं। प्राचीन और आधुनिक सरस्वती की आराधना का यह केन्द्र पिलानी अपने आप में एक ऐसा भव्य और दिव्य स्मारक है जो शताब्दियों तक उनके नाम को अपनी विद्या के अमृत से सींच कर अमिट बनाये रखेगा।

जयति पिलानी विद्या मन्दिर
जयजय जयजय जयजय हे !

वह द्वार पर द्वार खोलते गये विद्या का वरदान बांटने, विद्या का अवदान पाने, विद्या का श्रृंगार भरने। जी. डी. बाबू की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य समाज के लिए उपयोगी नागरिक बनाना था, निरुद्देश्य भीड़ को तैयार करना नहीं। वह कहा करते थे, "उच्च शिक्षा हरेक के लिए नहीं होती और हर व्यक्ति उच्च शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं होता।" 'पिलानी बायज़' देश-विदेश में, हर स्थान पर जब उनसे मिलते तो उन्हें एक धर्म-पिता के रूप में प्रणाम करते और जी. डी. बाबू अपने धर्म की पहचान पर गद्गद हो जाते।

पिलानी शिक्षा का केन्द्र तो था ही, समय-समय पर वहां से बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट की सहायता से कुछ उपयोगी प्रकाशन भी निकलते रहे हैं। 1951 में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की पत्र-पत्रिकाएं' अपने समय का अभिनव प्रकाशन था। पिछले 34 वर्षों से 'मरु-भारती' की त्रैमासिक पत्रिका ने लोक साहित्य के क्षेत्र में बड़ा स्थायी स्थान बनाया है। 'माडर्न इण्डिया हेरीटेज़ एण्ड अचीवमेण्ट्स' नामक बृहद् ग्रन्थ जी. डी. बाबू की 80वीं वर्षगांठ पर उन्हें भेंट किया गया। यह ग्रन्थ अपने कलेवर में हजारों-हजारों उपयोगी सन्दर्भ समेटे हुए है।

जी. डी. बाबू ने पिलानी में शिक्षा का जो अद्भुत वातावरण अपने अदम्य उत्साह और अध्यवसाय के बल पर पैदा किया उससे अन्य लोगों में भी एक नयी प्रेरणा जगी। फलस्वरूप 'साबू कामर्स कालेज' और 'इन्द्रमणि मण्डेलिया होम साइन्स कालेज' जैसे बड़े शिक्षा संस्थान भी बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट के वर्तमान सैक्रेटरी श्री बी. सी. पाण्डे की देखरेख में स्थापित हुए। इस होम साइन्स कालेज का उद्घाटन करने जनवरी 1983 में जी. डी. बाबू स्वयं पिलानी गये थे। वायुयान से पिलानी हवाई-अड्डे पर उतरने के बाद प्रतीक्षा में खड़े पाण्डेजी ने उनसे कहा, "हम लोग आपका हार्दिक स्वागत करते हैं।" अपने विनोदपूर्ण लहजे में इसका उत्तर देते हुए जी. डी. बाबू ने कहा, "अरे पाण्डे, भाई! पिलानी में भी तुम हमारा स्वागत करते हो!" अगवानी में आये हुए सब लोग यह सुनकर मन्द हंसी में डूब गये। इसी प्रकार उसी मध्याह्न को पुनः दिल्ली के लिए सरलाजी और बसन्तकुमारजी के साथ वायुयान में सवार होते समय जब बी. आई. टी. एस. के डायरेक्टर की धर्मपत्नी श्रीमती मित्रा ने उनसे आग्रहपूर्वक पूछा, "आप पिलानी वापस कब आ रहे हैं?" —जी. डी. बाबू ने ऊंचे स्वर में कहा, "मुझे भूल जाओ। मैं अब 90 वर्ष का हूं।" और यही उनकी अन्तिम पिलानी-यात्रा सिद्ध हुई।

असल में पिलानी में जी. डी. बाबू की एक ही नीति थी—प्रीत की रीति। वहां का जमादार, दरबान, ड्राइवर, नाई, कम्पाउण्डर, रसोइया, कलाकार, अध्यापक

अनिर्वचनीयता प्रकारान्तर से उसी प्रकार की श्रद्धा का प्रमाण है, जिस प्रकार की श्रद्धा का प्रमाण यह कहना है कि आजादी जरूर मिलेगी। इन दोनों तर्कों के पहले जी. डी. बाबू ने यह कहा है कि नेहरूजी की आस्तिकता की पहचान के लिए धर्म और ईश्वर की धारणा की पहचान जरूरी है।

जी. डी. बाबू को यह जरूरत क्यों पड़ी कि नेहरूजी की धर्मचेतना का न केवल वह परीक्षण करें बल्कि उन्हें आस्तिक भी ठहरायें? किसी व्यक्तित्व की समग्रता बिना उसकी धर्मचेतना का अध्ययन किये नहीं आंकी जा सकती, क्योंकि प्रायः व्यक्तित्व-निर्माण में उसकी केन्द्रीय भूमिका होती है। उसकी केन्द्रीयता को अस्वीकार करने पर 'व्यक्तित्व' केवल ऊपरी बातों का पुलिन्दा बनकर रह जाएगा। इस लिहाज से नेहरूजी पर लिखते समय उनकी धर्मचेतना पर विचार अनिवार्य था। लेकिन यदि उनके बारे में यह प्रचलित विश्वास था कि वह आस्तिक नहीं हैं, तो इस विश्वास के विरोध में सप्रयास उन्हें आस्तिक प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता थी?

जी. डी. बाबू एक महान व्यक्ति पर लिख रहे थे। महान व्यक्ति क्यों महान होता है, इसकी खोज करने में ही महान व्यक्ति पर किया गया लेखन सार्थक बनता है। जी. डी. बाबू निश्चय ही आस्तिकता को बहुमूल्य मानते थे और यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि नेहरूजी जैसा महान व्यक्ति आस्तिक नहीं है। इस स्थापना के लिए यह स्वाभाविक था कि वह आस्तिकता के आधारभूत तत्व का अन्वेषण करते। वह उन्होंने किया, और इस तत्व को उन्होंने श्रद्धा में पाया। यह लगभग व्याकरण के स्तर पर, व्युत्पत्ति के स्तर पर जाकर आस्तिकता को खोजना है—'अस्ति' यानी 'है'। जो यह मानता है कि कुछ 'है', वह आस्तिक है।

जाहिर है कि आस्तिकता की यह परिभाषा उसके तात्विक स्वरूप का अन्वेषण है। इस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट हो जाता है कि जी. डी. बाबू पूरे आस्तिक थे और वह अपने जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आस्तिक रहे। किन्तु इस आस्तिकता के क्रमिक विकास और परिवर्तनशील स्वरूप को देखने के लिए उनके सम्पूर्ण जीवन के उन बिन्दुओं को पहचानना होगा जिनसे उनकी आस्तिकता का स्वरूप बना है।

आस्तिकता का स्वरूप

अपने बचपन का विवरण देते हुए उन्होंने बताया है कि बाल्यकाल में उन्हें

धर्मो रक्षति रक्षितः

श्री घनश्यामदास बिड़ला की धर्मचेतना एक औसत सनातनधर्मी हिन्दू की धर्मचेतना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्मकाण्ड में उनकी आस्था उतनी नहीं थी जितनी बहुत से हिन्दुओं की होती है। लेकिन इस सन्दर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि बहुत से हिन्दू हैं, जिनका आधुनिक परिवेश से कोई परिचय नहीं है, और जो कट्टर सनातनधर्मी हैं, किन्तु कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं रखते। आधुनिक भारत के कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की तरह जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व में भी धर्म को लेकर कुछ ऐसे उलझाव रहे हैं जिनका कारण उनका विचार-प्रधान और जिज्ञासा परक मानस रहा है। जब तक इन उलझावों की थोड़ी गहरी जांच-पड़ताल नहीं की जाती, तब तक इस धर्मचेतना के वास्तविक स्वरूप को पहचानना बहुत आसान नहीं है।

महान व्यक्ति और आस्तिकता

पण्डित जवाहरलाल नेहरू पर लिखे गये एक लेख में जी. डी. बाबू ने उन्हें आस्तिक प्रमाणित किया है। इस आस्तिकता का आधार उन्होंने दो तर्कों पर माना है। एक तो गाँधीजी का यह कथन, कि जवाहरलाल इसलिए आस्तिक हैं कि वह कहते हैं कि आजादी जरूर मिलेगी। 'आजादी जरूर मिलेगी' यह कहना श्रद्धा पर आधारित है, विज्ञान पर नहीं। दूसरा तर्क उन्होंने स्वयं प्रस्तुत किया है। उसका आधार इलाहाबाद साइंस कांग्रेस में नेहरूजी द्वारा दिया गया एक भाषण है, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि प्रकृति के नियम अपरिवर्तनीय हैं। प्रकृति के नियमों की यह

ओर झुकाव नहीं था तो इसका कारण है उनकी उपार्जन की प्रवृत्ति और भारतीय अर्थचिन्तन के मूल्यों की स्वीकृति। अपना या पूर्वजों द्वारा अर्जित अपने ऐशो-आराम के लिए है, इस विचार को कभी भी भारतीय मानस ने स्वीकार नहीं किया। व्यवहार में विलासी भी अपने को आदर्श नहीं मानते, आदर्शच्युत मानते हैं। धन को खर्च करने की एक समाज-स्वीकृत विधि है जो परम्परा-प्रशंसित भी रही है, जिसकी ओर हल्का-सा इशारा भी जी. डी. बाबू ने संवत् 1956 के अकाल का उल्लेख करते हुए किया है:

"इस दुर्भिक्ष के समय पिलानी में जो कोई डुल कर आया, उसे सदाव्रत की तरफ से कनीराम तोला एक मुट्ठी अन्न दे देता था और हमारे परिवार की तरफ से भी कुछ-न-कुछ प्रवन्ध था।"

तो जी. डी. बाबू के पिता और पितामह को यह विचार नहीं सूझा कि एक ज़ीना बनवा लें ताकि जंजीर पकड़कर दुछत्ती में आराम करने के लिए कसरत करते हुए न चढ़ना पड़े। न ही उनको यह सूझा कि वह घर में एक शौचालय बनवा लें ताकि जंगल में मीलों दूर शौच के लिए न जाना पड़े। किन्तु दूसरी ओर भूखों को खरीद कर भी अनाज बांटने में उन्होंने कोताही नहीं की। 'एक मुट्ठी अन्न' बांटने की उदारता में जो लगन जरूरी है वह ट्रस्ट और एनडाउमेन्ट में लगी लगन से बहुत ज्यादा है। जिनके पास भोजन नहीं है उन्हें भोजन मिलना चाहिए और यह भोजन जुटाने की जिम्मेदारी उनकी है जो अपने भोजन के बाद कुछ और इकट्ठा कर सकते हैं—चाहे वह थोड़ा हो चाहे ज्यादा—यह सीख है उस बुनियादी और आदिम मानवीय उदारता की, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के दुखदर्द को देखने और दूर करने के लिए स्वभावत: विवश करती है, जो हमसे सीधे-सीधे यह प्रश्न करती है कि आप मनुष्य हैं कि नहीं। यह एक सीख है जिसे व्यवहार में आते हुए जी. डी. बाबू ने देखा।

यह धर्मचेतना का वह पहलू है जिसे सिर्फ 'दान' कह कर नहीं समझा जाना चाहिए। भूख से मरते हुए आदमी को एक मुट्ठी अन्न देकर जिला सकने का अहम् जी. डी. बाबू के परिवार के मन में कभी नहीं आया होगा। अतएव, 'निमित्त-मात्र' हो सकने का सही मतलब बाल्यकाल में ही उन्होंने परिवार की इस सद्वृत्ति से सीखा, और एक बहुत ही व्यावहारिक स्तर पर उस कर्मयोग की दीक्षा पायी जिसका सुचिन्तित रूप उन्हें बाद में भगवद्गीता जैसे धर्मग्रन्थों के अध्ययन से मिला।

पूजापाठ, संयम-नियम की शिक्षा मिली, ऐशो-आराम, विलास से वह दूर रहे और उनके मूल्यचिन्तन की नींव में इस प्रकार ये दो चीजें आयीं, भोगों के प्रति तिरस्कार, और श्रद्धा। एक वार्तालाप में उन्होंने स्वामी अखण्डानन्दजी को बताया था कि एक बार वह घर के लोगों को बिना बताये किसी आश्रम में रहने लगे थे, जहां एक विद्वान महात्मा से उन्होंने वेदान्त की शिक्षा भी प्राप्त की। उनके लेखन में भी इस मानसिकता के प्रमाण बिखरे पड़े हैं।

"....परिवार सम्पन्न होते हुए भी मुझे सम्पदा के भयानक रूप को देखने का अवसर ही नहीं मिला।

अब यह चीज बदल रही है। राजस्थानियों का निवास-स्थान कलकत्ता बम्बई बन गया, न ऊंट रहे और न रहे मच्छर या खटमल। बिजली-पंखा तो है ही, एयर-कण्डीशनर भी आ गया। इसलिए धन के उपद्रव से आज की सन्तान भाग्यशाली हो, तो ही बच सकती है।" **(वे दिन)**

अपने संस्मरणों में उन्होंने अपनी इस विरासत को बराबर स्वीकार किया है। धन के कुप्रभावों के बारे में उनकी दृष्टि हमेशा स्पष्ट थी और वह एक हद तक इस बात को लेकर चिन्तित रहा करते थे। सरलाजी को 5.4.1943 को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "परमार्थ का कुछ काम करना चाहिये। वरना धन के लोभ में तुम लोग कर्तव्य भूल बैठोगे।" मैंने एक बार उनसे कहा कि सत्संग अवश्य होना चाहिये। उन्होंने कहा, "कौन आज सत्संग करने को तैयार है—हमारे चन्द्रकान्त और सिद्धार्थ को मेरी बातें सुनकर नींद आने लग जायेगी। अब आदित्य को थोड़ा बहुत ठीक लगने लगा है। हम लोग तो भाई आउट आफ डेट आदमी हो गये हैं। पर मैं समझता हूं कि प्रवचन ज्यादा से ज्यादा होने चाहिये क्योंकि लोगों में उनकी भूख है। प्रवचनों में केवल वृद्ध और औरतें ही नहीं, आजकल जवान लोग भी काफी आते हैं।"

सद्व्यय ही पूंजी

मैं अपने नोट्स देखता हूं तो मुझे उनके ये शब्द मिलते हैं, "पैसा होना कोई बड़ी बात नहीं है, कलकत्ते के मारवाड़ी तो बस धन को ही बड़ा मानते हैं। बड़ा गड़बड़ है। मैंने अनुभव कर लिया है कि धन बड़ी चीज नहीं है। कला को सीखो, ज्ञान को अर्जित करो, भक्ति में मन को रमाओ।" रजवाड़ों के राजस्थान में विलास भी था लेकिन धन होने के बावजूद यदि जी. डी. बाबू के परिवार का उस

हैदराबाद के वेंकटेश्वर मन्दिर में श्रीमती निर्मला विरला के साथ

इसी भावना के अधीन उन्होंने विभिन्न शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। मुझे इस सन्दर्भ में उनसे हुई एक बातचीत याद आती है जिसमें अपने बारे में उनकी अभिमानहीनता बड़े निश्छल भाव से उजागर होती है। एक बार उन्होंने मुझसे कहा, "पुराने लोग निस्वार्थ प्रेम रखते थे। बम्बई में रामकुमारजी पोद्दार थे, जब भी मैं बम्बई जाता तो अपने लड़के का हाथ पकड़कर मुझसे मिलने आते। मैंने तो उनसे एक दो बार कहा कि आप रामकुमारजी क्यों तकलीफ करते हैं, आप जब कहेंगे मैं आपके यहां मिलने आ जाऊंगा।" मैंने जी. डी. बाबू से कहा, "कितने लोग आप की ऊंचाई के हैं जो ऐसी बात कह सकते हैं? शायद इन्हीं बातों से आपकी किंवदंतियां बन जायेंगी।" वह बोले, "रामनिवास, आदमी के काम की अच्छाई-बुराई का पता तो उसके मरने के बाद लगेगा।"

धन के सही उपयोग को ही लेकर उनके मन में अन्तिम दिनों में यह बात उठी थी कि सभी महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं शास्त्रीय ग्रन्थों के संस्करण तैयार किये जायें जिनमें उचित व्याख्याएं हों और जिन्हें लोगों तक बहुत कम मूल्य में पहुंचाया जाये। अपने व्यावसायिक अनुभव से उन्होंने यह सीखा था कि मुफ्त में बांटने पर इन ग्रन्थों से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा जो वह चाहते थे। इसलिये उन्होंने कुछ मूल्य रखने की सोची थी, भले ही वह लागत से काफी कम हो। धर्म ग्रन्थों में उनकी अगाध श्रद्धा थी। बारबार रामायण की बात करते थे, बार-बार भागवत की बात करते थे, बार-बार महाभारत की बात करते थे। उन पर सोचते थे। विद्वानों के दिये गये तर्क समझते थे, खुद अर्थ निकालते थे। विनोबाजी को 1955 में लिखे गये एक पत्र में उन्होंने ईशावास्योपनिषद के सत्रहवें मन्त्र की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। मैं समझता हूं कि यहां पर जी. डी. बाबू की बात पूरी तरह समझने के लिए मुझे उनके उस पत्र का वह अंश ही उद्धृत कर देना चाहिए:

"ईशावास्य के मन्त्रों का आपका अनुवाद मैं पढ़ रहा था तो मुझे लगा कि 19वें मन्त्र की आपकी व्याख्या यद्यपि विद्वत्तापूर्ण है पर मेरे जैसे साधारण व्यक्ति को असमंजस में डाल देती है। यह मन्त्र मुझे अत्यन्त प्रिय रहा है इसलिए इसका अनुवाद भी अपने आपको सन्तोष देने लायक मैंने जंचा रखा है। मैं अपने आपको सन्तोष देने के लिए इसका अनुवाद यों कर लेता हूं, "आत्मा चैतन्य और अमृत है और यह शरीर भस्मान्त है। इसलिए (हे जीव), ईश्वर का नाम लेकर तुझे क्या करना है इसका स्मरण कर और तूने क्या किया है इसका स्मरण कर।" क्रतु का अर्थ resolve तो हो ही सकता है—"क्या मनसूबा है क्या प्लान है इसकी याद कर। अपनी बेलेन्स शीट तैयार कर, तुझे क्या करना है और क्या किया है।"

धर्म प्रेरणा है और कर्म पथ है तो व्यक्ति का रथ चलेगा ही। रथ के चलने में ही रथ और पथ का उद्धार है। रथ और पथ एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति और कर्म का यह सम्बन्ध धर्म ने सदा स्थापित किया है। इस अर्थ में धर्म सबसे बड़ा बल है। यही सबसे बड़ी शक्ति है। बड़ी शक्ति के बिना बड़ा काम सम्भव नहीं। औद्योगिक उन्नति एक अनिवार्य काम है। इस अनिवार्य प्रगति के लिए धर्म की शक्ति का आधार भी अनिवार्य है। प्रगति से क्या प्राप्त होगा और प्राप्य का क्या प्रयोजन होगा, इसका सार सन्देश ही तो धर्म है। धर्म तो एक सम्पूर्ण प्रेरणा है।"

श्रद्धा की अस्वीकृति और पुनः स्वीकृति

दूसरी बात श्रद्धा की है।

जी. डी. बाबू लिखते हैं, "चन्दन का बोटा, चकला, ताम्री, पांच-पात्र, विष्णु सहस्रनाम का गुटका, आसन और पूजा की सामग्री का एक झोला, नौ साल की उम्र में ही सौंप दिये गये थे और सुबह सात बजे ही पिता तथा पितामह के साथ बैठ जाना होता था।" यह विष्णु सहस्रनाम का पाठ 'अनिवार्य' था। यह पाठ भाषा की दृष्टि से शुद्ध नहीं होता था, संस्कृत जी. डी. बाबू को भी नहीं आती थी और उनके पिताजी को भी नहीं। जब पता लगा, तब तो मेरा पाठ का अभ्यास भी छूट गया था। "मैं नहीं कह सकता कि मेरी इन सभी चीजों में श्रद्धा थी। दुर्गा सप्तशती का नित्य पाठ मैंने वर्षों किया, पर जब श्रद्धा हट गयी तो छोड़ दिया।" **(वे दिन)**

क्या श्रद्धा हट गयी थी?

"पर ईश्वर में मेरी श्रद्धा रही, जो बढ़ती ही गयी। प्रार्थना में कुछ श्रद्धा रही, पर ज्यादा श्रद्धा काम में ही।" ईश्वर में श्रद्धा न केवल बनी रही, बढ़ती गयी। दुर्गा सप्तशती से श्रद्धा हट गयी।

बहुत आसानी से यह कहा जा सकता है कि कृत्रिमताओं से, आडम्बर से श्रद्धा हट गयी और मूल शक्ति, ईश्वर, सृष्टि के नियम, के प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। इसका समर्थन तमाम बातों से होता है। सरलाजी ने मुझे बताया कि जुगलकिशोरजी बिड़ला की धर्मपत्नी का देहान्त ऋषिपंचमी को हुआ था। माहेश्वरी समाज में वही दिन राखी बँधवाने का है। जब यह प्रश्न उठा कि बिड़ला परिवार में ऋषिपंचमी को 'आण्ट' मानी जानी चाहिये तो आगे चलकर 1975 में जी. डी. बाबू ने इसको अमान्य कर दिया और राखी बँधवायी।

यह अर्थ शायद शास्त्रसंगत न हो किन्तु मेरा काम चल जाता है। बाकी निर्णय आप करेंगे।

किन्तु यह तो मैंने ऐसे ही कुछ अच्छी चर्चा के निमित्त लिख दिया।

धन के सन्दर्भ में उन्होंने प्राय: कई बार मुझसे बातचीत में रघुवंश में दी गयी एक कहानी का उल्लेख किया। कहानी यों है—वरतन्तु नामक आचार्य के शिष्य कौत्स ने उनसे पूछा कि गुरुदेव, मैं आपको क्या दक्षिणा दूं? गुरु ने कहा—मुझे दक्षिणा नहीं चाहिए। कौत्स ने जिद की, गुरु ने गुस्से में कहा ठीक है 14 विद्यायें पढ़ायी हैं, 14 करोड़ स्वर्ण मुद्राएं ले आओ। शिष्य महाराज रघु के पास गया। वह उस समय विश्वजित् यज्ञ कर चुके थे और धनुषबाण के अतिरिक्त सब कुछ दान कर चुके थे। सारी पृथ्वी दान कर देने के नाते गुरु दक्षिणा के लिए स्वर्ण का उनके पास एक ही स्रोत रह गया था। उन्होंने कुबेर पर चढ़ायी करने की सोची। भयभीत होकर कुबेर ने रातोंरात उनका खजाना सोने से भर दिया। 14 करोड़ स्वर्ण-मुद्राएं निकालने के बाद भी काफी सोना बचा रह गया। उसे न तो शिष्य चाहता था क्योंकि उसका काम पूरा हो गया और न महाराज रघु चाहते थे, क्योंकि उन्होंने अपने लिए तो मंगाया नहीं था। सार यह रहा कि कुबेर का स्वर्ण-भण्डार भी उन्होंने ज्यों का त्यों छोड़ दिया।

धन, व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में जी. डी. बाबू के विचार बहुत ही व्यावहारिक, मानवीय और सुचिन्तित थे। मुझे स्मरण है कि उन्होंने मुझसे कहा कि मूल प्रश्न गरीबी को मिटाने अथवा घटाने का नहीं, प्रश्न तो लोगों की पीड़ा मिटाने का है। जन-साधारण का स्तर ऊपर उठाना चाहिए, किन्तु असमानता और अन्तर मिटाना कभी सम्भव नहीं होगा। अपने बारे में अपने सेवा भाव के अनुरूप कहा करते थे कि यदि मैं कहूं कि मैंने आदर्श और गुणों का ही पालन किया है तो यह मूर्खता होगी। मैं गुणी रहा या निर्गुणी, दोषपूर्ण रहा या निर्दोष इन बातों की चिन्ता तो लोग ही करेंगे। पर मुझे किसी प्रकार की निराशा अथवा ग्लानि नहीं है।'' धर्म के संस्कार और औद्योगिक उन्नति के बारे में उनके जो विचार थे उसको व्यक्त करने के लिए मुझे उनके अपने शब्दों से अधिक सुन्दर शब्द दिखायी नहीं देते जो एक बातचीत के दौरान मैंने लिख लिये थे :

''धर्म का संस्कार और धर्म की शक्ति मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करती है। गीता का धर्म तो कर्म ही है। कर्म की शिथिलता में धर्म की शिथिलता आने और कर्म के अभाव में धर्म का लोप होते जाना एक अवश्यम्भावी स्थिति बनती है।

और वह कौन-सा आग्रह था जिसके अधीन उन्होंने अभी गत वर्ष बिड़ला मन्दिर दिल्ली में अपनी पुत्र वधू सरला द्वारा कराये गये नवाह्न पारायण में जाना पहले स्वीकार नहीं किया, किन्तु बाद में सहर्ष सम्मिलित हुए और उसे अपना कर्तव्य माना।

और वह कौन-सा आग्रह था जिसके अधीन पुनर्जन्म में घोषित रूप से अविश्वासी होते हुए भी वह चाहते थे कि अपने प्रपौत्र कुमार मंगलम के बेटे के रूप में फिर से जन्म लें?

इन सारे प्रश्नों को एक साथ समेटने पर यह पाया जायेगा कि जी. डी. बाबू का धार्मिक चिन्तन सनातनी होते हुए भी पुनर्जागरण से प्रभावित रहा। कई तरह की पीड़ाएं पुनर्जागरण का कारण बनीं। हजारों वर्षों की गुलामी थी, हजारों वर्षों से चली आती हुई कुरीतियां थीं जैसे कि छुआछूत, सती-प्रथा, बाल-विवाह इत्यादि। इन कुरीतियों का समर्थन भी उसी विचार समूह से,उन्हीं शास्त्रों से किया जाता था जो सनातन हिन्दू धर्म के लिए आदरणीय और मान्य थे। पुनर्जागरण के प्रमुख विचारकों ने समाज को इस तपन से निकालने के लिए कई रास्ते निकाले। एक रास्ता राममोहन राय का था जिसमें कुरीतियों को कानून से बन्द करवा देना पर्याप्त था जैसे कि सती-प्रथा। एक रास्ता महात्मा गाँधी का था जिसमें कुरीतियां हटाना भी जरूरी था और उसके साथ अन्तश्चेतना में जागृति भी ले आना आवश्यक था। एक रास्ता पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे विद्वानों का था जिसमें सनातन धर्म की सारी परम्पराओं को सुरक्षित रखने की चिन्ता भी थी और उसके अवांछित विकारों से परहेज भी था। एक रास्ता महर्षि दयानन्द सरस्वती का था जिसमें सारे इकट्ठे किये हुए जाल-जंजाल को परखने की बजाय उसे हटा देना श्रेयस्कर लगा और जहां नैतिक मूल्यों की खोज अत्यन्त प्राचीन और सर्वस्वीकृत वैदिक साहित्य में की गयी।

इन सारे रास्तों से जी. डी. बाबू को राह मिली थी। इन सबसे उन्होंने कुछ न कुछ सीखा, प्रभावित हुए। अपने समाज के गहन अध्ययन से इस सारी सामग्री को एक विशिष्ट स्वरूप दे सकने में वह समर्थ हुए। हम उन्हें अछूतों की बात करते हुए देखते हैं। हम उन्हें जबरदस्ती उठा ले जायी गयी लड़कियों की बात करते देखते हैं। हम उन्हें विधवाओं की बात करते हुए देखते हैं और इन सब के प्रति हिन्दू समाज की घृणा, उनके अस्वीकार अथवा तिरस्कारयुक्त स्वीकार उनको पीड़ित करते थे। अपने स्तर पर उन्होंने इसके लिए कुछ ठोस प्रयास किए और नैतिक रूप से वह सदा इन विषमताओं को दूर करने में अपना समर्थन देते रहे।

इसी तरह ईश्वर रसोइये ने बतलाया था कि एक बार उन्हें उनके बँधे हुए समय से भोजन नहीं परोसा गया। इसका कारण यह था कि उनकी धर्मपत्नी का श्राद्ध था और ब्राह्मणों ने अभी भोजन नहीं किया था। जी. डी. बाबू ने इस बात को पसन्द नहीं किया कि इस कारण भोजन के नियमित क्रम में व्यवधान पड़े। इसी प्रकार वियोगी हरिजी ने मुझे बताया कि वह पुनर्जन्म और कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं करते थे।

लेकिन ऐसा कहते ही मेरे मन में कई सवाल एक साथ खड़े हो जाते हैं।

मुझे सरलाजी से मालूम हुआ कि आदित्य बिड़ला जुग के निकट ब्लैक मैडोना की मूर्ति का बराबर दर्शन करने जाया करते थे और जी. डी. बाबू इसे अच्छा नहीं समझते थे। लेकिन बाद में उन्होंने खुद ही वहां जाना चाहा और सब परिवार वालों के साथ गये।

तो वह कौन-सा आग्रह था जिसने जी. डी. बाबू को इस बात के लिए विवश किया कि ब्लैक मैडोना की मूर्ति का नियमित दर्शन करने से प्रारम्भ में उन्हें जो आपत्ति थी उसके बदले में फिर स्वयं यह प्रस्ताव रखें कि उस चर्च में सारा परिवार चले। क्या श्रद्धा की यह यात्रा कुल इतनी ही थी कि दुर्गा सप्तशती से ब्लैक मैडोना में स्थानान्तरित हो जाये?

और कौन-सा आग्रह था जिसके अधीन उन्होंने रामकिंकरजी उपाध्याय से यह अनुरोध किया कि मानस के सभी पात्रों का चरित्र लिखा जाये, किन्तु भगवान राम के चरित्र का निर्वचन नहीं किया जाये क्योंकि वह अनिर्वचनीय हैं?

और वह कौन-सा आग्रह था जिसके अधीन अपनी जमुनोत्री-यात्रा में, जिसे उन्होंने साग्रह केवल शौक और सैर के लिए बतलाया था, अपने बड़े भाई रामेश्वरदासजी बिड़ला का तर्पण किया?

और वह कौन-सा आग्रह था जिसके अधीन उन्होंने अपनी लड़की चन्द्रकला बाई को 24 दिसम्बर 56 को उनके पति बंसीधरजी डागा के देहान्त पर शोक और संवेदना के पत्र में लिखा: ''पिताजी मुझे सपने में कहते थे कि मैं मरा नहीं हूं। बंसी भी अमर है यह मानकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। रोने से यह साबित होता है कि हम उसमें अमरत्व नहीं देखते।''

दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मन्दिर में नवाह्न पारायण के अवसर पर.

क्या वह सुधारवादी थे? क्या वह जप, नियम, पूजा-पाठ को पूरी तह पाखण्ड मानते थे? क्या उनके मन में जाति-विहीन समाज की कल्पना थी? क्या वह हिन्दू धर्म को इन तमाम संस्कारों और जटिलताओं से अलग करके देखते थे जो हजारों वर्षों में पनपी और जो उसमें इस तरह घुलमिल गयी हैं कि उनको धर्म की पूर्ण परिभाषा से अलग करके देखना असम्भव-सा हो गया है?

बुद्धि की सीमा का ज्ञान

मैं उनके 'सुधारवाद' का एक उदाहरण दूं। जिस समय वह अछूतों की बस्ती में गये और जिस समय उन्हें मालूम हुआ कि उनके ऊपर इतना कर्ज है कि वह उसको चुका नहीं सकते, और इस कर्ज में कर्ज देने वाले का प्रपंच और जाल भी शामिल है, तो द्रवित होकर उन्होंने एक बहुत सहज उपाय उन्हें सुझाया। यानी यह कि कर्ज मत दो। लेकिन उनका यह सुझाव माना नहीं गया। एक व्यक्ति ने हाथ जोड़ कर कहा, "माई-बाप यह तो नहीं हो सकता। बनिये की ज्यादती हो या न हो, हमारे पास पैसा हो या न हो इस तरह हम ऋण-मुक्त कभी नहीं होंगे। या तो फैसला करा दें या फिर जब हमारे पास होगा तब हम दे देंगे।" इस तर्क प्रणाली के सामने जी. डी. बाबू अपने ही शब्दों में 'अवाक्' रह गये। उनकी टिप्पणी है— "आश्चर्य है कि इतना अत्याचार होने पर भी इन लोगों की धार्मिक भावना जागृत रही।" जी. डी. बाबू ने धार्मिक भावना क्यों कहा? इसलिए कि उन्होंने एक दलित के इस उत्तर में यह देख लिया कि जिसे धर्म कहते हैं वह सिर्फ बुद्धि का, सिर्फ 'सुधारवाद' का क्षेत्र नहीं है।

इस अनुभव से उन्होंने बुद्धि को त्याग नहीं दिया लेकिन उसकी सीमाएं जरूर पहचानीं। इस सन्दर्भ में मैं एक बात का उल्लेख करना चाहता हूं:

बिड़ला अकादमी के तत्वावधान में एक बार नवरात्र में मानस-प्रवचन चल रहा था। उसमें जी. डी. बाबू का एक व्याख्यान था, उसमें वह कहते हैं, "कहने का मतलब यह है कि जहां तक बुद्धि जा सकती है जाये, पर एक परिधि से आगे आपकी बुद्धि नहीं जा सकती है। जहां बुद्धि नहीं जा सकती है वह बोधगम्य नहीं है, वहां फिर प्रश्न कैसा? वहां श्रद्धा से काम लेना चाहिये।"

इस टिप्पणी के पहले उन्होंने याज्ञवल्क्य और गार्गी के उस संवाद का उल्लेख किया है जो बृहदारण्यक उपनिषद् में दिया गया है। उसमें ब्रह्म के बारे में बहुत पूछने पर गार्गी से याज्ञवल्क्य ने कहा, कि हे गार्गी, तू अति प्रश्न मत कर, तेरा

इस इण्टरव्यू में उन्होंने ईश्वर को समझ लेने के बारे में कहा है, "मैंने शायद बुद्धि से ईश्वर को समझ लिया है, किन्तु वह समझना (रिअलाइजेशन) नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञा (रिअलाइजेशन)न सही है और न पर्याप्त। वस्तुतः वे प्रत्यभिज्ञा को अनुभूति से जोड़ते थे, तर्क-शक्ति और अध्ययन से नहीं:

अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्रण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा।।

(चारों वेदों और सभी शास्त्रों को अनेक बार पढ़कर भी (सिर्फ इतने से) ब्रह्म के तत्व को वैसे ही नहीं जान पाता जैसे करछुल रसोई का स्वाद नहीं जान पाती।)
—मुक्तिकोपनिषद्

ईश्वर शक्ति का आभास

ईश्वर को पहचानने पर सफलता और असफलता का अन्तर ही मिट जाता है। हमारा लक्ष्य ईश्वर को पहचानना होना चाहिये। बारबार साग्रह उन्होंने कहा है कि ईश्वर सम्बन्धी उनके विचार उनके अपने नहीं हैं, शास्त्रों में दिये हुए हैं, धार्मिक ग्रन्थों में दिये हुए हैं और इन्हें वहीं खोजना चाहिए। मुझे याद आता है कि मैंने उनसे कहा कि जब मैं आपसे 1947-48 में मिला था तब आप 55 वर्ष के थे और मैं यह जानना चाहता हूं कि आपके उस समय के जो विश्वास थे—व्यावहारिक, बौद्धिक और वैयक्तिक क्षेत्र में, क्या उनमें कोई बदलाव आया है, कोई सघनता और नवीनता आयी है? जी. डी. बाबू ने कहा, "शास्त्र तो वे ही हैं, बदले नहीं हैं, तो फिर विश्वास कहां से बदलते?" बड़ा मार्मिक उत्तर था। मैंने कहा कि 1947 से 1982 में 35 वर्ष का समय गया है, इसमें आपको कई नयी अनुभूतियां हुई होंगी, इसलिए सम्भव है कि नये विश्वास भी हुए हों। उनका उत्तर था, "कोई खास नये विश्वास नहीं हुए। सच बोलना अच्छा, और झूठ बोलना बुरा, यही पहले जानता था, यही विश्वास आज है।" उनकी बात बड़ी सहज और पते की लगी।

ठीक ऐसी ही बात उन्होंने संगीत कला मन्दिर में रामकिंकरजी उपाध्याय द्वारा किये जाने वाले मानस-प्रवचन की रजत-जयन्ती के अवसर पर दिये गये अपने अन्तिम सार्वजनिक व्याख्यान के उपसंहार में कही:

"मैं यही कहना चाहता हूं कि सत्कर्म कीजिए और भगवान का नाम

मस्तक गिर जायेगा। अति प्रश्न वहीं होता है जहां बुद्धि अपनी सीमा के बाहर जाने की कोशिश करती है। मैं यह मानता हूं कि जी. डी. बाबू ने यह महसूस किया था कि उन्होंने हरिजन बस्ती के लोगों के सामने अति प्रश्न किया और उनके उत्तर से भी उन्हें वैसे ही श्रद्धा का धर्म से सही सम्बन्ध का पता लगा जैसे कि भागवत इत्यादि के अध्ययन से। श्रद्धा का यही स्वरूप है जिसके सन्दर्भ में जी. डी. बाबू की धर्म-चेतना का वह पक्ष विकसित हुआ जिसका सम्बन्ध श्रद्धा से है।

महत्त्व इस बात का नहीं है कि जी. डी. बाबू ने श्रद्धा के आलम्बन के लिए किन चीजों को चुना। दुर्गासप्तशती पर से यदि उनकी श्रद्धा हटी और उस आलम्बन को उन्होंने छोड़ दिया तो इसे आलम्बन यानी उस माध्यम का छोड़ना कहेंगे, श्रद्धा से हटना नहीं। यह समझना सही नहीं होगा कि श्रद्धा इस प्रकार के किसी एक स्थूल आलम्बन का ही आश्रय ले सकती है। राजीव मेहरोत्रा के इण्टरव्यू में, जो उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में लिया गया था, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि हम अपने प्रतीक बदल सकते हैं। प्रतीक एकाग्रता की सुविधा के लिए हैं। प्रतीक ईश्वर नहीं हैं। वैसे प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर है। वैदिक युग में अग्नि, पवन, पृथ्वी आदि प्रतीक के रूप में पूजे जाते थे, उनकी आराधना की जाती थी। ''जब व्यक्ति यह पहचान लेता है कि वह भी ईश्वर ही है तब एकाग्रता की आवश्यकता मिट गयी, प्रतीक चुनने का प्रश्न ही नहीं रहा।'' ईश्वर में एकाग्र भाव से स्थापित होने के लिए जी. डी. बाबू को किसी प्रतीक विशेष का सहारा अब अपेक्षित नहीं था। ईश्वर को छोटी-छोटी चीजों में बांधने के बजाय, सीमित स्थान में देखने के बजाय विराट ब्रह्म की सत्ता का दर्शन और मनन करना उनका स्वभाव बन गया था।

इसी इण्टरव्यू में जी. डी. बाबू ने विनम्रतावश कहा कि केदारनाथ की यात्रा में मेरा अहंकार हो सकता है। लेकिन हमें यह जानना चाहिए कि उसमें दूसरों के लिए एक प्रेरणा भी है। उन्होंने यह भी कहा कि दफ्तर जाना ही मेरी पूजा है। इसके पीछे एक दृष्टि है और वह है अपने सारे जीवन को सृष्टि के उस क्रम से जोड़ना जो बुद्धि से परे है, जो सोचने से परे है, अब जिसके आगे समर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। श्री शंकराचार्य भी शिवमानसपूजा - स्तोत्र में कहते हैं :

''यद् यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्''

(जो - जो काम मैं करता हूं, वह हे भगवन् तुम्हारी आराधना ही है।)

इस प्रकार ईश्वर उनके लिए एक ऐसी शक्ति के रूप में था जो सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में मूर्तिमान था। इसी नाते जब 1956 में उन्होंने पिलानी में एक मन्दिर भी बनवाया तो उसमें अन्य मन्दिरों की अपेक्षा कई विशिष्टताएं थीं। यह शारदा-मन्दिर है। अपने स्थापत्य में तो यह खजुराहो के प्रसिद्ध विश्वनाथ-मन्दिर की अनुकृति है जो चन्देल राजाओं द्वारा दसवीं शती में बनवाया गया था, किन्तु उसकी कल्पना जी. डी. बाबू की अपनी स्वतन्त्र चिन्तन पद्धति के अनुसार थी। इस सन्दर्भ में मुझे मालूम है कि उनकी कल्पना में सरस्वती केवल विद्या की देवी नहीं थीं। उन्होंने वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन किया था और वाणी-स्तुति के बारे में सोचते समय उनके मन में हमेशा उसका वह स्वरूप रहता था जो ऋग्वेद के वाक् सूक्त में दिया गया है। इसके अनुसार संसार के सारे देवता, सारी शक्तियां वाक् द्वारा संचालित होती हैं। विद्या उनके लिए सिर्फ पढ़ने-लिखने तक ही सीमित नहीं थी।

विनोबाजी को सन् 1958 में लिखे गये एक पत्र में उन्होंने अमरीका से प्रकाशित 'दि उपनिषद' में ईशोपनिषद् के कुछ मन्त्रों के अनुवाद को व्यावहारिक बताया है। उन मन्त्रों के अनुवाद में विद्या का अर्थ "ध्यान" किया गया है। इस तरह से देखने पर विद्या, सरस्वती, वाणी, वस्तुत: एक सीमित योग्यता की प्रतीक न बनकर सम्पूर्ण विश्व की चेतना बन जाती है। मैं समझता हूं जी. डी. बाबू ने इसी अर्थ में उस मन्दिर में सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की। उसके बाहर ऐसे कई लोगों की मूर्तियां हैं जिनके बारे में वह यह स्वीकार करते थे कि इनमें वाणी की, विद्या की महत्ता का कुछ अंश उतरा हुआ है।इसी तरह उस मन्दिर में मार्क्स और लेनिन की भी प्रतिमा है। ये उनकी दृष्टि में अंशावतार थे। किन्तु परम्परा में उनकी श्रद्धा लगातार बढ़ती जा रही थी। इसका यह भी एक प्रमाण है कि इसके दस वर्ष बाद 1966 में उन्होंने रेनुकूट में शिव मन्दिर और 1970 में नागदा का शेषशायी-मन्दिर बनवाया। जी. डी. बाबू ने इन मन्दिरों में नागर शैली का न केवल पुनरुत्थान किया अपितु उसकी परिकल्पना को एक स्वतन्त्र स्वरूप भी दिया।

सच तो यह है कि कोई भी मनुष्य जी. डी. बाबू की दृष्टि में बड़ा इसलिए बन पाता था कि उसमें ईश्वरीय शक्ति का कुछ अंश होता था। इस शक्ति को वह किसी भी मनुष्य में पहचानने को तैयार रहते थे यदि वह उनकी दृष्टि में वहां उपस्थित था। स्वयं पूंजीपति होते हुए मार्क्स और लेनिन को अंशावतार मानना, स्वयं सम्पत्तिवान होते हुए दरिद्रनारायण में ईश्वर को देखना, यह उनका स्वाभाविक कर्म था, चेष्टा या नकलीपन के नाते नहीं।

लीजिए। भगवान आपका मंगल करेगा।"

मंगल करने की शक्ति किस भगवान में है? निश्चय ही यदि ईश्वर की कल्पना उनके मन में एक नियम मात्र के रूप में हुई होती तो ऐसा नहीं कहते। मंगल, काम करने से होता है, यह उन्होंने बार-बार कहा है। लेकिन उन्हें इस बात में कोई विरोध नहीं दिखाई दिया कि भगवान का नाम जब लिया तब भगवान मंगल करेंगे। उन्होंने सत्कर्म करने के लिए कहा, लेकिन यह भी सही है कि केवल सत्कर्म करने के लिए ही नहीं कहा। कहा यह कि सत्कर्म करना आवश्यक है, भगवान का नाम लेना आवश्यक है—ये दोनों ही आवश्यक हैं। इनसे व्यक्ति का मंगल होता है। यह भगवान की एक करुणामयी मूर्ति है, जिससे उन्हें बचपन में 'विष्णु सहस्रनाम' के शुद्ध या अशुद्ध पाठ के माध्यम से परिचित कराया गया था। यही करुणामयी मूर्ति है जिसकी पहचान उन्होंने अपने पारिवारिक नौकर हीरा पर लिखते हुए की। हीरा ने अपने जीवन की सारी कमाई तीन-तीन बार दान करके समाप्त कर दी थी। इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी प्रभाव जी. डी. बाबू पर पड़ा। इसी करुणामयी मूर्ति को अपने जीवन के विकास-क्रम के दौरान उन्होंने एक धर्म-चेतना के रूप में, मानव धर्म-चेतना के रूप में पहचानने का उपक्रम किया है। व्यक्ति जब भगवान की सेवा करता है तो मानव-मात्र की सेवा करता है। इस प्रकार व्यक्ति और भगवान में भेद नही रहता,इस सन्दर्भ में गाँधीजी के कथन को दुहराते हुए उन्होंने कहा, "आदम खुदा रहे, पर आदम खुदा से जुदा नहीं।"

इसी प्रकार ईश्वर को वह पाप कर्मों का दण्ड देने वाला भी नहीं स्वीकार करते थे, कम से कम स्थूल रूप में तो नहीं ही। मुझे याद आता है कि मुझसे बातचीत के दौरान उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि पाप करने वाले को ईश्वर दण्ड देता है? अरे भाई, ईश्वर दण्ड नहीं देता है, आपका पाप ही आपको दण्ड देता है। शराबी को शराब और व्यभिचारी को उसकी वृत्ति ही विनाश की ओर ढकेल देती है। ईश्वर को बदनाम करने की जरूरत नहीं है।"

मार्च 1954 में विनोबाजी को लिखे एक पत्र में उन्होंने यह कहा कि गाँधीजी के निकट रह कर उन्होंने उनसे बहुत लाभ उठाया और इस सन्दर्भ में उन्होंने राम और कृष्ण की सगुण उपासना का भी उल्लेख किया। जी. डी. बाबू का उस पत्र में यह कहना है- "बहुत सम्भव है राम और कृष्ण ने सगुण उपासना का सन्दर्भ अपने निकटस्थ लोगों को उसी प्रकार प्रदान किया हो जिस प्रकार गाँधीजी के निकटस्थ लोगों को उनकी सेवा करने का और उनसे लाभ उठाने का अवसर मिला।"

नाम दिया है। भारतीय धर्मचिन्तन में कर्मकाण्ड और पूजापाठ की बार-बार परीक्षा होती रही है और यह सभी विचारशील चिन्तकों के मनन का विषय रहा है। जी. डी. बाबू ने भी 'बुद्धियोग' से प्रारम्भ किया है और अन्त तक इसका एक अंश उनके जीवन में प्रबल रहा। किन्तु 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' को क्रमश: उनकी धर्म-चेतना में प्रधानता मिलती गयी है, और हम उनकी धर्म-चेतना के ये तीन सोपान मान सकते हैं - बुद्धियोग, कर्मयोग, भक्तियोग। इनमें उन्होंने किसी को पूर्णत: अस्वीकार नहीं किया, लेकिन समय-समय पर आग्रह अलग-अलग रहे हैं।

हम बुद्धियोग से प्रारम्भ करें—यह उनकी धर्म-चेतना का प्रारम्भिक स्वरूप है। प्रारम्भिक से तात्पर्य है कि यह वह स्वरूप था जिसमें उनके बचपन के संस्कारों का संघर्ष भारतीय पुनर्जागरण की चेतना से हुआ। बचपन में उन्हें नियमित पूजा पाठ सिखाया गया था, उनके कैशार्य और यौवन का प्रबुद्ध वर्ग इन सब चीजों को आडम्बर मानता था। हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश पर उन्होंने जो लिखा है उससे इस प्रकार के संघर्ष का सीधा परिचय मिलता है। उनके एक तरफ मालवीयजी थे, इस कदम के विरोधी। दूसरी ओर महात्मा गाँधी थे, इस कदम के प्रेरणा-स्रोत। महात्मा गाँधी ने हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश को सम्भव बनाने के लिए उपवास किया। महामना मालवीय ने उन्हें लिखा, "आप उतावले न हों, धीरे-धीरे चलें। अभिमान से तपश्चर्या कलुपित हो जाती है।" जी. डी. बाबू का इस समय कहना था कि हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश हिन्दुओं का बहुमत नहीं सरकार का कानून रोकता है, सरकार को यह हक है कि वह कानून बना कर इस प्रवेश को कानूनी घोषित करे। इस प्रकार इस दौर में वह राजा राममोहनराय के निकट अपने चिन्तन और कर्म में दिखाई देते हैं।

यही वह समय है जब जी. डी. बाबू सक्रिय होकर परदा-प्रथा को तोड़ने का समर्थन करते हैं, विधवा-विवाह का समर्थन करते हैं, बाल-विवाह का विरोध करते हैं। यही वह समय है जब इन कुरीतियों का विरोध करने के नाते उनका मारवाड़ी समाज द्वारा 'बहिष्कार' किया जाता है। बाद में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि गाँधीजी ने उन्हें इस सम्बन्ध में शान्त रह कर सहन करने की जो सलाह दी थी उससे उन्हें लाभ पहुंचा। जी. डी. बाबू इस समय 'शास्त्र भी और अक्ल भी' जैसे लेख लिखते हैं जिनमें यह छटपटाहट है कि हिन्दू-धर्म की 'कुरीतियों' को दूर करने के लिए बुद्धि का प्रयोग किया जाये। यह एकदम से शास्त्रों का अस्वीकार नहीं है। वह कृष्ण के "बुद्धोशरणमन्विच्छ" का सहारा लेते हैं और उनका कहना है कि शास्त्रों में बुद्धि विरोधी बातें हो नहीं सकतीं, 'स्वार्थ की बेसिरपैर की बेहूदा बातें' उनमें बाद में जोड़ी गयी हैं। इस बुद्धि का प्रयोग करते

इसी जगह मैं यह भी याद करता हूं कि यद्यपि मुझसे उन्होंने यह कहा था कि, "स्वामी लोगों के फेर में मैं कम ही आता हूं।" लेकिन उन्होंने स्वामी चिन्मयानन्दजी और स्वामी अखण्डानन्दजी की प्रशंसा की। इस प्रशसा के भी अपने कारण थे। वह उन स्वामी लोगों के फेर में नहीं पड़ते थे जिनमें केवल चमत्कार हो, लेकिन वह उन स्वामी लोगों के प्रति श्रद्धालु होने के लिए तैयार रहते थे जिनमें चिन्तन और मनन हो और जो किसी दूसरे को भी धर्म के बारे में कुछ तर्क-संगत बता सकने को तैयार हों। जी. डी. बाबू ने ही मुझे नारद-भक्ति सूत्र की स्वामी चिन्मयानन्दजी द्वारा की गयी व्याख्या-पुस्तक दी थी और पढ़ने का भी तरीका बताया था कि तीन बातें पढ़ना इसमें– 1. सूत्र, 2. व्याख्या और 3. भाषा और प्रवाह। और पढ़ना थोड़ा-थोड़ा क्योंकि सूत्र पढ़ने हैं–एक सूत्र पढ़ो, मनन करो, उसमें डूबो और तब दूसरा सूत्र पढ़ो, उसे समझो, और तब आगे बढ़ो। बिलकुल एक शिक्षक की तरह बताया। मैंने कहा 'यू आर ए टीचर इनडीड।'

"जहां बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, वहां से श्रद्धा का क्षेत्र शुरू होता है" ऐसा जी. डी. बाबू ने 'कृष्णं वंदे जगद्गुरुम्' में कहा, जो उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में लिखा। लेकिन प्रौढ़ावस्था में वह ठीक-ठीक ऐसा ही नहीं मानते थे, यह निश्चित है। 1945 में महावीर प्रसादजी पोद्दार को लिखे एक पत्र में उन्होंने धर्म को एक 'व्यसन' माना है, फर्क सिर्फ यह किया है कि यह व्यसन 'अच्छा' व्यसन है–

"नीच व्यसन हो तो अधर्म, अच्छा व्यसन लोकहित के लिए किया जाये यह धर्म और फलासक्ति त्याग कर करे, वह निष्काम धर्म या कर्मयोग।"

इस पत्र में और कई महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। धर्मशास्त्रों के 'ऋणों' देव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण इत्यादि का उल्लेख है। गृहस्थ के आह्निक कृत्यों के रूप में नियमबद्ध कर दिये गये यज्ञों की बात है–ब्रह्मयज्ञ, नृयज्ञ इत्यादि। निश्चय ही जी. डी. बाबू आह्निक कृत्यों की बात नहीं कर रहे थे, ब्रह्मयज्ञ से उनका मतलब था कि पढना चाहिए, नृयज्ञ से मतलब था कि 'गरीब जनता की सहायता' करनी चाहिए। इसमें 'बुद्धि' है, हम 'अच्छे', 'बुरे' की बात को अलग रख दें तो यह कुछ उसी किस्म की बात है कि 'कर का मनका छांड़ि दे, मन का मनका फेर'।

आभास के तीन सोपान : बुद्धियोग, कर्मयोग, भक्तियोग

रामकिंकरजी उपाध्याय ने जी. डी. बाबू के धर्मचिन्तन को 'बुद्धियोग' का

मानवीय व्यवस्था जैसे कि किसी विशेष शासन व्यवस्था में या धार्मिक कर्मकाण्ड को स्वीकार कर के उसके सम्बन्ध में अहंकारी हैं, वे कर्मयोग के विरोध में हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जी. डी. बाबू को कर्मयोग के विरोध में जाने के सारे प्रलोभन थे। एक व्यक्ति के रूप में अपना अहंकार मिटाने के बाद भी वह उस अहंकार को अपने परिवार में, या स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था में, या अपनी विचार-पद्धति में स्थानान्तरित कर सकते थे। लेकिन इस विषय में उनकी दृष्टि शुरू से ही बहुत स्पष्ट रही। जिस साफगोई से उन्होंने 'अच्छे व्यसन' और 'धर्म' को एक बताया है वह एक बड़ी गहरी पहचान का सूचक है। जो लोग सात्विकता का रास्ता अपनाना चाहते हैं उन्हें प्रारम्भ से अन्त तक सात्विकता की पहचान करनी पड़ती है। जिस प्रकार शारीरिक तपश्चर्या में भोगों को क्रमशः छोड़ना होता है उसी प्रकार निष्काम बनने के लिए भी क्रमशः अपनी कामनायें कहां हैं इसको पहचानते हुए उन चीजों से मन हटाना पड़ता है। धन कमाया जाये लेकिन उसमें कमाने की लिप्सा न रहे, दान किया जाये लेकिन दान करने की लिप्सा न रहे (यह दानी कहाने की ही लिप्सा है, चाहे लोक के द्वारा चाहे अपने मन में), लड़ाई लड़ी जाये लेकिन लड़ने की लिप्सा न रहे, यह बहुत कठिन है। भगवद्‌गीता में कृष्ण ने अर्जुन को उनकी सही भूमिका बतायी, अपनी पहचान एक विराट में करना सिखाया। जी. डी. बाबू ने भगवद्‌गीता का लगातार और गहन अध्ययन करके इस सीख को अपने जीवन में उतार लिया था।

प्राचीन विचारों की व्याख्या कैसे करनी चाहिये इस सम्बन्ध में जी. डी. बाबू ने लिखा है, "संकुचित व्याख्या बुद्धि को विचलित कर देती है।" भारतीय वाङ्मय भी बार-बार इस ओर इशारा करता रहा है—

'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।'

अल्पज्ञानी से वेद भी डरता है कि यह मेरा नाश कर देगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कर्मयोग की संकुचित व्याख्या न की जाये। दुर्योधन की लड़ाई और अर्जुन की लड़ाई में फर्क किया जाये। जी. डी. बाबू ने सदा यह कोशिश की कि अपने कर्म से अलिप्त रहें, अपने को साधारण मान कर चलें और असाधारण के नाम पर केवल इतनी खोज करें कि विश्वव्यापी, अनादि, अनन्त ब्रह्म से अपनी अभिन्नता कहां है?

बुद्धि के स्तर पर कृष्ण एक महापुरुष हैं, वेदान्त के स्तर पर वह ब्रह्म हैं। जी. डी. बाबू बुद्धि के पक्ष में थे, वेदान्त को अच्छी तरह समझते और मानते थे।

हुए वे हिन्दू-समाज के विभागों के दो आधार 'असहभोजिता' और 'अवैवाहिकता' स्वीकार करते हैं क्योंकि इसमें हम किसी का 'अपमान' नहीं करते,किसी के साथ 'अन्याय' नहीं करते। 'अस्पृश्यता' को वह अन्यायमूलक होने के नाते अस्वीकार करते हैं।

इन सब बातों के सन्दर्भ में जी. डी. बाबू ने स्वयं लिखा है कि 'मध्य-मार्ग श्रेयस्कर है'। लोककल्याण मूलक चिन्तन में, जिसमें साधारण मनुष्य के दैनंदिन कष्टों और पारिवारिक चिन्ताओं पर विचार होता है, मध्यम-मार्ग की पक्षधरता अक्सर देखी जाती है। भगवान बुद्ध ने भी इसी प्रकार शरीर का कष्ट देने वाले तप को अस्वीकार करते हुए मध्यम-मार्ग पर बल दिया और समय-समय पर वह अपने बनाये नियमों में स्वयं सुधार करते गये। पहले भिक्षुओं को नंगे पांव रहने को कहा, फिर एक तलवे का जूता पहनने की अनुमति दी। यही मध्य-मार्ग है जिसका स्वीकार जी. डी. बाबू ने किया है न तो इतना परिवर्तन हो कि सारी की सारी व्यवस्था एकदम से तितर-बितर हो जाये और न इतनी ज़ड़ता स्वीकार की जाये कि जो अपने ही बोझ तले घुटती हुई व्यवस्था को दम तोड़ देने के लिए मजबूर करे। और इस मध्यममार्ग के निर्धारण के लिए उन्होंने बुद्धि को, कल्याणभावना को, दया को, आप्तपुरुषों को कसौटी माना है—

"जो काम समाज की भलाई का हो, सदय हो, बुद्धि जिसका पोषण करती हो, गाँधीजी - जैसे आप्त पुरुष जिसका समर्थन करते हों, वह निश्चय ही धर्म है।"

यह शब्दावली महत्त्वपूर्ण है। यह धर्म में बुद्धि को फैसला करने का अधिकार नहीं देती, यह बुद्धि को धार्मिक नियमों में उचित और अनुचित का चुनाव करने की भूमिका देती है। इस परिप्रेक्ष्य में कर्मयोग का स्वीकार लगभग स्वाभाविक रूप से अगली कड़ी बन जाता है। कर्मयोग यानी निष्काम भाव से कर्म की साधना। यह कर्मयोग इस बुद्धि योग के विरोध में नहीं है किन्तु यह बुद्धि का मध्य-मार्गी उपयोग अवश्य है।

कर्मयोग की साधना ऐसी साधना है जिसके दौरान मनुष्य को अपनी सही पहचान मिलने लगती है। कोई भी काम दो तरह से हो सकता है। एक तो इस तरह कि यह काम 'मैं' कर रहा हूं। दूसरे इस तरह कि यह कार्य तो होना ही था, इसका साधन मैं बना। यहां मैं का तात्पर्य अपने व्यक्ति से है, अपने समाज से है और अपनी जाति यानी मनुष्य मात्र से है। अर्थ में सारा मनुष्य-केन्द्रित चिन्तन कर्मयोग के विरोध में जाता है। जो लोग व्यक्ति के रूप में अहंकारी नहीं हैं, लेकिन किसी

लोग करते हैं जिनके पास अपने परिवेश को पहचानने की ललक होती है। यह पेड़ अब नहीं रहा, यह मकान बन या उजड़ गया, नदी इधर से उधर हो गयी, यह सब तरीके हैं जिनसे आदमी यह पहचान सकता है कि वह कहां से कहां आया है। तेज सवारियों से आदमी सिर्फ एक दुनिया से दूसरी दुनिया में आता-जाता रहता है, वह उस तरह के सन्दर्भ में नहीं रह पाता जिस तरह के सन्दर्भ में उसे अपनी अस्मिता प्राप्त हो सके।

'अस्मिता की खोज'—यह एक पिटा हुआ शब्द है लेकिन फिर भी इससे बेहतर शब्द हम धर्मचेतना के लिए नहीं निकाल सकते। यही प्रश्न भारतीय धर्मचिन्तन के मूल में हमेशा रहा। जी. डी. बाबू का चिन्तन इसी प्रश्न से अनुप्रेरित रहा है। यह उत्तर खोजने का प्रयास ही उनकी धर्मचेतना का इतिहास और भूगोल है।

इस उत्तर को उन्होंने अपने पिता और पितामह से प्राप्त श्रद्धा और भक्ति में भी पाया, और स्वयं किये गये अध्ययन में भी पाया जिसमें उनकी रुचि और झुकाव अन्ततः वेदान्त की ओर रहे। उपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत, श्रीमद्भागवत, रामायण, रामचरितमानस, ये सब के सब उनके अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ थे जिनसे उनको जीवन भर लगाव रहा, जिनसे उन्होंने जीवन भर सीखा। हां, उनकी व्याख्या अपनी थी, उनकी समझ अपनी थी और इस तरह इन्हीं ग्रन्थों के पढ़ने वाले और लोगों को नहीं मिल सकती थी। मेरा यह सौभाग्य था कि उनसे मुझे इन सब बातों के बारे में कुछ सीखने को मिला। मुझे याद आता है कि उनसे एक बार बातचीत हो रही थी तो उन्होंने कहा, "मैं जब भक्ति की बात कहता हूं तो वह केवल श्रद्धा-भाव पर आधारित चीज ही नहीं है, वह तो बहुत ही साइंटिफिक है। शास्त्रों से सिद्ध किया जा सकता है कि भक्ति का आधार बिल्कुल वैज्ञानिक है। अगली बार जब बोलूंगा तो मैं बताऊंगा कि भक्ति का कन्सेप्ट कितना साइंटिफिक है। मैं तो जब अकेला रहता हूं भागवत को बार-बार पढ़ता रहता हूं और हर बार उसमें से कुछ न कुछ मिल जाता है। मैं तो भक्ति के प्याले चुपचाप ही पीता रहता हूं।" उनके निकट रह कर जो भी मैं जान पाया उसका सार तत्व इन्हीं पंक्तियों में मैं मानता हूं। व्यष्टि में समष्टि के वह सजीव और सार्थक उदाहरण थे।

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती के शब्दों में—"उनका ईश्वर-विश्वास उनके जीवन में पग-पग पर प्रकट हुआ था।"

अतः कृष्ण को एक 'महापुरुष' मानने की और उन्हें साथ-साथ ब्रह्म मानने की उन्होंने शास्त्र-सम्मत युक्ति दी है– '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**– ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। कृष्ण इसी अर्थ में ब्रह्म हैं क्योंकि वे ब्रह्मज्ञानी थे। सभी मनुष्य ब्रह्म हैं, यह सही है, लेकिन यह अपने आप सही नहीं है, इसके लिए ज्ञान चाहिए। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। जी. डी. बाबू ज्ञान के स्थान पर अनुभूति शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द तक पहुचना उनके सोच की गहराई बताता है क्योंकि बहु-प्रचलित शब्द ज्ञान है, अनुभूति नहीं। और ज्ञान कैसे होगा? '**श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्**' ज्ञान उसे मिलता है जो श्रद्धावान होता है।

जी. डी. बाबू लिखते हैं :

"अनुभूति न हो तब तक तो 'नमः शिवाय' ही है। अनुभूति होने पर 'शिवोऽहम्' हो जाता है।"

यही अनुभूति है जिसे प्राप्त करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहे। इसका वास्ता श्रद्धा से है, यह शास्त्र-सम्मत धारणा हम उनके चिन्तन में देख चुके हैं। यही भक्तियोग की साधना है।

धर्म-चेतना की यात्राएं

इस तरह जी. डी. बाबू की यात्रा श्रद्धा से श्रद्धा तक रही। विष्णु सहस्रनाम, दुर्गासप्तशती पढ़ते हुए सनातन धर्मी रूढ़ियों से लड़ते हुए, निष्काम भाव से व्यवसाय में लगते हुए, कृष्ण की शरण खोजते हुए, रास्ता उनके पास एक ही था–श्रद्धा का। जी. डी. बाबू यदि विष्णु सहस्रनाम और दुर्गासप्तशती के पाठ से पुण्यलाभ में कभी भी विश्वास नहीं करते तो वह उस विश्वास के बारे में बिना 'संकुचित व्याख्या' के बुद्धि-सम्मत प्रश्न भी नहीं उठा सकते थे।

जी. डी. बाबू की धर्मचेतना का विकास उसी श्रद्धा की वापसी की कोशिश है जो उन्होंने बचपन में अपने पिता और पितामह से पायी थी। सच तो यह है कि वैचारिक विकास और धर्म-चेतना की सभी उदात्त यात्राएं मनुष्य द्वारा अपनी उपलब्धियों के पहाड़ को तोड़ते हुए अपनी जड़ों तक पहुंचने की यात्राएं होती हैं। जब हम जी. डी. बाबू को ऊंट की सवारी से हवाई जहाज की सवारी की तुलना करते पाते हैं तो उस तुलना में एक गहरी सच्चाई की तलाश है। ऊंट की सवारी वे

मूल्यांकन

न हों, उदाहरण के लिए प्रतिदिन टेलीफोन से कुशलक्षेम की चर्चा कर लेना, लेकिन उनमें अर्थवत्ता का गांभीर्य प्रत्येक वार नवीन होता था क्योंकि उन्हीं शब्दों में हर वार एक नया सन्दर्भ प्रतिविम्बित होता था। यह उनके निकटतम चार लोगों का विश्लेषण है, एक ही प्रश्न के ये चार उत्तर हैं। चारों ही उत्तर सही हैं, लेकिन फिर इस वात से यह भी स्पष्ट है कि "हां-ना" की शैली में उनके व्यक्तित्व के किसी भी पक्ष को समेटना उनके निकटतम लोगों के लिए भी सम्भव नहीं है। लेकिन प्रयास तो करना ही है।

वस्तुत: वह एक व्यक्ति न होकर वीसवीं शताब्दी की अभिव्यक्ति थे। वीसवीं शताब्दी का भारत क्या वनना चाहता था, क्यों वनना चाहता था, कैसे वनना चाहता था, यह एक सघन रूप में जी. डी. वावू के व्यक्तित्व में निवद्ध है। इसी सघनता के नाते इस व्यक्तित्व की कोई तस्वीर खींचना कठिन है। रेखायें कहां से, कौन-सी खींची जायें, इस विषय में कूची को कोई मदद कहीं से नहीं मिलती।

मैं प्रारम्भ में ही यह कह चुका हूं कि जी. डी. वावू में परस्पर विरोधी वृत्तियों का एक संगम था। यह स्मरण करने की वात है कि उन्होंने एक उद्योगपति के रूप में मिलें खोलीं, कपड़ा वनाया, वेचा और साथ ही गाँधीजी के अनुयायी होने के नाते व्यक्तिगत रूप से खद्दर धारण किया जिसका उद्देश्य था मिलों के साम्राज्य को तोड़ना। तो वह क्या चाहते थे, आधुनिकतम औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप उपजने वाली यन्त्र-निर्भर सभ्यता अथवा व्यक्तियों को अधिक से अधिक स्वावलम्वी वनाने वाली जन-निर्भर सभ्यता? कौन से जी. डी. वावू असली हैं—पत्नी के श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण-भोजन के नाते विलम्व से भोजन मिलने पर इन वातों को ढकोसला कहने वाले, या उत्तराखण्ड की यात्रा में स्वर्गीय वड़े भाई का तर्पण करने वाले?

आस्थाओं और मान्यताओं के अतिरिक्त रुचियों और क्षमताओं की भी वात है। वे अच्छे लेखक थे, फिर इतना कम क्यों लिखा कि साठ वर्षों के साहित्यिक जीवन में औसत एक वर्ष में एक लेख का भी नहीं आता? राजनीति में गहरी पैठ थी, प्रभाव था, विचार और कर्म की क्षमता थी लेकिन उसमें सक्रिय भाग क्यों नहीं लिया? समाज सेवा के लिए इतनी प्रतिवद्धता थी फिर उसमें इस तरह क्यों नहीं जुटे कि उनके दैनिक कार्यक्रम का वह एक नियामक तत्व वन जाता, जैसा कि उदाहरण के लिए जमनालालजी वजाज का वन गया?

और जो व्यक्ति संयुक्त पारिवारिक संस्कारों का इतना वड़ा समर्थक था कि

मूल्यांकन : एक राजयोगी

जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व को समेकित रूप में रखने का प्रयास करते समय मुझे महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश के प्रारम्भ में कहे हुए ये शब्द अकस्मात् स्मरण हो आते हैं—"**तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्**" मैं तो मानो दुस्तर समुद्र को उडुप (छोटी डोंगी, या कामचलाऊ लट्ठों का बेड़ा) से तैरने की अभिलाषा कर रहा हूं। लेकिन कठिन कामं हो तो उसे करने की कोई कोशिश न की जाये,यह तो उस सीख का ठीक उल्टा है जो जी. डी. बाबू से मुझे मिली। लोग ईश्वर के भी व्यक्तित्व पर चर्चा करते हैं तो मैं मनुष्य के व्यक्तित्व पर चर्चा करने से क्यों कतराऊं?

जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व को आंकना कुछ ठोस कारणों के नाते कठिन है और मैं यह नहीं मानता कि केवल मेरी अल्पज्ञता या मेरा उनके प्रति श्रद्धा-भाव ही अड़चन के रूप में सामने आते हैं। एक उदाहरण लिया जाये। मान लीजिये कि हम यह समझना चाहें कि जी. डी. बाबू की बातचीत का क्या स्वरूप था। तो उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीनिवासजी का कहना है कि वह न्यूनतम शब्दों में प्रासंगिक बात करने के अभ्यासी थे, शब्दों का अपव्यय नहीं करते थे। दूसरे पुत्र कृष्णकुमारजी का कहना है कि वह सूत्र-स्वरूप बोलते थे, उन सूत्रों की व्याख्या सुनने वालों को करनी पड़ती थी। तीसरे पुत्र बसन्तकुमारजी का कहना है कि उनके वार्तालाप का मुख्य लक्षण था युक्तिसंगत होना। और उनकी पुत्रवधू सरलाजी जो उनकी मानस-पुत्री का स्थान पा चुकी थीं, का कथन है कि वार्तालाप के शब्द चाहे बदले

यह 'देसीपन' क्या है? कभी-कभास कहा जाता है कि 'क्वेकरों' या यहूदियों की तरह ही बिड़ला परिवार भी है। यह उदाहरण की सुगमता के लिए कही गयी बात है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि अर्थोपार्जन के विषय में बिड़ला-परिवार के कुछ संस्कार हैं, कुछ नीतियां हैं, और कुछ विशिष्टताएं हैं। व्यापार का भी एक आभिजात्य है, एक कुलीनता है। स्वयं कलकत्ते के मारवाड़ी होते हुए जी. डी. बाबू अगर यह अनुभव करते हैं कि 'कलकत्ते के मारवाड़ी तो अब सिर्फ पैसे की बात करते पाये जाते हैं' तो 'सिर्फ' लगाने से इसका साफ मतलब है कि पैसा कमाने का भी एक धर्म है।

लेकिन जब 'धर्म' के स्वरूप का अन्वेषण प्रारम्भ किया जाये तो इसे क्वेकरों या यहूदियों से जोड़ना उतना सार्थक नहीं सिद्ध होगा क्योंकि शब्दों के साथ एक इतिहास जुड़ा होता है। शब्दों की एक परम्परा होती है। जी. डी. बाबू के 'धर्म' की व्याख्या का प्रयास भारत के परम्परागत मुहावरे में ही करना पड़ेगा। वह परम्परागत मुहावरा वर्णाश्रम व्यवस्था का भी हो सकता है।

वस्तुतः जी. डी. बाबू का धर्म वैश्य-धर्म ठहरता है। यह वैश्य-धर्म उन वैश्यों का है जिनमें वैदिक कल्पना के अनुसार राज्य के अस्तित्व की जड़ें टिकी होती हैं **"विशि राजा प्रतिष्ठितः"** (यजुर्वेद)। यह श्रेष्ठियों का धर्म है जिन्होंने बुद्ध और महावीर जैसे चिन्तकों के आगे अपनी तिजोरियां खाली कर दीं। यह सार्थवाहों का धर्म है जो भयंकर वीरानों में अपना काफिला लिये इधर से उधर घूमते रहे, अगाध सागर को चीरते हुए सुदूर नये सीमान्तों की खोज की और व्यापार को संस्कृति का वाहक बनाया। यह उन व्यापारियों का धर्म है जिन्होंने समय आने पर तराजू रखकर तलवार उठायी, और अपनी थैलियों का इस्तेमाल विद्या के संवर्धन में, राष्ट्रीय-शक्ति के उत्थान में किया।

भारतीय कल्पना में पुरुषार्थ चतुष्टय का महत्त्व बार-बार आता है। पुरुषार्थ-चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इसमें मोक्ष के अतिरिक्त धर्म और काम का मूल 'अर्थ' स्वीकृत है, कौटिल्य के शब्दों में **'अर्थमूलो हि धर्मकामो'**। यह अर्थोपार्जन का वास्तविक उद्देश्य है, ताकि धर्म को पुष्ट किया जा सके और लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति हो सके।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य के भीतर जब हम जी. डी. बाबू के संस्कारों और उनके परिवेश को जांचने का प्रयास करते हैं तो उनके भीतर की गुत्थियां कुछ सुलझती नजर आती हैं। उनके परिवार में संस्कृत शिक्षा के प्रति रुचि जागृत हुई थी, उनके

उसका खड़ा किया विशाल उद्योग-समूह भी एक संयुक्त परिवार की भांति चलता है, उसने यह कैसी व्यवस्था की कि अपने पुत्रों को स्वतन्त्र व्यवसाय करने को ही नहीं, स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के लिए भी प्रोत्साहित किया?

समस्या उस "बिड़ला मिस्टीक" के भीतर पैठने की है जिसकी चर्चा जी. डी. बाबू के देहान्त के बाद आयी प्रेस-रिपोर्टों में हुई। पहली बार भारतीय पत्रकारिता ने राजनीति के बाहर के किसी व्यक्ति का इतिहास और भूगोल पढ़ने का गम्भीर प्रयास किया। इस प्रयास में विविधता का इतना अतिरेक था कि समकालीन भारतीय इतिहास के कुछ अन्य युगपुरुषों के ऊपर आने वाली प्रेस-रिपोर्टों का स्मरण अनायास हो आता है और यह रेखांकित करना पड़ता है कि स्वभावतः मुखर पत्रकारिता की वाक्चातुरी इस 'मिस्टीक' की सारी परतें खोल नहीं पायी।

इस 'मिस्टीक' के भीतर, इस रहस्यमयता के भीतर पैठने की राहें भारतीय मन और संस्कारों के भीतर पैठने की राहें ही हो सकती हैं क्योंकि जी. डी. बाबू अपनी शिक्षा, अपने पारिवारिक संस्कार और अपनी आकांक्षा सब में भारतीय थे और बने रहे। उनकी शक्ति और योग्यता उतनी ही तो थी जितनी इस धरती में अपने बेटों को दे सकने की है। इस शक्ति और योग्यता का प्रयोग करके वह विदेशी अर्थव्यवस्था से जूझे और जीते। उद्योग-प्रबन्ध और अर्थनीति जैसे विषय अब किसी देश के लिए स्वयं निर्धारण के उपादान नहीं रह गये हैं और पश्चिम के कुछ गिने-चुने देशों में स्वीकृत मानदण्डों के अनुसार ही सारे संसार में चलाये जाते हैं। लेकिन उन्होंने यह दिखा दिया कि भारत का एक अपना मार्ग हो सकता है, एक गति हो सकती है, और उस मार्ग पर उस गति से चलकर दिखाया।

एक साधारण उदाहरण से इसका अनुमान किया जा सकता है। सन् 1919 में जब टाटा प्रमुख उद्योगपति थे और उनका इस्पात का कारखाना प्रसिद्ध हो चुका था, बिड़ला बन्धुओं के पास कोई मिल नहीं थी लेकिन सन् 1944 के आते-आते वे इस स्तर पर पहुंच चुके थे कि स्वतन्त्र भारत का आर्थिक कार्यक्रम क्या हो, इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध योजना टाटा और बिड़ला ने मिलकर तैयार की जो बाम्बे-प्लान के नाम से जानी जाती है। बाम्बे-प्लान के बनाने वालों में टाटा विदेशी दृष्टि और चिन्तन के धनी थे, बिड़ला देसी सूझ-बूझ और लगन के। औद्योगिक-विकास की दर की जांच करते ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि बिड़ला उद्योग-समूह की प्रबन्ध-शैली ने अपना स्थायीपन किसी भी अन्य समूह की अपेक्षा अधिक परीक्षाओं से पार होते हुए सिद्ध किया है। बिड़लाओं के 'देसीपन' ने, जब भी बिड़लाओं पर कुछ लिखा गया है, लेखकों का ध्यान अपनी ओर खींचा है।

श्रेयस्कर होता है, दूसरे का धर्म स्वीकार करना भयावह होता है। जी. डी. बाबू एक वैश्य के रूप में ही जिये और मरे। हां, विद्या के धनी ब्राह्मणों को और शासकीय शक्ति के केन्द्र राजनीतिज्ञों को सन्मार्ग पर चलने में कोई कठिनाई न हो सके इसके लिए वे सतत प्रयत्नशील रहे। धन को कमाने का कोई अवसर उन्होंने कभी हाथ से नहीं जाने दिया जैसे कि सूर्य कभी भी आर्द्रता को सोखे बिना नहीं रह सकता। लेकिन फिर भी सूर्य की तरह ही उन्होंने उस आर्द्रता को वृष्टि के रूप में पृथ्वी को वापस लौटाने में ही विश्वास रखा। मुझे ऐसे अनेक अवसर स्मरण आते हैं जब सत्पात्र को दान देने की अकुलाहट उनकी साधारणतया गम्भीर मुख-मुद्रा पर भी अपना असर दिखा जाती थी। इसलिए हम पाते हैं कि अपनी व्यक्तिगत रुझानों को उन्होंने कभी भी अपने वैश्यधर्म पर हावी नहीं होने दिया। उनका वैश्यधर्म कहता था कि देश में उद्योग जरूरी है, उत्पादन जरूरी है। यह उन्होंने अंग्रेजों के शासन-काल में भी किया, भारत के कांग्रेस शासन के दौरान भी और केरल तथा बंगाल की वामपन्थी सरकारों के दौरान भी। यदि वह ऐसा न करते तो वह अपने राजनीतिक आग्रहों को अपने वैश्य-धर्म पर हावी होने देते जो कि उनके स्वीकृत धर्म के विरुद्ध था।

अपने संस्कारों और परिवेश को अपनी कुल परम्परा से स्वीकृत धर्म की सीमाओं के भीतर ढालने के क्रम में उस धर्म की पुनर्व्याख्या और विस्तार की बात सोचना जी. डी. बाबू के लिए स्वाभाविक ही था। वह मारवाड़ी थे बोलचाल में, खान-पान में, रहन-सहन में। मारवाड़ी बोलते थे, सुनना पसन्द करते थे। लेकिन मारवाड़ी समाज को वह एक शक्ति के रूप में देखना चाहते थे और उस शक्ति के लिए जो भी न्यायसंगत मार्ग उन्हें सूझता था उस पर चलने में उन्हें संकोच नहीं रहा। उन्होंने जहां तक बन पड़ा अपने उद्योगों में मारवाड़ियों को स्थान दिया और इस प्रकार मुख्यतः जी. डी. बाबू के प्रयासों के ही नाते रेगिस्तान से जूझने वाली यह जाति, भारत में उद्योगों के नखलिस्तान जगह-जगह बना सकी। इसी प्रकार अपने खान-पान और रहन-सहन में भी भोजन का स्तर तो उत्कृष्ट ही रखा लेकिन विधि, समय और मात्रा का ध्यान रखा। 'मारवाड़ी सेठ' कहने से जो बड़ी तोंद वाले, ढीली धोती वाले व्यक्ति का चित्र कुछ लोगों के मन में उभरता है उससे प्रयत्न पूर्वक अपने को अलग किया। मुझसे सगर्व कहा करते थे, "मेरे परिवार में कोई भी व्यक्ति तोंद वाला नहीं रहा और न है।" चुस्त-दुरुस्त रहने का यह प्रयत्न शरीर तक ही नहीं, विचार एवं समग्र व्यक्तित्व तक फैला हुआ था। और इस व्यापक अर्थ में यह प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर तक या पारिवारिक स्तर तक सीमित नहीं रहा, इस प्रयत्न का विस्तार पूरे समाज तक था।

पितामह श्री शिवनारायण बिड़ला के नाते और तब पिलानी में यह कहा जाता था कि वह अपने बच्चों को 'बामणी' विद्या पढ़ा रहे हैं। जी. डी. बाबू ने ब्राहमणों की विद्या सीखी। इससे जो ब्राह्मणोचित चिन्तन के प्रति उनमें अनुराग जगा, धर्म की,. उचित, अनुचित की और नैतिकता की छान-बीन का उत्साह आया और इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय चिन्तन से जो परिचय उन्होंने प्राप्त किया उसको उन्होंने लगातार बढ़ाया। चिन्तन, विचार, महान ग्रन्थों और उदात्त आर्दशों से सम्बन्ध, यह सब जी. डी. बाबू का 'ब्राह्मण'—चरित्र कहा जा सकता है।

'क्षत्रिय' तो वह जन्म से भी थे—माहेश्वरी समाज का ऐसा मानना है कि वे मूलतः क्षत्रिय हैं और इतिहास के एक मोड़ पर तलवार छोड़कर उन्होंने तराजू पकड़ ली। नये-से-नये, खतरनाक-से-खतरनाक दिखाई देने वाले रास्ते पर चल सकने का साहस,व्यापार को 'एडवेंचर' बना लेने की सीमा तक जाने की जो तैयारी जी. डी. बाबू की सदा रही वह उनका 'क्षत्रिय'—चरित्र कहा जा सकता है। और वैश्य तो वे थे ही, धन कमाओ, शिष्टता से धन कमाओ, एक साधन के रूप में धन कमाओ, यह उनका संकल्प भी था, कर्म भी था, सन्देश भी था।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कह दिया है कि यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के रूप में चरित्र का वर्गीकरण एक मुहावरे के रूप में है। वस्तुतः 'वैश्य-धर्म' ही जी. डी. बाबू के चरित्र को पूरी तरह समझाने में सक्षम है यदि 'वैश्य' का अर्थ पूरी तरह समझ लिया जाये। वैश्य ब्राह्मण नहीं है क्योंकि उसका काम धर्म की व्याख्या करना नहीं है, स्वयं विद्या का एक उपदेशक के रूप में प्रसार करना नहीं है। वैश्य क्षत्रिय नहीं है, क्योंकि उसका काम सशस्त्र होकर शत्रु से रक्षा करना नहीं है। वैश्य का काम है धन कमाना, सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए रोटी, कपड़ा मकान की व्यवस्था करना, ऐसी स्थितियां उत्पन्न करना कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के कार्य सुचारु रूप से चलते रहें, समाज के मस्तिष्क और बाहुओं में रक्त का संचार होता रहे। पुरुष सूक्त में वैश्य को विराट् पुरुष के 'ऊरु' कहा गया है—'ऊरु तदस्य यद् वैश्यः' जिस पर सारे शरीर के उठने-बैठने, चलने-फिरने का दारोमदार होता है। यह बोझ जो संभाल सके, वही सही अर्थों में वैश्य है।

वैश्यधर्म की इसी गुरुता का निर्वाह जी. डी. बाबू ने किया। वह वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे, वैश्यधर्म उनका अपना धर्म था। वह इस धर्म के अतिरिक्त कोई और धर्म नहीं स्वीकार कर सकते थे। उनके प्रिय ग्रन्थ भगवद्गीता का कहना है—**'स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः'**, अपने धर्म में रहकर मरना ही

यह राजत्व जी. डी. बाबू में कई तरह से पनपा। उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए किसी तेजस्वी पुरुष के लिए भी यह बहुत कठिन है कि वह अपना सम्मान सुरक्षित रख सके क्योंकि जहां एक ओर वह चाटुकारों से घिरा रहता है, वहीं जिन राजनीतिक लोगों के सामने उसे अपने व्यवसाय के निमित्त जाना पड़ता है वे उससे यह आशा करते हैं कि वह उनकी हां में हां मिलाये और उचित-अनुचित हर बात माने। लेकिन जी. डी. बाबू सदा इस बात पर दृढ़ रहे कि मेरी मर्यादा भी उसी प्रकार दूसरे लोग सुरक्षित रखें जिस प्रकार मैं दूसरों की मर्यादा रखता हूं। राजत्व का दूसरा स्वरूप उनमें यह था कि वह सदा सर्वश्रेष्ठ को ही वरीयता देते थे। उदाहरण के लिए यदि कुछ खरीदना हो तो एक दृष्टिकोण तो यह है कि अधिक मूल्य देकर ठगे न जायें, दूसरा यह है कि मूल्य की चिन्ता न करते हुए इच्छित वस्तु ले आयें। यह दूसरी भंगिमा राजसी है और जी. डी. बाबू में यह विद्यमान थी।

अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमंडितम्
रमते न मरालस्य मानसं मानसं बिना।

यद्यपि सभी जगह कमलों से सुशोभित सरोवर सुलभ हैं लेकिन हंस का मन तो तभी रमता है जब उसे मानसरोवर मिले।

जी. डी बाबू जब उद्यान सज्जा का निर्देशन करते थे तो वाटिका के विलास में एक अनूठापन उभर आता था। जब फल या मिष्ठान का चयन करते थे तो सरसता और स्वाद में भी निखार आ जाता था। वे उदात्तता के पुजारी थे, तुच्छता उन्हें अप्रिय थी—

यो वे भूमा तत्सुखं। नाल्पै सुखमस्ति
भूमैव सुखं। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य
—छान्दोग्योपनिषद्

जो उदात्त है वही सुखकर है। तुच्छता में सुख नहीं है। उदात्तता में ही सुख है। उदात्तता की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।

उदात्तता को नापने का पैमाने भी उदात्त था, वह किसी आदमी को उसकी आर्थिक स्थिति से नहीं आंकते थे, उसके चरित्र और उसकी क्षमता और उसकी सर्जनात्मक वृत्ति से आंकते थे। परिवार के वैवाहिक सम्बन्धों में भी जी. डी. बाबू ने कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उनके सम्बन्ध उन्हीं के बराबर के धनपतियों में हों। यह उनका राजसी ठाठ था। जी. डी. बाबू के पिता तो राजा की

जी. डी. बाबू को समझने के लिए जो दूसरा मुहावरा मैं इस्तेमाल कर सकता हूं वह भी प्राचीन भारतीय चिन्तन का मुहावरा है, सात्विक, राजस और तामस व्यक्तित्वों का। जी. डी. बाबू की चाल - ढाल, उनके धार्मिक अनुराग और गाँधी के निकट तक पहुंचता हुआ संयम, इन सबसे कभी - कभी ऐसा लगता है कि उनकी प्रवृत्ति सात्विक थी। उनके बड़े भाई जुगलकिशोरजी बिड़ला कहा करते थे, ''हमारे परिवार में कोई साधु है तो घनश्याम है।'' किन्तु ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि 'सात्विक' शब्द से वस्तुतः जिस विरागी महात्मा का स्वरूप उभरता है, वह उनका नहीं था। उनमें निश्चय ही अनासक्त कर्मयोग था। स्वयं मैंने भी एक 'जमुनोत्री-यात्रा' में यही लिखा, ''लगते हो आसक्त, किन्तु हो अनासक्त, हो अनासक्त! लेकिन इसमें 'अनासक्ति' को बहुत दूर तक खींचना अनुचित है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि वह संसार त्यागी हो गये हों, हार और जीत से परे हो गये हों। हार से विचलित न हों, जीत में बौखला न जायें यह तो उनमें था लेकिन उनमें फरिश्ता बनने की कोई चेष्टा नहीं थी, इनसान बनने की थी। और जैसा कि मौलाना हाली ने कहा है:

फरिश्ते से बेहतर है इनसान बनना
मगर उसमें पड़ती है, मेहनत जियादा।

तो ज्यादा मेहनत का जो काम है, यानी इनसान बनना वह जी. डी. बाबू ने उठाया, वह देवता नहीं बने, मनुष्य बनने की कोशिश की। और इसीलिए मुझे उनका व्यक्तित्व राजस लगता है, प्राचीन अर्थ में रजोगुणी, हिन्दी में प्रचलित अर्थ में राजसी। मैं कहूंगा वे योगी थे लेकिन राजयोगी थे।

व्यक्तित्व की भारतीय कल्पना में राजा और योगी होना परस्पर विरोधी विचार नहीं हैं। ज्योतिष के ग्रन्थों में, लोककथाओं में, प्रायः इस तरह की बातें मिलती हैं कि अमुक जातक के लक्षण यह बताते हैं कि वह या तो राजा होगा या योगी होगा। जी. डी. बाबू के व्यक्तित्व को फलित ज्योतिष से आंकने की न मेरी क्षमता है न मेरा विचार है। लेकिन विधि का एक विधान होता है इसमें मुझे संशय नहीं है। और इस विधान ने यह निश्चित किया कि जी. डी. बाबू एक साथ राजा की तरह भी रहें और योगी की तरह भी। उनके देहान्त के बाद बार-बार उन्हें 'एम्पायर बिल्डर'—साम्राज्य निर्माता कहा गया। औद्योगिक विस्तार की तुलना साम्राज्य से करना आधुनिक पत्रकारिता का एक मुहावरा है लेकिन एकदम निराधार नहीं है। औद्योगिक-साम्राज्य के संचालक को लगभग वैसे ही चलना पड़ता है जैसे राजा को।

"न भी रहे तो कोई बात नहीं
आत्मा पर होता आघात नहीं"

इसी प्रकार वह सेवा से प्रसन्न तो होते थे लेकिन सन्तुष्ट नहीं होते थे। सेवा का एक ही स्वरूप उन्हें सन्तुष्ट करता था, सेवा का उदात्त रूप अर्थात् भाव-सेवा। और यदि कोई भाव-सेवा कर देता तो वह उसे अपने निकट कुछ क्षणों के लिए सखा के रूप में भी स्वीकार करने की उदार और विशाल दृष्टि का प्रमाण देते थे। वह यदि किसी से वैचारिक स्तर पर मतभेद रखते थे तो इसके नाते विभिन्न विचार रखने वाले को वह व्यक्ति के रूप में कम नहीं तोलते थे। वह व्यक्तित्व को भी स्थूल लक्षणों से नहीं परखते थे, उसका उदात्तीकरण करके, उसके अन्तर्निहित सूक्ष्म स्वरूप का विश्लेषण और अनुभूति करके उसे एक आकार देते थे और इस आकार से ही अपने सम्बन्ध बनाते थे।

उदात्तीकरण की यह प्रक्रिया ही उनके संयम का सही चरित्र समझने में सहायक होती है। जैसा कि सर्वविदित है,वह यौवनावस्था में ही विधुर हो गये। लेकिन क्या उनमें एक सामान्य मनुष्य की वे आकांक्षाएं नहीं थीं जो उन्हें इतना लम्बा जीवन बिना सहधर्मिणी के बिताने के संकल्प से विरत करे? निश्चय ही अपनी दिवंगत पत्नी के प्रेम ने भी उन्हें इसके विपरीत जाने से रोका। लेकिन फिर भी यह कहना तो सम्भव नहीं है कि अकेलेपन में उन्हें कोई अतिरिक्त रुचि जागृत हो गयी थी या वह सुख या विलास के सिद्धान्ततः विरुद्ध हो गये थे, गृहस्थ न रहकर विरागी हो गये थे। उन्होंने गृहत्याग करके भी देख लिया था और पुनः घर हीं लौटना उन्हें रुचिकर लगा। गृहत्याग में उन्हें अपना हल नहीं मिला। तो फिर इसका उन्होंने क्या हल निकाला?

हम पाते हैं कि उन्होंने अपने स्वभाव के अनुरूप ही अपनी प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण कर दिया, स्थूल का सूक्ष्म में रूपान्तरण किया, कला की ओर बढ़े, संगीत की ओर बढ़े, और सबसे बढ़कर कर्म की ओर बढ़े। कभी-कभास यह कहा जाता है कि वे 'वर्कोह लिक' थे—कर्म को नशे की तरह स्वीकार करने वाले। इस उपमा में यह भाव अन्तर्निहित है कि मनुष्य को मदिरा जैसे पदार्थों की ओर उन्मुख करने वाली विलासी प्रवृत्तियों को उन्होंने कर्म की ओर मोड़ा। यह केवल मदिरा से विरक्ति नहीं है, यह उन प्रवृत्तियों को एक उदात्त मार्ग पर डालना है। इस प्रकार हम जी. डी. बाबू को एक साधक या योगी के रूप में जब पाने की चेष्टा करते हैं तो हम उन्हें निवृत्तिमार्गी नहीं कह सकते, विरागी नहीं कह सकते, यह कह सकते हैं कि उन्होंने योग को एक राजसी स्वरूप दिया, प्रवृत्तियों की दासता नहीं स्वीकार

उपाधि पा चुके थे, उनके छोटे भाई ब्रजमोहनजी अपने खाने-पहनने के शौक के नाते 'प्रिन्स' कहे जाते थे। जी. डी. बाबू को किसी ने राजा या राजकुमार नहीं कहा लेकिन उन्होंने राजत्व को अपनी चिन्तन विधि में बदल डाला था, आत्मसात् कर लिया था। राजत्व की स्थूलता को उन्होंने सूक्ष्मता में उदात्तीकृत कर लिया था।

स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का, उदात्तीकरण का ही एक स्वरूप यह है कि उन्होंने सीखा तो बहुतों से लेकिन अपने ही शब्दों में, "गुरू किसी को भी नहीं बनाया।" किसी का अनुसरण मात्र उन्होंने अंगीकार नहीं किया। जीवन को अपनी तरह वह जीना चाहते थे, किसी का अनुकरण करते हुए नहीं। किसी के दिखाये हुए मार्ग पर चलना तो लीक पर चलना हुआ। **'सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः'**, उदात्त पुरुष का लक्षण यह है कि उचित और अनुचित की स्वविवेक से परीक्षा करके उचित का चयन करे, दूसरे के कहने पर उचित-अनुचित स्वीकार कर लेने वाले को मूढ़ कहते हैं। दूसरे को गुरू मान लेना, दूसरे के पद्चिन्हों पर पूर्णतया चलना, किसी महान व्यक्ति से प्रभावित होने का स्थूल स्वरूप है। लेकिन किसी महान् व्यक्ति का अध्ययन और विश्लेषण करते हुए विवेकपूर्ण परिणाम पर पहुंचना उससे प्रभावित होने का उदात्त और सूक्ष्म प्रकार है। जी. डी. बाबू इस स्वरूप के पक्षधर थे।

इस सन्दर्भ में दो एक और बातें मेरे मन में आती हैं। मैंने उनके विचारों का एक काव्यानुवाद किया था जिसे उन्होंने सुना था और सहमत थे। उसमें मैंने कहा था—

"मेरा तो मेरे साथ
राख हो जायेगा।
दूसरो का दिया हुआ
जब तक वे चाहेंगे
शायद रह जायेगा।"

'मेरा' क्या है यह भी उसी कविता में कहा है, 'मेरा तो गर्वगुमान है।' तो यह उनका ही विचार था। यह अपने बाहुबल से अर्जित सम्पत्ति और कीर्ति 'मेरा' में नहीं आती, यह तो उसका स्थूल-स्वरूप है। यह सब गौण है। केवल दूसरों का दिया सम्मान ही सार तत्व है। और वह भी तभी तक स्थिर है जब तक दूसरे चाहते हैं। लेकिन इसका उदात्त स्वरूप यह है कि—

इस व्यक्तित्व के भाव-समुद्र की उत्ताल तरंगें केवल गम्भीरता और असीमता की यात्राएं ही नहीं करती थीं, छींटे और बौछार उड़ाने का भी क्रीड़ाभाव दिखलाती थीं। बालक आदित्य विक्रम को 'जनाबे आली' कह कर पत्र लिखते हुए जी. डी. बाबू के मन में कौतुकी वात्सल्य के कौन-कौन से संसार न बनते होंगे इसका अनुमान कल्पना की उड़ान की परीक्षा है। भावुकता और विनोदवृत्ति, ये ही तो दो द्वार थे उनके वज्रांग अन्तर्जगत् से बाह्य जगत् में आने के।

उन्होंने धन बहुत अर्जित किया लेकिन मुझे यह लगता है कि अगर वे इतना न भी अर्जित कर पाते तो भी उनके चरित्र में कोई मूलभूत अन्तर नहीं आता। उनका निर्माण जिस मिट्टी से हुआ था उस पर इस तरह की चीजों का कोई असर नहीं था। उनका राजत्व उनके व्यक्तित्व में था, उनके आर्थिक वैभव में नहीं। इतने लम्बे जीवनकाल में ऐसे अनेक अवसर उनके सामने आये हैं जब यह लगा कि बिड़लाओं का आर्थिक वर्चस्व क्षीण हो जायेगा, लेकिन उनके माथे पर शिकन नहीं पड़ी, न उन्होंने अपने व्यक्तित्व में कोई गिरावट आने दी। 'लाख गर्दिश आसमां को हो, जमीं होता नहीं'—वे आकाश की ऊंचाई वाले पुरुष थे, विपत्तियां कितनी भी हों, ज़मीन नहीं बन सकते थे।

अपनी जड़ों में रहना, अपने धर्म में रहना, अपनी सीमा में रहना लेकिन उस सीमा को एक व्यापक और विराट सन्दर्भ से जोड़े रहना यह जी.डी.बाबू ने सीखा था। जब महर्षि बाल्मीकि ने रामायण लिखी तो उनके सामने एक प्रश्न था 'कौन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके'—इस समय इस दुनिया में कौन है जिसके बारे में लिखा जाये ताकि लोग कुछ सीख सकें। उन्हें इस प्रश्न का उत्तर मिला भगवान श्री रामचन्द्र के चरित्र में। मैं भी साहस जुटाकर यह कहना चाहता हूं कि इस प्रश्न का उत्तर मुझे जी.डी. बाबू के जीवन में मिलता है।

व्यक्ति के जीवन की घटनायें गद्य में कही जा सकती हैं, उसका व्यक्तित्व समेटने की शक्ति गद्य में नहीं है। मैं इस क्षितिज को जहां तक भी देख पाया हूं, उसे व्यक्त करने के लिए मुझे अपनी कविता की ये पंक्तियां ही याद आती हैं जो उनके देहान्त के बाद मैंने लिखी थीं—

"युगपुरुष ही नहीं आप युग के हस्ताक्षर थे,
कर्म के अध्याय में विलक्षणतम अक्षर थे।"

की, प्रवृत्तियों को अपनी इच्छानुसार मोड़ दिया। काम, क्रोध, मद, लोभ मोह और मत्सर इन छः रिपुओं को उन्होंने जीता जरूर लेकिन इस अर्थ में नहीं कि सिर्फ अपने भीतर से निकाल फेंका बल्कि इस अर्थ में कि उनको निरस्त्र कर दिया।

इस प्रकार का चरित्र किन उपादानों से बनता है? ऊपर मैंने संस्कारों और परिवेश की चर्चा की है। परिवेश में रहन-सहन भी शामिल है। तो रहन-सहन का जी. डी. बाबू पर क्या प्रभाव पड़ा? वह गरीब घराने में पैदा नहीं हुए लेकिन ऐश्वर्य का छत्र भी उनके ऊपर नहीं ताना गया। और न ही अपनी सन्तानों के ऊपर वह छत्र उन्होंने ताना। वह अपने हर प्रिय पात्र को, स्वयं की ही तरह, केवल अपने मेरुदण्ड का आश्रय लेते देखना चाहते थे। हर क्षेत्र में उनका यही आग्रह था। सरलाजी ने मुझे बताया कि वह यह कहा करते थे कि यदि हम अपने भानजों और जंवाइयों को सीधा काम दे देंगे या करा देंगे तो हम उनको अपंग बना देंगे। और इसी शब्दावली में वह विद्यार्थी आदित्य विक्रम को पत्र में लिखते हैं, "मास्टर के रहने से आप पंगु बन जायेंगे।"

व्यक्तित्वों के जिस आकार-निर्माण की चर्चा मैंने ऊपर की है उसमें यह शरीर-सौष्ठव, यह अविकलांगता ही उनकी दृष्टि में सर्वाधिक प्राणवान तत्व थी। यह वस्तुतः 'आरोग्य' का स्थूल से सूक्ष्म में उदात्तीकरण था और जब वह बालक बसन्तकुमार को स्वास्थ्य पर ध्यान रखने के लिए पत्र में लिखते हैं, "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिए आरोग्य मूल कारण है, ऐसा संस्कृत में कहा है।" तो आरोग्य के केवल स्थूल स्वरूप की ओर ही नहीं बल्कि उसके सूक्ष्म स्वरूप की ओर बढ़ने के लिए भी प्रेरणा देते हैं। व्यक्तित्व के स्नायुओं की इस दृढ़ता में एक स्नेहार्द्र और भावुक हृदय आविष्ट था, एक पिता जो अपने बेटे के विलम्ब से घर लौटने पर उद्विग्न हो उठता था, एक प्रपितामह जो अपने प्रपौत्र के पुत्र रूप में फिर जन्म लेना चाहता था, एक पति जो कर्मयोग और ज्ञानयोग को आधी शताब्दी तक शिक्षा तथा अभ्यास के माध्यम से अपने जीवन में रचाने के सर्वांगीण प्रयास के उपरान्त भी अपनी सहधर्मिणी की छवि को उत्तरोत्तर अपने हृदय-पटल पर गहरी ही होती पाता गया। यह नारिकेल फल की तरह का व्यक्तित्व था, ऊपर से कठोर, भीतर से कोमल। और भीतर की कोमलता ने बाह्य आवरण की कठोरता पर चौथेपन तक पहुंचते-पहुंचते हावी होना प्रारम्भ कर दिया था। जमुनोत्री यात्रा के बाद तो ऐसा लगने लगा था जैसे हिमालय ने उन्हें यह सहसा स्मरण दिला दिया हो कि पर्वतराज से केवल दृढ़ता ही नहीं सीखनी चाहिये, यह भी सीखना चाहिये कि हिमखण्ड पिघलते हैं और पिघलकर नदी के रूप में लोगों तक पहुंचते हैं।